दक्षिण अफ्रिका
के
मेरे अनुभव

[प्रवासी-भाइयों की सामाजिक तथा राजनीतिक दशा का दिग्दर्शन]

लेखक—
पं० भवानीदयाल जी संन्यासी

प्रकाशक—
'चाँद' कार्यालय,
इलाहाबाद

दिसम्बर, १९२७ ई०

[प्रथम संस्करण २,०००]
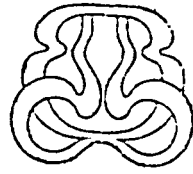
मुद्रक—

आर० सहगल,

फ़ाइन आर्ट प्रिन्टिङ्ग कॉटेज,

२८ एलिगन रोड, इलाहाबाद

उपहार

दक्षिण अफ्रीका के मेरे अनुभव

पहला परिच्छेद

गोराङ्ग-नीति का पहला अनुभव
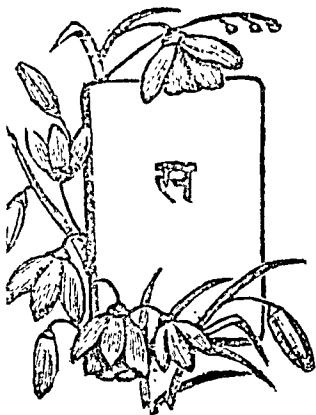
न् १९१२ ई० में पहले-पहल गोराङ्ग-नीति का मुझे जो अनुभव हुआ, उसकी दुखद स्मृति आज भी हृदय को दग्ध कर देती है। दिसम्बर की पहली तारीख़ को मैं बम्बई से जहाज़ पर बैठकर मातृभूमि की गोद से बिदा हुआ, और अफ़्रिका के तटवर्ती कई घाटों का पानी पीता हुआ २२ तारीख़ को डरबन पहुँचा। मैं अकेला नहीं था, साथ में परिवार भी था—मेरे अनुज

देवीदयाल थे, उनकी अर्द्धाङ्गिनी थीं, मेरी पत्नी जगरानीदेवी थीं और उनकी गोद में पाँच महीने का बच्चा रामदत्त भी था। इस प्रकार हम लोग छोटे-बड़े पाँच प्राणी थे।

दरबन के मनमोहक बन्दरगाह पर जहाज़ पहुँचते ही डॉक्टर, इमिग्रेशन-अफ़सर और पुलिस के दर्शन हुए। नस-नाड़ी की परीक्षा ली गई, पास-पोर्ट उगाहे गए और पुलिस का पक्का पहरा बैठ गया। बन्दरगाह में जहाज़ कुछ देर से पहुँचा था, इसलिए इमिग्रेशन वालों को यात्रियों के भाग्य का फ़ैसला करने का अवकाश नहीं मिल सका। जहाज़ पर ही सबको रात काटनी पड़ी। दूसरे दिन सबेरे सब यात्री तो उतार दिए गए, किन्तु हमारे परिवार को उस क़ैद से रिहाई न मिली।

मेरा और भाई देवीदयाल का जन्म दक्षिण अफ्रिका में ही हुआ था और हम लोग वहीं की भूमि पर बाल-क्रीड़ा के दिन व्यतीत कर चुके थे। किन्तु इससे क्या ? दक्षिण अफ्रिका के सत्ताधिकारियों की दृष्टि में हमारे जन्म-सिद्ध अधिकार का महत्व ही क्या ? अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law) के अनुसार जिसका जहाँ जन्म हुआ हो, वहाँ से उसे निर्वासित करने का अधिकार संसार की किसी भी सरकार को नहीं है, पर गोराङ्ग-नीति के सामने विश्व मर्यादा की क्या गणना ? दक्षिण अफ्रिका वाले सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं और जो कुछ कर डालें, वही थोड़ा है।

हमारे पास नेटाल का डोमीसाइल सार्टिफ़िकेट, लॉर्ड मिलनर का पीला परमिट और ट्रान्सवाल का रजिस्ट्रेशन सार्टिफ़िकेट था।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रामाणिक तथा महत्वपूर्ण काग़ज़ात थे, जिनसे हमारे वहाँ रहने का अधिकार सिद्ध होता था; किन्तु दक्षिण अफ़्रिका के अमलदारों की दृष्टि में वे सब रद्दी के टोकरे में ही जगह पाने योग्य थे। उस समय यात्रियों के भाग्य-विधाता इमिग्रेशन-अमलदार मि० कज़िन्स थे और आप भारतीयों के प्रति बुरे व्यवहार के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध हो रहे थे। आपकी कृपा से हमें भी चार दिन तक जहाज़ पर बन्दी रहना पड़ा। वे चार दिन कितने दुःख और कितनी उद्विग्नता से कटे थे, उसका स्मरण कर आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

बन्दरगाह पर जहाज़ था। हित-मित्र, सगे-स्नेही उसके पास ही खड़े थे; लेकिन क्या मजाल कि हम उनसे मिलकर बातचीत भी कर सकें। दूर से ही एक-दूसरे को देखते और आपस में आँसुओं से अभिवादन कर लेते थे। उसी जहाज़ से हमें देश वापिस जाने की आज्ञा मिल चुकी थी, इसलिए चिन्ता, उद्विग्नता और व्याकुलता की कोई सीमा नहीं थी। यदि केवल हम दोनों भाई होते, तो साहस का बाँध न टूटने पाता; किन्तु स्त्रियों और बच्चों के साथ होने के कारण रोम-रोम में दुःसह दुःख व्याप रहा था।

जब हमारे ही जन्म-सिद्ध अधिकार पर कुठार चला दिया गया, तब भारत में जन्म पाने वाली स्त्रियों और बच्चों की क्या बिसात? महात्मा गाँधी के आदेशानुसार मैंने ससराम के योरोपियन मैजिस्ट्रेट से शादी की सनद ले ली थी और उसे इमिग्रेशन अमलदार की ख़िदमत में पेश भी किया था, किन्तु उसमें त्रुटि यह रह गई थी कि

उस पर महिलाओं के अँगूठे के निशान नहीं थे। महिलाएँ भारतीय और उस पर उनके अँगूठे की छाप नदारत; फिर ऐसी सनद भी कहीं जायज़ हो सकती है? जब हमारे जन्म-सिद्ध अधिकार ही रद्द; भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक प्रमाण-पत्र भी नाजायज़, तब भला सनद की क्या गिनती, चाहे वह एक योरोपियन मैजिस्ट्रेट ही की लिखी हुई क्यों न हो और चाहे उस पर एक भारतीय अदालत की मुहर ही क्यों न लग चुकी हो।

इधर तो हमारी दुर्गति और दुश्चिन्ता की सीमा नहीं थी, और प्रतिक्षण एक युग की नाईं बीत रहा था; उधर हमारे मित्रों, हितैषियों और शुभचिन्तकों पर जो कुछ आपत्तियाँ छाई हुई थीं, उनकी करुण-कहानी सुप्रसिद्ध भारत-हितैषी मि० हेनरी एस० एल० पोलक साहब की उस चिट्ठी में पाई जाती है, जो उन्होंने दक्षिण अफ्रिका के गृह-सचिव (Minister of Interior) को लिखी थी, और जो ४ जनवरी के 'इण्डियन ओपिनियन' में प्रकाशित हुई थी। उसका आशय यहाँ दिया जाता है :—

"श्रीमान्! आप शायद यह जानते होंगे कि मैं ट्रान्सवाल सुप्रीम कोर्ट का अटर्नी और 'इण्डियन ओपिनियन' का सम्पादक हूँ। हाल ही में दरबन आने पर श्री० गाँधी (महात्मा जी) ने दो भारतीय युवक—श्री० भवानीदयाल और श्री० देवीदयाल का मामला मुझे सौंपा। इनकी स्त्रियाँ भी साथ हैं और उनमें से एक की गोद में पाँच मास का एक बच्चा भी है। ये लोग २२ तारीख़ को 'पालम कोटा' जहाज़ से दरबन पहुँचे। दयाल-बन्धुओं का जन्म

ट्रान्सवाल में हुआ है, और नेटाल में इनकी स्थायी सम्पत्ति भी है। इनसे मिलने के वास्ते मैं जहाज़ पर गया, और मुझे मालूम हुआ कि इमिग्रेशन-अमलदार मि० कज़िन्स इनके सम्बन्ध में अगले दिन कुछ फ़ैसला करेंगे।

"दूसरे दिन २३ तारीख़ को मि० कज़िन्स दिनभर अदालत की कार्रवाई में व्यस्त रहे, और बहुत देर में ऑफ़िस लौटे। उस दिन तो कोई फ़ैसला नहीं हो सका; किन्तु मैंने उसी दिन ट्रान्सवाल के एक जवाबदार और प्रतिष्ठित सज्जन का लिखित साक्षी-पत्र उनकी सेवा में उपस्थित किया, जिसमें कहा गया था कि वे व्यक्तिगत रूप से प्रार्थियों को जानते हैं और यह भी जानते हैं कि दोनों प्रार्थी ३१ मई १९०२ ई० के दिन ट्रान्सवाल में मौजूद थे। अतएव सन् १९०८ ई० के ३६ वें क़ानून के अनुसार प्रार्थियों का ट्रान्सवाल में प्रवेश करने का दावा उचित और न्याय-सङ्गत है। अस्तु—

"२४ तारीख़ को मैं फिर मि० कज़िन्स के पास पहुँचा और मुझसे कहा गया कि उन्होंने दयाल-बन्धुओं को ट्रान्सवाल में प्रवेश करने के लिए प्रार्थना-पत्र भेजने के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं किया है; और जब तक ट्रान्सवाल के एशियाटिक रजिस्ट्रार की अनुमति न मिल जायगी, तब तक वे इस विषय पर कोई भी कार्यवाही करने में असमर्थ हैं। अन्तिम घड़ी में मि० कज़िन्स ने प्रार्थियों को बड़े ही असमञ्जस में डाल दिया। ख़ैर, मैंने तुरन्त रजिस्ट्रार के पास तार भेजा, और शाम तक जवाब आगया कि वे इस प्रकार के प्रार्थना-पत्र की क़दर नहीं कर सकते। इस परिस्थिति

में मैंने सि० कज़िन्स से पुनः निवेदन किया कि ऋतु बहुत ख़राब हो गई है, और जहाज पर कोयला लदने वाला है, अतएव दयाल-बन्धुओं को मामूली ज़मानत तथा मेरी व्यक्तिगत जवाबदारी पर उतरने दिया जाय, किन्तु उन्होंने ऐसा करने से एकबारगी इन्कार कर दिया।

"रजिस्ट्रार से अधिक पत्र-व्यवहार करने के लिए यथेष्ट समय नहीं था, इसलिए मैंने सि० गुड्रिक और सि० लौटन से अनुरोध किया कि वे दयाल-बन्धुओं के सम्बन्ध में सि० कज़िन्स के निर्णय के विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट की आज्ञा प्राप्त करने की व्यवस्था करें। फिर इसी बात की सूचना देकर मैंने सि० कज़िन्स से पूछा कि वे क्रिसमस के दिन कहाँ मिलेंगे, ताकि उनके पास अदालत की आज्ञा पहुँचाई जा सके। जवाब में उन्होंने कहा कि वे उस दिन कहाँ रहेंगे, यह सर्वथा अनिश्चित है। इस उत्तर का मैंने इसलिए तीव्र प्रतिवाद किया कि प्रार्थियों की न्यायपूर्ण स्वाधीनता उनके व्यक्तिगत कार्यों की मुहताज न होनी चाहिए। इस पर मुझे प्रत्युत्तर मिला कि वे मुझसे अधिक कुछ नहीं कह सकते।

"क्रिसमस-दिवस के प्रातः मेरीत्सबर्ग के सि० जे० एस० टेथम, के० सी० ने जस्टिस ब्रूम के मकान पर पहुँचकर यह आज्ञा प्राप्त की कि प्रार्थियों को सौ पाउण्ड की ज़मानत पर उतरने दिया जाय। मेरीत्सबर्ग से ख़बर मिलने पर मैंने अपने सन्देश-वाहक द्वारा सि० टेथम का सन्देश और दरबन के महान् प्रतिभाशाली और परम प्रतिष्ठित व्यापारी पारसी रुस्तमजी का सौ पाउण्ड का

चेक ज़मानत रूप में मि० कज़िन्स के पास भेजा। पहले तो उन्होंने मेरे सन्देश-वाहक का बहुत सा समय निष्प्रयोजन ही नष्ट किया, और फिर मेरा पत्र पढ़कर भी उसे लेने से साफ़ इन्कार कर दिया तथा चेक भी लौटा दिया। मैं स्वयं नहीं जा सका था, क्योंकि इस मामले की दौड़-धूप से मेरे घुटने पर सख़्त चोट लग गई थी। इस बात की सूचना पाकर फिर मैं स्वयं ज़मानत की नक़द रक़म साथ लेकर मि० कज़िन्स के बँगले पर पहुँचा। यद्यपि मैं मि० टेथम के एजेण्ट के तौर पर काम कर रहा था, तो भी मि० कज़िन्स ने बड़े कड़े और रूखे स्वर में कहा कि मुझे उन पर अदालत की आज्ञा तामील करने का कोई हक़ नहीं है। वे ज़मानत की नक़द रक़म लेने से भी साफ़ मुकर गए और मुझे अगले दिन २६ तारीख़ को नौ बजे फिर बुलाया।

"बॉक्सिङ्ग-दिन के प्रातः ठीक समय पर मैं इस आशा से वहाँ पहुँचा कि प्रार्थियों को तत्क्षण छुट्टी मिल जायगी। आध घण्टे तक प्रतीक्षा करने के बाद मि० कज़िन्स मेरे पास आए और कहने लगे कि मि० टेथम का तार उन्हें भी मिल गया है, किन्तु अदालत की आज्ञा में ज़मानत के विषय पर कोई स्पष्टीकरण नहीं है। उनकी समझ में आज्ञा का आदेश यह है कि प्रार्थी एक बन्दी-पत्र पर हस्ताक्षर करके उतरें, पहरे के अन्दर नज़रबन्द रहें और जब तक ट्रान्सवाल के प्रवेशाधिकार के सम्बन्ध में कोई निर्णय न हो जाय, तब तक ज़मानत की रक़म से अपना ख़र्च चलाएँ। मैंने मि० कज़िन्स को बतलाया कि यह शर्त बिलकुल अनावश्यक है।

दयाल-बन्धु प्रतिष्ठित पुरुष हैं, और मैं खुद भी व्यक्तिगत रूप से उनको निश्चित समय पर हाज़िर कर देने के लिए ज़िम्मेदार होता हूँ। परन्तु मेरी बातों पर विचार करने से उन्होंने साफ़ इन्कार कर दिया। मैंने पुनर्निवेदन किया कि उनका यह कार्य ग़ैर-क़ानूनी है, और उच्च अदालत की आज्ञा के विपरीत है। यह बात मैं दयाल-बन्धुओं को भी समझा देना चाहता हूँ। इस पर मि० कज़िन्स ने कहा कि मेरी जो ख़ुशी हो, प्रार्थियों को समझा दूँ; किन्तु वे तब तक उतरने की इजाज़त नहीं देंगे, जब तक कि प्रार्थी बन्दी-पत्र पर दस्तख़त न करें या जब तक कि प्रार्थियों को बिना किसी शर्त के उतारने देने के लिए अदालत की आज्ञा ख़ुद उन्हें न मिल जाय।

"मैंने प्रार्थियों को सब बातें समझाकर यह सलाह दी कि वे बन्दी-पत्र पर हस्ताक्षर न करें। यह बात उन्होंने मान ली। फिर प्रार्थियों ने मेरे आदेश से अदालत की आज्ञानुसार ज़मानत की रक़म मि० कज़िन्स के सामने रख दी, लेकिन बन्दी-पत्र पर प्रार्थियों के हस्ताक्षर किए बिना उन्होंने ज़मानत की रक़म छूना अस्वीकार कर दिया। जहाज़ के कप्तान एक मेज़ पर पड़ी हुई ज़मानत की रक़म उठाकर मि० कज़िन्स के हवाले करने की चेष्टा करने लगे। इस पर मि० कज़िन्स बोल उठे कि कप्तान ने अपनी निजी ज़िम्मेदारी पर रक़म में हाथ लगाया है।

"जाँच करने पर मुझे यह भी मालूम हुआ कि मि० कज़िन्स ने जहाज़ के कप्तान को अदालत की आज्ञा के सम्बन्ध में

कोई सूचना नहीं दी है। मैंने तुरन्त कप्तान को सब बातें समझा दीं, और ताक़ीद कर दी कि यदि प्रार्थियों को नेटाल के किनारे से हटाया गया, तो अदालत की आज्ञा भङ्ग करने की जवाबदारी उन पर और मि० कज़िन्स पर होगी। जहाज़ खुलने का वक्त हो गया था। मि० कज़िन्स ने जहाज़ के कप्तान से कहा कि जब तक जज की विशेष आज्ञा न प्राप्त हो जाय, तब तक जहाज़ ज़रूर रुका रहेगा, और इस विलम्ब का मुख्य कारण मेरी वह सम्मति है, जो मैंने दयाल-बन्धुओं को दी है। मैंने उत्तर में निवेदन किया कि मैं वहाँ उनकी ग़ैर-क़ानूनी कार्यवाही का प्रतिवाद करने के लिए उपस्थित हुआ हूँ।

"इस पर मि० कज़िन्स बेतरह बिगड़ उठे, और प्रार्थियों को यह भय दिखाकर कि बन्दी-पत्र पर हस्ताक्षर किए बिना कदापि नहीं उतरने दिया जायगा, मुझे एक अफ़सर के पहरे के अन्दर उसी क्षण जहाज़ से चले जाने की अपमानजनक इजाज़त दी। मैं वहाँ से चुपचाप चला गया, क्योंकि मैं टेलीफ़ोन द्वारा अदालत की आज्ञा का स्पष्टीकरण कराके इस परिस्थिति का अन्त लाने के वास्ते विशेष रूप से चिन्तित था। मेरे चले जाने पर मि० कज़िन्स ने पुनः प्रार्थियों को धमकाना शुरू किया कि बन्दी-पत्र पर सही बनाए बिना उनको तथा उनकी युवती पत्नियों को देश लौट जाना ही पड़ेगा। इस भय से भीत होकर प्रार्थियों ने बन्दी-पत्र पर हस्ताक्षर बना दिए और जहाज़ से उतर कर पहरे के अन्दर इमिग्रेशन-ऑफ़िस पहुँचे

"इधर मैंने टेलीफ़ोन द्वारा मेरीत्सवर्ग के मि० टेथम को सब समाचार सुनाया, और यह भी अनुरोध किया कि वे जज से मिल-कर अदालत की आज्ञा का स्पष्टीकरण कराएँ। जैसाकि मेरा विश्वास था, जज ने तुरन्त कहा कि अदालत की आज्ञा का वह अर्थ और भावार्थ नहीं है, जो इमिग्रेशन-असलदार ने समझा है। वहाँ से हुक्म आने पर मि० कज़िन्स ने प्रार्थियों को चौदह दिन की मुलाक़ाती सनद (Visiting Pass) देकर रिहा कर दिया।

"२७ तारीख़ को मैंने मि० कजिन्स से पूछा कि वे ट्रान्सवाल के एशियाटिक-रजिस्ट्रार के एजेण्ट की हैसियत से प्रार्थियों की अर्ज़ी क़ुबूल करके वहाँ भेज दें, लेकिन उन्होंने यह बात भी मञ्ज़ूर न की। विवश होकर प्रार्थियों को स्वयं अपनी अर्ज़ी सीधे रजिस्ट्रार के पास भेजनी पड़ी।"

इसके बाद मि० हेनरी पोलक ने इमिग्रेशन-असलदार की इन कार्यवाहियों को अनेक प्रमाणों और युक्तियों से ग़ैर-क़ानूनी अन्याययुक्त और दुष्टतापूर्ण सिद्ध करके गृह-सचिव से विशेष विचार करने के लिए प्रार्थना की। मि० पोलक का पत्र बहुत बड़ा है और क़ानूनी दलीलों से भरा हुआ है। मैंने उसमें से केवल रोचक घटनाओं का ही आशय ऊपर दिया है, जिससे पाठक समझ जायँ कि मेरे जीवन के वे चार दिन कितने स्मरणीय हैं।

महात्मा जी के आश्रम में

लगभग चौदह वर्ष हुए, मैं हिन्दुस्थान के अपने घर से इस अभिप्राय से निकला था कि दक्षिण अफ्रिका पहुँचकर ख़ूब चैन की वंशी बजाऊँगा, लेकिन भविष्य की विशाल गोद में कौन-कौन सी घटनाएँ छिपी हुई हैं, उसे जान लेना मानवी-बुद्धि से बाहर की बात है। पिछले अध्याय में पाठक पढ़ चुके हैं कि कितने कष्ट और अनावश्यक ख़र्च के बाद हमारा बन्दी-मोचन हुआ। जहाज से उतरने पर जहाँ एक ओर दरबन की सुन्दर रचना; बिरिया-पहाड़ी पर बने हुए मकानों की मनमोहिनी छटा; छोटी-छोटी वाटिकाओं में लगे हुए पेड़ों और फूलों के नेत्र-रञ्जक दृश्य; सड़कों की चौड़ाई और सफ़ाई; जनता का कोलाहलमय जीवन तथा इधर-उधर का भीड़-भड़क्का देखकर हम मन्त्र-मुग्ध हो रहे थे, वहाँ दूसरी ओर एक ऐसी घटना घटी, जिससे मेरे जीवन का

नक़्शा ही बदल गया। वह घटना क्या थी—केवल एक सर्वस्व-त्यागी साधू का दर्शन!

दरबन के आसपास की सुहावनी और सौन्दर्यमयी भूमि को देखते हुए हम पिनिक्स पहुँचे। वहाँ जाकर क्या देखा कि एक त्याग और बलिदान की महान् मूर्ति लोह-चुम्बक की नाईं संसार के विलासी जीवों को सत्पथ पर चलने की प्रेरणा कर रही है। वह दूसरी कोई नहीं—सामयिक संसार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष महात्मा गाँधी की मञ्जुल-मूर्ति थी। इस साधु-पुरुष को देखते ही मैं विस्मय के अथाह सागर में डुबकियाँ लेने लगा, और अपने भावी जीवन का कार्य-क्रम तैयार करने में इतना तन्मय हो गया कि महात्मा जी को पूछना ही पड़ा—क्या सोच रहे हो?

मैंने चौंककर कहा—आज का दिन मेरे जीवन में महान् परिवर्त्तन का दिन है।

"यह क्यों?"

मैंने उत्तर में निवेदन किया—इसका सच्चा और यथार्थ उत्तर मेरा भावी जीवन ही दे सकेगा।

महात्मा जी हमें अच्छी तरह जानते थे, और हमने भी बचपन में उन्हें अनेक बार देखा था अतएव हमने मार्ग में महात्मा जी के जिस वेष-भूषा और रहन-सहन की कल्पना की थी, वह वहाँ पहुँचते ही हवा में उड़ गई। हमने सोचा था कि छोटे डील डौल के महात्मा के बदन पर बढ़िया पोशाक और सिर पर पगड़ी शोभ रही होगी, और उन्हें अपने दफ़्तर में बैठकर लिखने-पढने

के काम से दम लेने की भी फ़ुरसत न होगी; किन्तु वहाँ पहुँचकर क्या देखा कि वे नङ्गे पैर, खुले सिर, सिर्फ़ एक बहुत मोटे वस्त्र का कुर्ता और पतलून पहने हुए खेत में कुदाल चला रहे हैं। मेरे लिए यह दृश्य बिलकुल नया था। मैं बारह वर्ष की अवस्था में भारत चला गया था। वहाँ बिहार-प्रान्त के जिस देहात में मैं रहता था या जहाँ-जहाँ मैं घूम-फिर आया था, उस वातावरण के अनुसार मेरी यह धारणा हो गई थी कि अपने हाथों से कोई काम करना बड़े आदमी के लिए उचित नहीं है। यहाँ तक कि अपने हाथ से पानी ले लेना, धोती फींच लेना, घर में झाड़ू लगा देना, पाखाने से लौटकर लोटा माँज लेना, खेती-बारी में घुस आना या इसी प्रकार का और भी कोई काम कर लेना अमीरों के लिए शोभा नहीं देता। ये सब हलके दर्जे के आदमियों के ही करने योग्य काम हैं। परावलम्बी होना कितनी पापपूर्ण और नारकीय स्थिति है। उस समय इसकी कल्पना करना भी मेरे लिए कठिन था। मैं एक ऐसे ग़ुलाम देश से वहाँ गया था, जहाँ के अमीरों को टट्टी फिराने के लिए भी एक नौकर की जरूरत होती है, जो लोटे में पानी लेकर पीछे-पीछे चलता है। फिर महात्मा जी को कुदाल चलाते हुए देखकर विस्मित होना मेरे लिए क्या कोई अस्वाभाविक बात थी ?

आश्रम के सभी सदस्य प्रातः चार बजे उठकर और नित्य-कर्मों से निवृत्त होकर महात्मा जी के साथ ही खेतों पर कुदाल लेकर डटे हुए थे। ठीक आठ बजे कलेवा का समय हुआ। सब

लोग भोजन-शाला में पहुँचे। वहाँ एक लम्बी मेज़ थी और उसके चारों ओर कुर्सियाँ सजी हुई थीं। हिन्दू, मुसलमान और ईसाई सभी आकर कुर्सियों पर बैठ गए। न तो ऊँच-नीच का भेद था, और न छुआछूत का पचड़ा। मानवी-धर्म की निर्मल धारा में सभी गोता लगा रहे थे। भोजन की सादगी का क्या कहना? केवल घर की बनी हुई सूखी रोटी और खजूर का मुरब्बा था। साथ ही गेहूँ भूँनकर बनाया हुआ क़हवा (Coffee) भी था। भोजन परोसने वाले थे स्वयं महात्मा जी। इस काम में उन्हें जो आनन्द आ रहा था, उसकी गवाही उनके मुख पर झलकती हुई हँसी की रेखाएँ दे रही थीं। महात्मा जी को देखकर विलासिता रो रही थी, और आलस्य का मुँह काला हो रहा था!!

कलेवे के बाद हम आश्रम का विद्यालय देखने गए। इस विद्यालय में वे ही विद्यार्थी पढ़ते थे, जो आश्रम में नियमपूर्वक रहकर सत्याग्रह के शूर सिपाही बनने के अभिलाषी थे। उन्हें सादे जीवन और उच्च विचार (Plain living and high thinking) की शिक्षा दी जाती थी। उच्च-श्रेणी के विद्यार्थियों को महात्मा जी स्वयं पढ़ाते थे।

दोपहर को विद्यालय बन्द हुआ। भोजन का वक़्त हो गया। सब लोग रसोई-घर में पूर्ववत् आकर बैठ गए। इस बार मोटे चावल का भात और बिना मिर्च-मसाले की तरकारी खाने को मिली। इसके बाद हम लोग इन्टर-नेशनल प्रेस (International Press) में गए। यह छापाख़ाना एक विशाल भवन में है, और

यहीं से प्रवासी भारतीयों का पुराना और प्रसिद्ध पत्र 'इण्डियन ओपिनियन' मुद्रित होकर प्रकाशित होता है। महात्मा गाँधी ने संसार के सामने प्रवासी भारतीयों का दुःख प्रकट करने के लिए सन् १९०३ ई० में इस छापेखाने और समाचार-पत्र की नींव डाली थी, और इन्हें घाटा सहते हुए भी चला रहे थे। चार बजे तक प्रेस में काम होता रहा, लड़के टाइप जोड़ने (Composing) का काम सीखते थे, और महात्मा जी कुछ जरूरी लिखा-पढ़ी के काम में लगे हुए थे।

पाँच बजे प्रेस से छुट्टी हुई। सबके सब मजदूरों के वेश में कुदाल लिए हुए खेतों पर जा पहुँचे, और मिट्टी कोड़ने, घास छीलने, बीज बोने, खेत निराने और कलियों की कलमी करने का काम बड़ी मुस्तैदी से होने लगा। आश्रम-प्रवासियों के परिश्रम के फल-स्वरूप यहाँ अनार, अनन्नास, आम, अञ्जीर, नींबू, नारङ्गी, सेव, स.ताफल, केला, पपीता आदि का हरा-भरा बाग़ लग गया था। खेतों में आलू, बैंगन, लौकी, कद्दू, भिण्डी, गोभी बिन्स, मटर, मकई इत्यादि अनेक प्रकार की चीज़ें पैदा होती थीं, और रङ्ग-रङ्ग के फूलों की शोभा तो बयान से बाहर है।

शाम को दीपक जलने से पहले ही भोजन कर लेने का नियम था। कुछ लोग सलोना खाते और कुछ लोग अलोना। महात्मा जी केवल फलाहार करते। रात को भगवद्भजन होता। महात्मा जी गीता या रामायण पढ़कर उसका गूढ़ार्थ श्रोताओं को बतलाते। इसके बाद बड़े विद्यार्थियों को कुछ पढ़ाकर छुट्टी

दे दी जाती, और लगभग दस बजे रात को सोने का अवकाश मिलता।

आश्रम के वातावरण में महात्मा जी के व्यक्तित्व की ऐसी छाप लगी हुई थी कि नीच प्रकृति के लड़के भी सदाचार की सीढ़ी पर चढ़ गए थे। आज न वह आश्रम है, और न उसके वे प्रवासी ही। महात्मा जी के सत्सङ्ग से पृथक् होते ही कुछ लड़के, जिनमें से दो-एक को मैं अच्छी तरह जानता हूँ, पक्के दुराचारी, व्यभिचारी, मांसाहारी और शराबी बन गए हैं। ऐसा होता ही है। समुद्र-मन्थन से जहाँ एक ओर अमृत निकला, वहाँ दूसरी ओर हलाहल भी।

इस आश्रम की कुल सम्पत्ति की क़ीमत ५१३० पाउण्ड ४ शिलिङ्ग ५ पेनी थी, जिनमें १०८७ पाउण्ड १० शिलिङ्ग ३ पेनी की ज़मीन, १५३५ पाउण्ड १४ शिलिङ्ग १ पेनी के मकानात, १५४८ पाउण्ड १ शिलिङ्ग का छापाख़ाना और उसका सामान, ३०७ पाउण्ड ७ शिलिङ्ग १० पेनी का छापेख़ाने का स्टॉक, ६०० पाउण्ड १८ शिलिङ्ग ३ पेनी का पुस्तक-विभाग और ५० पाउण्ड १३ शिलिङ्ग की पाठशाला और पुस्तकालय की पुस्तकें थीं।

इस आश्रम को बनाकर महात्मा जी ने एक ट्रस्ट के अधीन कर दिया था। इसके ट्रस्टी श्री० उमरहाजी अहमद जवेरी, श्री० पारसी रुस्तमजी, मि० एच० केलन बेक, मि० एल० डबल्यू० रीच और श्री० प्राणजीवन जगजीवन महता थे। महात्मा जी ने अपने लिए केवल दो बीघा खेत और एक घर रक्खा था, और प्रेस में काम करके

अधिक से अधिक पाँच पाउगड मासिक ले सकते थे। उनका देहान्त हो जाने के बाद यह रक़म उनकी पत्नी श्रीमती कस्तूरीबाई तथा छोटे-छोटे दो बच्चों (रामदास और देवदास) को तब तक मिल सकती, जब तक कि वे २१ वर्ष के न हो जाते। बालिग़ होने पर यह रक़म पाने के वे भी हक़दार न रहते।

उस समय आश्रम में श्री० छगनलाल गाँधी, श्री० मगनलाल गाँधी, मि० ए० एच० वेस्ट इत्यादि अनेक सज्जन सपरिवार रहते थे। विद्यार्थियों की अच्छी संख्या थी, जिनमें गुजराती और मद्रासियों के सिवाय बिहार के भी दो बच्चे थे। सफ़ाई का बहुत ख़याल रक्खा जाता था। जब महात्मा जी स्वयं पाख़ाना साफ़ करते थे, तब फिर दूसरे की मजाल ही क्या? जाड़े के दिनों में भी रात को सब लोग बाहर ही सोया करते थे, ताकि शुद्ध वायु के सेवन से उनका स्वास्थ्य सुखप्रद बना रहे।

गोराङ्ग-नीति के अत्याचार की भट्ठी में जले हुए मेरे हृदय को यहाँ बड़ी शान्ति मिली और कुछ समय के लिए सारा दुःख भूल गया। अगले दिन हम महात्मा जी का आशीर्वाद लेकर आश्रम से विदा हुए।

भूल पर पश्चात्ताप
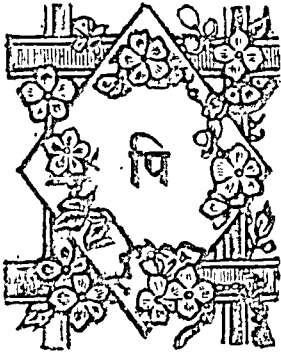
निक्स से रवाना होकर हम सिकौलेक (Sea-cow-lake) पहुँचे। यह स्थान दरबन से सात मील की दूरी पर है। यहाँ मेरी बहिन राजदेवी रहती थीं। हम अपनी माता की तीन सन्तानें थीं, जिनमें राजदेवी बड़ी थीं; मैं मँझला था और देवीदयाल सबसे छोटे थे। बहिन का विवाह बोअर-युद्ध के समय श्री० कुञ्जबिहारीसिंह के साथ हो गया था, उनके एक बालक भी था। बच्चे का नाम तो था जगन्नाथ, पर लोग प्यार से उसे 'पापा' कह-कर पुकारते थे। बहिन के घर ठहरने पर मुझे आस-पास के बहुत से हिन्दू-नवयुवकों से मिलने का मौक़ा मिला; और उनके सामाजिक विचारों में आशाजनक परिवर्त्तन देखकर मुझे यह निश्चय हो गया कि मैं एक लज्जाजनक भूल कर बैठा हूँ। मेरा हृदय पश्चात्ताप की ज्वाला से दहक उठा। भूल मालूम हो जाने पर मुझे जो ग्लानि उत्पन्न होती हुई, उसे लिखकर बताना कठिन

है। पाठकों को यह भूल बतलाने के लिए मुझे चार मास पहले की एक कहानी लिखनी पड़ेगी।

दक्षिण अफ्रिका जाने से पूर्व मैंने उत्तर हिन्दुस्तान के अनेक स्थानों का सैर-सपाटा किया था। जब मैं लाहौर गया, तब वहाँ मुझे "आर्य्य-गजट" के दफ़्तर में नेटाल के एक महाशय मिले। उनका नाम लाला मोहकमचन्द था। वे नेटाल में बहुत वर्षों तक रह चुके थे, और एक छोटी सी दूकान करके खमीरा-तम्बाकू बनाकर बेचा करते थे। इनका ठाट-बाट देखकर यही विदित होता था कि यह कोई बड़े भारी सौदागर हैं। लाला जी मुझे बड़े प्रेम के साथ वहाँ से आर्य-होटल में लिवा ले गए, और अपना सन्दूक खोलकर मेरे सामने काग़ज़ों की ढेरी लगा दी। उसमें अनेक रूप के अनेक पत्र थे—कुछ सभाओं की निमन्त्रण-पत्रिकाएँ थीं; कुछ समाचार-पत्रों के कटिङ्ग थे, और कुछ थीं नेटाल वालों तथा अन्य लोगों की चिट्ठियाँ लाला जी थोड़ी सी उर्दू के सिवाय हिन्दी या अङ्गरेजी बिलकुल नहीं जानते थे, और न वक्तृता देने की योग्यता ही रखते थे; किन्तु उनका दावा यह था कि जो काम योरोप वालों के लिए लूथर और एशियावासियों के लिए स्वामी दयानन्द ने किया है, वही काम नेटाल के हिन्दुओं के लिए उन्होंने भी किया है। इसके सबूत में वे भाई परमानन्द जी के पत्रों के कुछ अंश पढ़कर सुनाते थे। मैं उर्दू का एक अक्षर भी नहीं जानता था, इसलिए लाला जी जो कुछ पढ़कर सुना रहे थे, वह सही है या ग़लत, यह जान लेना मेरे लिए सम्भव न था। मुझे अच्छी तरह याद है कि

लाला जी ने भाई परमानन्द की भेजी हुई कहकर एक चिट्ठी मुझे सुनाई थी, जिसमें कहा गया था कि जो काम इटली की स्वाधीनता के लिए जोजफ़ मेज़िनी ने किया था, वैसा ही काम लाला जी ने नेटाल के हिन्दुओं के पुनरुद्धार के लिए किया है।

उस समय मैं बीस वर्ष का एक युवक था; बुद्धि अपरिपक्व थी, और संसार का बहुत थोड़ा अनुभव था। मैं लाला जी की बातों में आ गया, उनकी सत्यशीलता पर मुझे तनिक भी सन्देह नहीं रहा, और उन पर श्रद्धा भी हो गई। लाला जी ने जब देखा कि चिड़िया जाल में फँस गई है, तब उन्होंने अपना मतलब गाँठने का मन्सूबा बाँधा। उस समय दक्षिण अफ्रिका में स्वामी शङ्करानन्द जी हिन्दू-सङ्गठन का काम कर रहे थे। लाला जी उन पर सख्त नाराज़ थे, क्योंकि बार-बार प्रार्थना करने पर भी स्वामी जी ने उनको आर्थिक सहायता नहीं दी थी। लाला जी विवाह करने के लिए तीन साल से लाहौर में ठहरे हुए थे। उन्हें रुपए की बड़ी ज़रूरत थी, पर स्वामी जी इस बात की कुछ पर्वाह न करके अपने प्रचार की धुन में मस्त थे।

लाला जी ने मेरे सामने स्वामी जी की निन्दा की झड़ी लगा दी, और मुझे उकसाया कि मैं सत्य के विचार से स्वामी जी के विरुद्ध अवश्य कुछ लिखकर आर्य-जनता को सचेत कर दूँ। इस प्रस्ताव से मैं घबड़ा उठा, क्योंकि जिसके सम्बन्ध में अपनी कोई निजी जानकारी न हो, उसके प्रतिकूल केवल दूसरे के कहने के आधार पर कुछ लिख डालना बड़ी भारी धृष्टता है। यह मैं जानता था

लेकिन यह विचार टिकाऊ न हो सका, और लाला जी के प्रबल आग्रह, अनुरोध और अनुनय-विनय ने अपना रङ्ग जमा लिया। लाला जी के कथनानुसार मैंने स्वामी जी के विरुद्ध एक लेख लिखा, और वह आगरा के 'आर्य-मित्र' लाहौर की 'आर्य-पत्रिका' और बम्बई के 'गुजराती' इत्यादि पत्रों में प्रकाशित भी हो गया। कुछ पत्रों ने टिप्पणियाँ भी लिखीं। इस लेख में स्वामी जी पर जो-जो लाञ्छन लगाए गए थे, कहने की आवश्यकता नहीं कि वे सब निराधार और निर्मूल थे। उस लेख के पढ़ने पर आज भी मेरे ताप की सीमा नहीं रहती। अस्तु—

यद्यपि अब तक नेटाल में मुझे स्वामी जी से भेंट नहीं हुई थी, तो भी उनके प्रचार का फल देखकर यह निश्चय हो गया कि मुझसे अक्षम्य भूल हो गई है। स्वामी जी योरोप होते हुए सन् १९०८ ई० में नेटाल पहुँचे थे। यहाँ आकर उन्होंने देखा कि हिन्दुओं की बड़ी दुर्गति हो रही है; न उनका कोई रक्षक है और न पथ-प्रदर्शक ही। वे मशीन के पुर्जों की तरह इधर-उधर बिखरे हुए हैं, और अन्य जातियों की पद-रज से मलीन होते जाते हैं। अतएव स्वामी जी ने हिन्दू-सङ्गठन का आन्दोलन उठाया। दक्षिण अफ्रिका के भिन्न-भिन्न स्थानों में जाकर चार सौ व्याख्यान दिए, सात सौ यज्ञोपवीत और ढाई सौ हवन कराए। मुख्य-मुख्य नगरों में वैदिक-धर्म-सभाओं की स्थापना की और नवयुवकों के लिए भी कई संस्थाएँ खोलीं। मेरीत्सबर्ग में वैदिक आश्रम बना और हिन्दुओं को व्यापारिक शिक्षा देने के लिए नेटाल इण्डियन ट्रेडर्स क़ायम

हुआ। सबसे मार्के की बात यह हुई कि मेरे पहुँचने से सात मास पहले स्वामी जी की ही अध्यक्षता में साउथ अफ्रिकन हिन्दू-कॉन्फ़रेन्स हुई थी, जिसमें दक्षिण अफ्रिका भर के हिन्दू-प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। इसी परिषद् में हिन्दू-महासभा भी स्थापित हो गई थी।

आज भारत में हिन्दू-सङ्गठन का कार्य बड़े महत्व का समझा जाता है, पर उस समय इसकी कहीं कुछ चर्चा भी नहीं थी इस काम में लोगों को फूट का बीज दिखाई पड़ता था, इसलिए स्वामी जी पर आक्षेपों की बौछारें हुआ करती थीं। सन् १९१२ ई० में वहाँ हिन्दू-महासभा क़ायम हो गई थी, और भारत में उसके बाद बनी है। दिल्ली का अधिवेशन महासभा का शायद दसवाँ अधिवेशन था, किन्तु यदि वहाँ की महासभा जीवित रहती, तो आज उसका पन्द्रहवाँ अधिवेशन हो सकता। इसीमें हिन्दू-धर्म के प्रेमी सज्जन स्वामी जी के दूरदर्शिता-पूर्ण कार्यों का अनुमान कर सकते हैं।

मैं एक हिन्दू था, अतः हिन्दुओं का उत्कर्ष देखकर उत्फुल्ल होना स्वाभाविक ही था। नवयुवकों में वैदिक-धर्म पर भक्ति, सन्ध्या-हवन में श्रद्धा, त्योहारों पर निष्ठा, परस्पर नमस्ते का व्यवहार, अपनी सभ्यता पर अभिमान, हिन्दी-भाषा की ओर रुचि, मातृभूमि के उज्ज्वल भविष्य में अटल विश्वास, सभा-समितियों में प्रेम, कुरीतियों से घृणा इत्यादि शुभ-परिवर्त्तन देखकर कौन हिन्दू-हृदय आनन्द से विह्वल न हो उठता? नेटाल के जो हिन्दू अर्द्ध-मुसलमानी और अर्द्ध-क्रिस्तानी रस्मोरिवाज के शिकार बने

हुए थे, उनमें धर्मानुराग भरकर अपने पैरों पर खड़ा कर देना कोई सहज काम नहीं था। स्वामी जी ने हिन्दू-महासभा के झण्डे के नीचे समस्त हिन्दुओं को इकट्ठा किया; उसमें आर्य-समाजी थे, सनातनी थे, जैनी थे और सभी सम्प्रदाय के हिन्दू थे। जिस नीति और पद्धति पर आज भारत की हिन्दू-महासभा काम कर रही है, वह दक्षिण अफ्रिका का हूबहू अनुकरण जान पड़ता है। अस्तु—

मैंने तुरन्त स्वामी जी की सेवा में एक पत्र भेजकर अपनी भूल स्वीकार की और उसके लिए पश्चात्ताप प्रकट किया। उत्तर में यह जानकर मनस्ताप कुछ शान्त हुआ कि स्वामी जी ने शुद्ध हृदय से मुझे क्षमा कर दिया। दक्षिण अफ्रिका में स्वामी जी से मेरी मुलाक़ात न हुई। उस समय वे ट्रान्सवाल में थे। जब मैं ट्रान्सवाल गया, तब वे केप-कलोनी को प्रस्थान कर चुके थे। वहाँ से नेटाल होते हुए सन् १९१२ ई० के प्रारम्भ में स्वामी जी भारत चले गए। उनसे मिलने की मुझे बड़ी लालसा थी, पर वह पूरी न हो सकी !!

आर्य-समाज का हौआ

स समय नेटाल में सनातन-धर्म और आर्य-समाज के नाम और काम पर बड़ा वितण्डावाद हो रहा था। एक दिन जब कि मैं एक हिन्दू-होटल में भोजन पर बैठा था, कुछ नवयुवक इकट्ठे हो गए, और यह जानना चाहा कि मैं किस धर्म का मानने वाला हूँ। मेरे यह कहने पर कि मैं वैदिक धर्मानुयायी आर्य-समाजी हूँ, कुछ तो आनन्द से उछल पड़े और कुछ के मुँह पर निराशा की झलक दिखाई पड़ी। इस युवक-मण्डल में कुछ तो आर्य-समाजी थे और कुछ सनातनी, इसलिए मेरे एक ही उत्तर ने उन पर भिन्न-भिन्न असर पैदा किया।

धीरे-धीरे यह बात चारों ओर फैल गई कि मैं एक आर्य-समाजी भूत हूँ, और आर्य-समाज का जाल फैलाने के लिए यहाँ आया हूँ। इस खबर से मेरे अनेक हितैषी और शुभचिन्तक बहुत वचलित और चिन्तित हुए। वयोवृद्ध श्री० बद्री मेरे पास दौड़े हुए

आए, और मुझे नितान्त अज्ञानी जानकर अपने सदुपदेशों से कृतार्थ करने लगे। इनके कथन का मथन यही था कि मैं आर्य-समाज से नाता तोड़ लूँ, और अपने आपको सनातनी प्रसिद्ध कर दूँ। श्री० बद्री मेरे ही जिले के रहने वाले थे, और इमिग्रेशन-मामले में मुझे आर्थिक सहायता भी दे रहे थे। मैं उनके उपकारों के बोझ से दबा हुआ था और ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहता था, जिससे उनका दिल दुखे। पर जब उन्होंने अपने भोले-भाले स्वभाव के कारण मेरे धार्मिक विश्वास में दखल देने का प्रयास किया, तब मेरी आत्मा उनके प्रस्ताव के विरुद्ध आवाज उठाए बिना नहीं रही। मैंने उन्हें आपबीती यह कथा सुनाई :—

"सोलह साल की अवस्था होने पर मेरे हृदय में धर्म की खोज पैदा हुई। हिन्दू-धर्म में कुरीतियों की भरमार देखकर मैं व्याकुल हो उठा। महान् हिन्दू-धर्म के सार्वभौमिक सिद्धान्तों का मुझे कोई पता नहीं था, और प्रचलित अच्छी-बुरी रूढ़ियों को ही मैंने धर्म समझ लिया था। मेरे सामने हिन्दू-धर्म का यही रूप था कि किसी का छुआ न खाना; श्रेष्ठता का घमण्ड करना; दलित लोगों को पशुओं से भी अधम समझना; अनेक देवताओं के अलावा पीरों और क़ब्रों को भी पूजना; वेश्याओं का नृत्य कराना और इसमें अपनी इज्जत समझना; फागुन मास में भद्दी से भद्दी गालियाँ बकना; विधवाओं को भ्रष्टकर गाँव से निकाल देना या ईसाई-मुसलमानों को सौंप आना; हट्टे-कट्टे मूर्ख ब्राह्मणों को धर्म के नाम पर भीख देना; साधुओं की सदाचारिता

न देखकर भेष की पूजा करना तथा इसी प्रकार की और भी अनेक बातें।

"मैं अपने गाँव में आने वाले साधु-सन्तों का सत्सङ्ग और सेवा खूब करता था, क्योंकि उन दिनों मेरे विचार में यही लोग हिन्दू-धर्म के सच्चे प्रतिनिधि थे। उनसे धर्म का गूढ़ाशय जानने के लिए मैंने बहुत प्रयत्न किया, पर मेरी आशा सफल न हुई। उनके नाना रूप, नाना भेष और नाना सिद्धान्त देखकर मुझे बड़ी घृणा होने लगी। योगी, वैरागी, संन्यासी, उदासी, आचारी, पौहारी, परमहंस, मौनी, उर्ध्वबाहु, नागा, कनफटा, खाकी, औघड़ इत्यादि अनेक प्रकार के साधु-महात्मा मेरे देखने में आए। वैष्णवों को शिव की निन्दा करते हुए सुना और शैवों को विष्णु को गालियाँ देते हुए। मेरे देहात में औघड़ बाबा बड़े सिद्ध साधू माने जाते थे; लेकिन उनकी स्थिति यह थी कि जब वे शराब-कबाब और गाँजा-भाँग तो अलग रहे, मल-मूत्र और मक्खियाँ तक खाकर बिना डकारे पचा लेते, तब कहीं उन्हें सिद्धि प्राप्त होती।

"गाँव के अपढ़ ज़मींदारों, किसानों और मज़दूरों की मानसिक दशा देखकर हिन्दू-धर्म के प्रति मेरी घृणा और भी बढ़ गई। गाँवों में परमात्मा के अस्तित्व का कहीं पता ही नहीं, वहाँ तो शैतान के इशारे पर लोग नाचते हैं। बुख़ार आया भूत का भय; देह में दर्द हुआ जिन्न का ज़ुल्म; पेट में पीड़ा हुई प्रेत का प्रकोप; सिर में सर्दी हुई शैतान की शरारत; बच्चा बीमार हुआ चुड़ैल की चाण्डाली; हैज़ा आया काली का कोप; चेचक हुई देवी की

दया; प्लेग फैला महारानी की माया। इसका इलाज क्या ? बस, ओझा बोलाओ, पचड़ा गाओ और प्रेतों की काउन्सिल जुटाओ।

"हिन्दुओं की यह दुर्गति देखकर एक बार मेरे दिल में यह ख़्याल भी पैदा हुआ था कि मैं ईसाई हो जाऊँ। एक पादरी साहब हाथ धोकर मेरे पीछे भी पड़े थे—ईसाई हो जाइए। ईसा की शरण में आते ही सारे पाप कट जायँगे। यीशु-ख्रीष्ट ख़ुदा का एकलौता बेटा है, उसका दामन पकड़े बिना मुक्ति पाना असम्भव है। आपको धार्मिक शिक्षा देने की व्यवस्था कर दी जायगी और उचित अवस्था पर किसी ईसाई-युवती से शादी भी। इसमें सन्देह नहीं कि ईसाइयों के धर्मानुराग, अपना मत फैलाने का उत्साह, गिरे हुए प्राणियों के उठाने की लगन, रोगियों की सेवा-सुश्रूषा के भाव, छुआछूत के भूत को भगाने की चेष्टा महिलाओं के साथ शिष्टतापूर्ण व्यवहार इत्यादि सद्गुण मेरे हृदय पर रङ्ग जमाते जाते थे और हिन्दू-धर्म की ओर से उदासीनता बढ़ती जाती थी।

"ठीक उसी समय कलकत्ता के 'वीर-भारत' पत्र में एक सनातनी भाई का लेख मेरे पढ़ने में आया। उस लेख में आर्य-समाजियों को चुन-चुनकर गालियाँ दी गई थीं और यह भी कहा गया था कि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश बनाकर देश का सत्यानाश कर डाला है। इस ग्रन्थ को पढ़ने की मुझे बड़ी इच्छा हुई और मैंने बम्बई के श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस को हिन्दी-पुस्तकों का एकमात्र विक्रेता समझकर पत्र लिखा, लेकिन वहाँ से उत्तर आया कि

सत्यार्थप्रकाश नहीं है। बहुत प्रयत्न करने पर मुझे मेरठ के पं० तुलसीराम स्वामी का पता मिला, और मैंने उनके यहाँ से वैदिक-धर्म-सम्बन्धी बहुत से ग्रन्थ मँगवाए। मुझे भली भाँति स्मरण है कि जिस दिन मैंने सत्यार्थप्रकाश का पाठ करना प्रारम्भ किया था, उस दिन खाना-पीना और सोना सब कुछ भूल गया था। इस ग्रन्थ को पढ़ते ही वह धर्म मुझे मिल गया, जिसके लिए मेरा हृदय तड़पता था।"

कहने का तात्पर्य यह कि जिस धर्म को मैंने इतने परिश्रम से पाया है और अनेक आपत्तियों से रक्षा की है, उससे मुझे संसार की कोई भी शक्ति अलग नहीं कर सकती; चाहे वह मानवी हो या दानवी। इस पर बद्री महाशय तो शान्त होकर चले गए, पर कुछ कलह-प्रिय व्यक्तियों ने मेरे विरुद्ध अपना आन्दोलन जारी रक्खा। इनमें एक रामसुन्दर पण्डित थे। यह महाशय यद्यपि अपने काले कारनामों के लिए बुरी तरह बदनाम थे और सत्याग्रह की लड़ाई में पीठ दिखाकर भाग चुके थे, तो भी आर्य-समाजी भूत से सनातन-धर्म की रक्षा करने के लिए बेतरह घबड़ा उठे। एक ओर मेरी गर्दन पर क़ानूनी तलवार की धार लटक रही थी, और दूसरी ओर पण्डित जी यह प्रचार करते-फिरते थे कि मुझको किसी भी प्रकार की सहायता देना न केवल सनातन-धर्म का अपमान है, बल्कि घोर पाप भी है। इनकी गश्ती चिट्ठी इधर-उधर दौड़ने लगी, पर समझदार सनातनियों पर जादू न चल सका !!

गोराङ्ग-नीति का नग्न-नृत्य
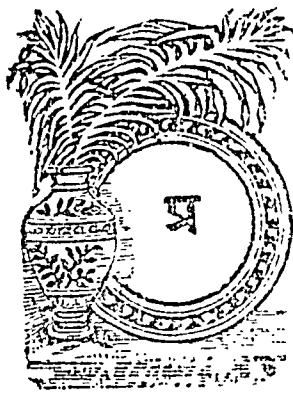
प्रथम परिच्छेद में पाठक पढ़ चुके हैं कि इमिग्रेशन-अमलदार ने हमें केवल चौदह दिन के वास्ते मुलाक़ाती सनद दी थी। दिन जाते देर नहीं लगती। धीरे-धीरे अवधि का समय सन्निकट आ गया, पर मामले का कुछ निबटारा न हुआ। आगे चलकर हमें जो हैरानी और परशानी उठानी पड़ी, उसका वर्णन मि० पोलक की उस लम्बी चिट्ठी में है, जो उन्होंने दूसरी बार गृह-सचिव (Minister of Interior) को लिखी थी। तारीख़ १५ मार्च सन् १९१३ ई० के 'इण्डियन ओपिनियन' से उसका आशय नीचे दिया जाता है:—

"मान्यवर, आपकी सेवा में एक पत्र भेज चुका हूँ, उसके बाद

दयाल-बन्धुओं पर जो कुछ बीती, इस पत्र में उसीका वर्णन किया जायगा।

"श्री० भवानीदयाल और श्री० देवीदयाल की ओर से प्रार्थना-पत्र तथा अन्य साक्षी-पत्र (Affidavits) भेजे जाने के बाद यह सूचना मिली कि नेटाल के इमिग्रेशन-अमलदार की मार्फ़त अर्जी भेजी जानी चाहिए। इधर कज़िन्स साहब ने अर्जी लेना नामञ्जूर कर दिया था, और ४ जनवरी तक अपनी हठ पर दृढ़ रहे। इससे मालूम हो सकता है कि मि० कज़िन्स ने अपनी ओर से रजिस्ट्रार को कोई ख़बर देने का भी कष्ट नहीं उठाया, और क़ानूनी कामों का सारा बोझ दयाल-बन्धुओं पर छोड़ दिया।

"६ तारीख़ को मि० कज़िन्स ने यह सन्देश भेजा कि अब वे प्रार्थियों की अर्जी मञ्जूर करने को तैयार हैं, क्योंकि उन्हें ऐसा करने के लिए आदेश मिल गया है। उसी दिन मैंने मि० कज़िन्स से भेंट की और यह निवेदन किया कि अदालत की आज्ञानुसार दयाल-बन्धुओं को १४ दिन के अन्दर कानूनी कार्यवाही करना आवश्यक है; पर बड़े दिन और नए वर्ष की तातीलों के कारण, जैसाकि अदालत का साधारण नियम है, यह मियाद ३ री जनवरी से शुरू होनी चाहिए। इस बात का मि० कज़िन्स ने कोई भी जवाब नहीं दिया। मैंने यह भी प्रार्थना की कि रजिस्ट्रार के पास अर्जी भेजने में शीघ्रता होनी चाहिए, ताकि प्रार्थियों को, यदि आवश्यक हो तो, अन्य क़ानूनी कार्यवाही करने के लिए यथेष्ट समय मिल सके।

"७ तारीख़ को जब मैंने पुनः यह प्रार्थना की कि दयाल-बन्धुओं की मुलाक़ाती-सनद (Visiting Pass) की अवधि बढ़ा दी जाय, तब यह देखकर मुझे दङ्ग रह जाना पड़ा कि कज़िन्स साहब कन्नी काट गए, और कह दिया गया कि अदालत की आज्ञा की अवधि आज समाप्त है। मैंने बलपूर्वक इस स्वेच्छाचारी निर्णय का विरोध करते हुए कहा कि कल ही प्रार्थियों की अर्ज़ी भेजी गई है, जो अभी तक रजिस्ट्रार के पास भी नहीं पहुँची है, और इस देर का मुख्य कारण उन्हीं की आलस्यपूर्ण नीति है, अतएव न्याय की दृष्टि से प्रार्थियों को और भी कुछ समय मिलना ही चाहिए; लेकिन मेरी बातों की कोई भी सुनवाई न हुई।

"अदालत की आज्ञा तो यह थी कि सौ पाउण्ड की ज़मानत लेकर प्रार्थियों को बिना किसी शर्त के उतरने दिया जाय। इस आज्ञा का ख़्याल किए बिना ही इमिग्रेशन-अमलदार ने प्रार्थियों को मुलाक़ाती सनद लेने के वास्ते मजबूर किया। हाँ, ६ तारीख़ को श्री० भवानीदयाल को, जब उन्हें अङ्गरेजी की योग्यता के आधार पर नेटाल में रहने का अधिकार गृह-सचिव (राइट आनरेबिल मि० अब्राहम फ़िशर) द्वारा स्वीकार किया गया, तो ज़मानत के दस पाउण्ड लौटा दिए गए।

"सन् १९०६ ई० के इमिग्रेशन-क़ानून की ५ वीं धारा के अनुसार प्रार्थियों के सामने बड़ी ही विकट समस्या उपस्थित हुई। मुलाक़ाती सनद की अवधि समाप्त हो जाने पर, यदि वे नेटाल में पाए जाते, तो उनकी ज़मानत ज़ब्त हो जाती। ट्रान्सवाल में प्रवेश करने के

लिए वे नेटाल की किसी भी अदालत में मामला दायर नहीं कर सकते थे और न रजिस्ट्रार का निर्णय हुए बिना ट्रान्सवाल की किसी अदालत में ही।

"प्रार्थियों ने सोचा कि उन्हें तुरन्त ट्रान्सवाल को कूच कर देना चाहिए, जहाँ उन्हें अपना दावा साबित करने के लिए काफ़ी सबूत भी मिल सकते हैं। यद्यपि वॉल्क्रस्ट में (नेटाल और टान्सवाल की सीमा पर) वर्जित प्रवासी (Prohibited Immigrants) के जुर्म में उनका पकड़ा जाना निश्चित था, तो भी इसके सिवाय उनके पास और उपाय ही क्या था? निदान दयाल-बन्धु ७ तारीख़ की रात को ट्रान्सवाल के लिए रवाना हो गए और उनकी यात्रा को सुगम बनाने तथा आवश्यकतानुसार ट्रान्सवाल की कचहरी में खड़ा होने के लिए मैं भी उनके साथ गया।

"वॉलक्रस्ट पहुँचने पर प्रार्थियों को गाड़ी से उतार लिया गया। यद्यपि मैंने यह प्रार्थना की कि प्रार्थियों को मैजिस्ट्रेट के सामने उपस्थित किया जाय; किन्तु मुझे यह बतलाया गया कि इस मामले में पहले रजिस्ट्रार का विचार जान लेना आवश्यक है। रजिस्ट्रार के पास फ़ौरन तार भेजा गया, जिसमें सारी परिस्थिति का दिग्दर्शन था, और यह भी कहा गया था कि मैं ख़ुद प्रार्थियों को साथ लेकर प्रिटोरिया आने को तैयार हूँ और वहाँ पहुँचकर विशेष सबूत भी पेश करूँगा। ८ तारीख़ को उत्तर आ गया, जिसमें पुलिस को आज्ञा दी गई थी कि यदि दयाल-बन्धु फ़ौरन नेटाल वापिस न जायँ—जहाँ इमिग्रेशन-क़ानून भङ्ग करने के अपराध में उनकी

आवश्यकता है, तो उन पर और उनकी पत्नियों पर वर्जित-प्रवासी होने का फ़ौजदारी में मुक़द्दमा चलाया जाय। इसमें एक बात बड़ी भ्रमपूर्ण थी। श्री० भवानीदयाल नेटाल के लिए वर्जित-प्रवासी नहीं थे, और दूसरों को भी रजिस्ट्रार के निर्णय तक वहाँ ठहरने का न्यायपूर्ण अधिकार था।

"मैं प्रार्थियों को साथ लेकर मैजिस्ट्रेट के सामने हाज़िर हुआ, और इस मामले की सारी कथा कह सुनाई। सब बातें सुनकर मैजिस्ट्रेट ने मेरी व्यक्तिगत ज़मानत पर प्रार्थियों को छोड़ दिया, और उनका मामला १६ तारीख़ के लिए मुल्तवी करके प्रिटोरिया की कचहरी में भेज दिया। वहाँ पहुँचकर मैंने रजिस्ट्रार के पास और भी सबूत पेश किए। १६ तारीख़ को दयाल-बन्धु अपनी युवती पत्नियों के साथ अभियुक्त-रूप में प्रिटोरिया की कचहरी में हाज़िर हुए, किन्तु उस दिन रजिस्ट्रार की सम्मति से मामला स्थगित हो गया। ३० जनवरी को पुनः उपस्थित होने पर सरकार की ओर से मुक़द्दमा उठा लिया गया, और उन्हें ट्रान्सवाल में रहने का अधिकार मिल गया।

"यहाँ मैं यह भी बतला देना चाहता हूँ कि दयाल-बन्धुओं के लाए हुए विवाह के साक्षी-पत्र को ट्रान्सवाल के रजिस्ट्रार ने स्वीकार कर लिया, जिसे नेटाल के अमलदार ने अस्वीकार किया था। इससे यह हास्यजनक स्थिति उत्पन्न होती है कि श्रीमती भवानीदयाल जब तक ट्रान्सवाल में रहेंगी, तब तक तो अधिकारियों की चपेट से सुरक्षित रहेंगी, किन्तु अपने पति के साथ

नेटाल में प्रवेश करते ही गिरफ़्तार होकर निर्वासन का दण्ड पा सकेंगी।

"इसके बाद पोलक साहब ने बड़ी-बड़ी दलीलों से यह साबित किया था कि ट्रान्सवाल और नेटाल दोनों प्रान्त के असलदारों ने हमारे प्रति जो दुर्व्यवहार किया है, वह बिलकुल बेक़ानूनी और मानवी-मर्यादा के विरुद्ध अत्यन्त निष्ठुरतापूर्ण है। फिर पोलक साहब ने मेरी प्रतिष्ठा का ज़िक्र करके सरकार से यह अनुरोध किया था कि हमें जो कुछ मानसिक और शारीरिक कष्ट हुआ, सो तो हुआ ही; पर सरकार को आर्थिक हानि की पूर्ति अवश्य कर देनी चाहिए।

"पर मामले का ख़र्च लौटाकर न्याय-प्रियता का परिचय देना तो अलग रहा, वहाँ की सरकार हमारी दी हुई ज़मानत भी हज़म कर जाने पर तुल गई। इस विषय में इमिग्रेशन-असलदार और पोलक साहब से जो पत्र-व्यवहार हुआ वह 'इण्डियन ओपिनियन' में छपा था। असलदार ज़मानत की रक़म ज़ब्त किए जाने के पक्ष में यह दलील देते थे कि अदालत की आज्ञानुसार दयाल-बन्धुओं को चौदह दिवस के अन्दर नेटाल की किसी अदालत में दावा दायर कर देना ज़रूरी था, और अदालत ने जो यह आज्ञा दी थी कि सरकार की ओर से दयाल-बन्धुओं को नेटाल से बाहर न निकाला जाय, इसका पालन ख़ुद उन्हें भी करना चाहिए था; किन्तु उन्होंने नेटाल छोड़कर अदालत की आज्ञा का अपमान किया है। पोलक साहब ने इस लाञ्छन का तीव्र प्रतिवाद किया, और बतलाया

कि अदालत की आज्ञा का ऐसा अर्थ लगाना बड़ी भारी अज्ञानता है। अदालत ने दयाल-बन्धुओं को नेटाल में रहने के लिए केवल चौदह दिन की अवधि दी थी, और उन्होंने इस अवधि के अन्दर नेटाल की सीमा पार कर वास्तव में अदालत की आज्ञा की इज्जत की है।"

हमें फिर अदालत में जाने की तैयारी करनी पड़ी; किन्तु अन्त में अधिकारियों की बुद्धि ठिकाने आ गई, और उन्होंने जमानत की रक़म लौटा दी।

लोकमत की गूँज
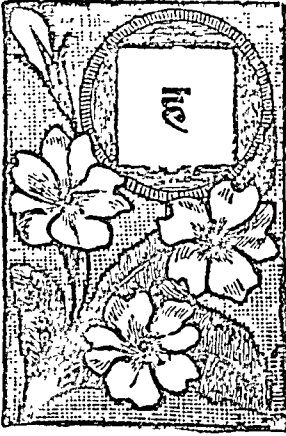
म लोग किसी प्रकार इमिग्रेशन-क़ानून के भवसागर से पार तो उतर गए, तथापि इस मामले में हमें शारीरिक और मानसिक वेदना के अतिरिक्त बड़ी भारी आर्थिक क्षति भी उठानी पड़ी। तो भी इतना सन्तोष अवश्य था कि इस बेक़ानूनी कार्यवाही से वहाँ का लोकमत प्रक्षुब्ध हो उठा था। मेरे मामले से केवल एक ही मास पहले माननीय श्री० गोपालकृष्ण गोखले यहाँ की स्थिति देखकर मातृभूमि को विदा हुए थे, और यहाँ के जवाबदार मन्त्रियों ने उनसे बड़े-बड़े वायदे किए थे, किन्तु मेरे मामले से यह सिद्ध हो गया कि हाथी के दिखाने और खाने के दाँतों में अन्तर होता है—कहने और करने में बड़ा भेद होता है। समाचार-पत्रों में इस मामले की बड़ी चर्चा हुई। विख्यात अङ्गरेज़ी दैनिक 'नेटाल

मरक्युरी' ('Natal Mercury) ने अपने ३१ दिसम्बर के अग्र-लेख में लिखा था :—

" हमने यह सोचा था कि मि० कज़िन्स से दरबन का पिण्ड छूट गया, लेकिन पिछले छः महीने तक क़ानून के अमल से नाम कमाने वाले वह साहब फिर आ गए हैं, और अपनी पुरानी प्रवृत्तियों की पुनरावृत्ति कर रहे हैं। यह बात मि० पोलक की चिट्ठी से मालूम होगी, जो अन्यत्र प्रकाशित है और जिसमें कुछ प्रवासी भारतीयों पर आई हुई आपत्तियों का वर्णन है। हम पहले भी कह चुके हैं, और फिर कहते हैं कि उनके मनमाने अमल का लाञ्छन नेटाल के मस्तक पर लगे, यह बात हम नहीं सह सकते। इस अमलदार की स्वेच्छाचारिता से भारतीय और योरोपियन दोनों वर्ग को बराबर कष्ट होता है। उनके मन में यह बात जम गई कि जनता को भारी से भारी कष्ट में डालने के ही लिए उनकी नियुक्ति हुई है, और वह भूल गए हैं कि वे निरङ्कुश बादशाह नहीं, बल्कि जनता के चाकर हैं। वे अपने सामने के मनुष्य से बात करते समय भी शिष्टता और विवेक की पर्वाह नहीं करते। इमिग्रेशन-अमलदार तो चतुर, दूरदर्शी और न्यायशील होना चाहिए। इस पद के लिए मि० कज़िन्स अन्तिम आदमी हैं, तो भी उनको यहाँ से हटाकर न जाने किस कारणवश फिर दरबन में उलझन पैदा करने के वास्ते वापिस भेजा गया है। सरकारी नौकर के सम्बन्ध में इस प्रकार से लिखना हमारे लिए बड़ा ही अप्रिय कार्य है; परन्तु जब

तक ऐसी कार्यवाही जारी रहेगी, तब तक हम लिखने में सङ्कोच नहीं करेंगे। ऐसे भी कुछ अमलदार मौजूद हैं, जो यह भूल ही जाते हैं कि वे जनता के नमकख़्वार नौकर हैं, और उस की रक्षा के लिए नियुक्त हुए हैं, न कि उसे क्रीत-दास और गिरा हुआ गुलाम समझकर कष्ट देने के लिए।'

दरबन में जहाज़ से उतरते ही २८ दिसम्बर को 'इण्डियन ओपिनियन' ने अपने मुख-पृष्ठ पर मेरे मामले का विवरण देकर लिखा था :—

"मालूम होता है कि कज़िन्स साहब फिर आ गए। माननीय गोखले ने कहा था कि इमिग्रेशन-क़ायदे पर यूनियन-सरकार उदारतापूर्वक अमल करेगी, ऐसा जनरल बोथ ने उन्हें आश्वासन दिया है ; इस वचन के पालन का तो कोई प्रमाण नहीं मिलता। अन्त में उनकी जीत होगी, मामला बिलकुल सच्चा है; पर इस सच्चाई को साबित करने के लिए उन्हें पानी की तरह पैसा बहाना पड़ेगा। क़ायदे के इस प्रकार के अमल को सरकार भले ही उदारतापूर्ण समझे, पर हम तो ऐसा नहीं समझ सकते।"

नवीन वर्ष का स्वागत करते हुए ४ जनवरी को 'इण्डियन ओपिनियन' ने फिर लिखा था:—

"दयाल-बन्धुओं का मामला ईसाइयों के नूतन वर्षारम्भ की भेंट-स्वरूप है। कोई भारतीय सबल प्रमाण रखते हुए भी निर्भयता-पूर्वक बम्बई से जहाज पर नहीं बैठ सकता। दक्षिण अफ्रिका के बन्दरगाह पर क्या गति होगी, यह चिन्ता सारी यात्रा को बिगाड़

देती है। दयाल-बन्धु अन्त में उतरे, इतने ही से हम सन्तोष नहीं कर सकते। हमारे लिए ज़रूरी तो यह है कि कोई भी भारतीय ट्रान्सवाल या केप-कॉलोनी के निवासाधिकार के आधार पर नेटाल में उतरना चाहे, तो उसे मुलाक़ाती सनद मिल जानी चाहिए। यदि वह अपना हक़ साबित न कर सके, तो पीछे लौट जाय। लौटाने की सत्ता इमिग्रेशन-अमलदार के हाथ में है ही, इसके सिवाय उसे और कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। ऐसी व्यवस्था हुए बिना प्रवासाधिकारी भारतीय भी चैन से नहीं बैठ सकते।"

इसी बीच में कज़िन्स साहब की बदली हो गई, और उनके स्थान पर मि० कोलबोर्न स्मिथ आए। मेरे मुक़दमे का संक्षिप्त विवरण देकर १० जनवरी को 'इण्डियन ओपिनियन' ने लिखा था :—

"जहाँ तक अमलदार की सज्जनता का सवाल है, जनता यह जानकर शायद ख़ुश होगी कि मि० कज़िन्स की जगह पर मि० स्मिथ आ गए हैं। वे नेटाल के एक पुराने अनुभवी अमलदार हैं, और उन्हें प्रवास-क़ानून का अच्छा ज्ञान है, तो भी जनता उनके विभाग की कार्यवाहियों को चिन्तापूर्वक देखेगी; क्योंकि यह विभाग अब प्रान्तिक नहीं, प्रत्युत यूनियन-सरकार के अधीन है। यद्यपि मि० कज़िन्स के क़ानूनी अमल पर हमें सख़्त टीका करने का दुःखपूर्ण कर्त्तव्य पालन करना पड़ा है, तो भी हम न्याय के नाते सदा यह अनुभव करते रहे हैं कि वे यूनियन-सरकार के अमलदार हैं, और उन्हें शायद अपनी इच्छा के विरुद्ध केवल सरकारी सङ्केत पर काम करना पड़ता है।"

मेरे मामले का अन्त होने पर २ फ़रवरी को 'इण्डियन ओपिनियन' ने अपने अग्र-लेख में सारी बातों की पुनरावृत्ति करके लिखा था :—

"श्री० भवानीदयाल के अनेक मित्र थे, पैसे का ज़ोर था और सबूत थे बड़े मज़बूत; पर ग़रीब की क्या गति होती और अमीर भी इतनी तकलीफ़ क्यों झेले ? हम पूछते हैं कि दयाल-बन्धुओं को अपना दावा साबित करने के लिए सुभीते क्यों नहीं दिए गए ? किसलिए सुप्रीम-कोर्ट की सहायता लेनी पड़ी ? मुलाक़ाती सनद की अवधि क्यों नहीं बढ़ाई गई ? ट्रान्सवाल में प्रवेश करते ही वर्जित-प्रवासी कहकर उन पर फ़ौजदारी का मुक़दमा क्यों चलाया गया ? यह सब तो तब होना चाहिए था, जब वे अपना हक़ साबित न कर पाते; लेकिन सरकार तो उन्हें पहले ही से गुनहगार मान बैठी, और उन्हें ख़र्च में उतारा। इसका अर्थ अत्याचार नहीं तो और क्या है ? माननीय गोखले की कमिटी को यह सब प्रश्न पूछने का अधिकार है। हमें यह भी आशा करनी चाहिए कि इस मामले की चर्चा विलायत की कॉमन्स-सभा (House of Commons) में भी उठाई जायगी।"

जब इमिग्रेशन-अमलदार मि० स्मिथ ने हमारी ज़मानत हड़प जाने की चेष्टा की थी, तब २२ फ़रवरी को 'इण्डियन ओपिनियन' ने लिखा था:—

"स्मिथ साहब अपने कारनामों से कज़िन्स साहब के भी कान कतर रहे हैं। हम यह पहले भी प्रकट कर चुके हैं कि यूनियन के सदर दफ़्तर के इशारे पर ही इमिग्रेशन-अमलदार काम कर

रहे हैं, किन्तु नीति को अमल में लाने के तरीक़े निश्चय ही असलदारों के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखते हैं। मि० स्मिथ ने इमिग्रेशन-विभाग के लिए जवाबदार मन्त्री की इच्छा-पूर्ति के निमित्त जिस पद्धति का अवलम्बन किया है, वह नितान्त खेदजनक है। आज ही के अङ्क में अन्यत्र वह पत्र-व्यवहार छपा है, जो दयाल-बन्धुओं की जमानत के सम्बन्ध में उनसे और पोलक साहब से हुआ है। जनता जाती है कि वे और उनके पूर्वाधिकारी ने इस मामले में कितना गोरखधन्धा मचाया था, और अब वे दयाल-बन्धुओं पर अदालत का अपमान करने का निर्लज्जतापूर्ण लाञ्छन भी लगा रहे हैं। मि० पोलक ने इस विस्मृति-परायण असलदार को यह स्मरण दिलाया है कि यह उन्हीं की कृपा का फल है कि मुलाकाती सनद की अवधि नहीं बढ़ी, और दयाल-बन्धुओं को अदालत की आज्ञा लिए बिना ट्रान्सवाल जाने पर बाधित होना पड़ा। यदि वे यहाँ रह जाते तो उनकी जमानत डूब जाती; और जब वे यहाँ से चले गए तब स्मिथ साहब इसलिए क्रोधित होते हैं कि अदालत की आज्ञा होते हुए भी वे यहाँ से क्यों चले गए? उनकी कार्यवाही देखकर हमें सिंह और भेड़िये के बच्चे की कथा याद आती है—सिंह ने एक भेड़ के बच्चे को खाने की ग़रज़ से उसपर यह जुर्म लगाया कि वह सोते के ऊपर क्यों पानी पीता है? लेकिन जब उसने सोते के नीचे पानी पीना चाहा, तो सिंह ने उसे अपना अहार बना डाला। स्मिथ साहब को भला दयाल-बन्धुओं की हानि की क्या पर्वाह, यद्यपि उन्हीं की करतूतों से

उन्हें भारी ख़र्च भुगतना पड़ा। दुःख है कि हमें एक अमलदार के विरुद्ध लिखना पड़ता है। उसके सम्बन्ध में हमें तब प्रसन्नता होती, जब हम उसे भले बर्ताव और भलमन्साहत के लिए बधाई दे सकते।"

इस मामले में ट्रान्सवाल ब्रिटिश-इण्डियन एसोसियेशन के सभापति श्री० अहमद मुहम्मद काछलिया ने सरकार से जो पत्र-व्यवहार किया था, वह 'इण्डियन ओपिनियन' के कई अङ्कों में प्रकाशित हुआ था। विस्तार-भय से यहाँ उसका सारांश देना भी कठिन है। उस पर टिप्पणी करते हुए 'इण्डियन ओपिनियन, ने लिखा था:—

"इस मामले में एसोसियेशन अब तक लड़ रही है। सरकार का पिछला पत्र बड़ा ही भद्दा है, और उससे साफ़ विदित हो जाता है कि न तो इमिग्रेशन-अमलदार सरकार को पूरी ख़बर ही देते हैं और न सरकार उसे जानने की इच्छा ही रखती है। अतएव सरकार ने अपने अन्तिम पत्र में जो अज्ञान अवस्था बतलाई है, वह जानकारी रखने पर देखने में न आती। सरकार यह भूल जाती है कि जो भारतीय देश से आते हैं, उनके प्रवासाधिकार के विषय में यदि अमलदार को सन्तोष न हो जाय, तो वे जहाज़ पर बन्दी ही नहीं रक्खे जाते, बल्कि देश पार कर दिए जाते हैं। सरकार समझ रही है कि ऐसे भारतीयों को जहाज़ पर नजरबन्द रक्खा जाता है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। यदि ऐसा होता, तो कष्ट और ख़र्च दोनों का बचाव हो जाता। श्री० काछलिया के पत्रों में

इस विषय पर पूरा प्रकाश पड़ा है। सरकार को निरुत्तर होना पड़ेगा, अथवा यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वह पुराने रईसों को भी तकलीफ़ देना चाहती है। इस मामले में मि० पोलक ने सरकार से ख़र्च लौटा देने के लिए याचना की है। ख़र्च मिले या न मिले, पर सरकार यह तो जान लेगी कि ऐसे अत्याचार के समाचार साम्राज्य भर में फैले बिना नहीं रहेंगे।"

लन्दन की साउथ अफ़्रिका ब्रिटिश-इण्डियन कमिटी ने २७ फ़रवरी को औपनिवेशिक उपमन्त्री (Under Secretary of State for the Colonies) के पास मेरे मामले के सम्बन्ध में एक चिट्ठी लिखी थी, और तत्सम्बन्धी सब आवश्यक काग़ज़ात भेजे थे।

उस समय पत्रों और सभाओं में मेरे मामले की जो चर्चा हुई थी, यदि वह सब इकट्ठी करके छाप दी जाय, तो एक अच्छी पोथी तैयार हो जाय। इस मामले की पूरी सामग्री मेरे प्रवासी-भवन में सुरक्षित है।

जननी और जन्मभूमि की स्नेहमयी स्मृतियाँ

प्रवास-क़ानून की बलि-वेदी पर भारी भेंट चढ़ाने के बाद जब चिन्ता और उद्विग्नता से कुछ छुट्टी मिली, तब जननी और जन्मभूमि की याद आई। इनकी स्मृतियाँ बड़ी प्यारी और मधुर होती हैं, और जहाँ दोनों की स्मृतियों का गङ्गा-जमुनी सङ्गम हुआ हो, वहाँ तो फिर पूछना ही क्या ?

मैं जोहन्सबर्ग पहुँचा। यहाँ सन् १८९२ ई० में मेरा और सन् १८९५ ई० में देवीदयाल का जन्म हुआ था। उस समय इस नगर में एक लाख बीस हजार मनुष्य बसते थे; सन् १९०४ ई० में, जब मैंने यहाँ से भारत को प्रस्थान किया था, जन-संख्या एक

लाख साठ हज़ार थी, लेकिन अब वह बढ़कर ढाई लाख से ऊपर हो चुकी थी। आबादी और रोज़गार की दृष्टि से दक्षिण अफ़्रिका के अन्य नगर भले ही कुछ दावा करें, पर वास्तव में जोहन्सबर्ग दक्षिण अफ़्रिका का प्राण है। यदि आज उसके आस-पास की सोने की खानें बैठ जायँ, तो सारा देश तबाह हो जाय। अभी तो ऐसी कोई आशङ्का नहीं है, किन्तु यदि कभी वह समय आ भी गया, तो उस समय तक जोहन्सबर्ग संसार के विशाल नगरों में एक नगर होने का दावा कर सकेगा। जोहन्सबर्ग का नाम ही 'सुनहरा शहर' (Golden City) पड़ गया है। आज भी यहाँ के मुख्य-मुख्य मुहल्लों के मकानात संसार के किसी भी शहर से टक्कर ले सकते हैं। यहाँ का म्युनिसिपल-क्षेत्र का विस्तार अस्सी मील से ऊपर है; टाउन-हॉल की लागत साढ़े चार लाख पाउण्ड है; डाकघर दो सौ फ़ीट लम्बा और उसकी मीनार १०६ फ़ीट ऊँची है; पब्लिक पुस्तकालय में पुस्तकों की ४७ हज़ार जिल्दें हैं, और इसी प्रकार वर्त्तमान युग की सभी आवश्यक वस्तुएँ यहाँ मौजूद हैं।

दक्षिण अफ़्रिका-प्रवासी भारतीयों के इतिहास में भी जोहन्सबर्ग वह स्थान रखता है, जो हिन्दुस्तान के इतिहास में चित्तौड़-गढ़। चित्तौड़ की वीर पुत्रियों ने धधकती हुई आग में कूदकर देश का मुख उज्ज्वल किया था, और जोहन्सबर्ग की स्त्रियों ने सत्याग्रह के यज्ञ में अपने शरीर और स्वास्थ्य की आहुति देकर इस सुदूर देश में भी भारत की लाज बचाई थी। दोनों की कार्य-

प्रणाली में भिन्नता हो सकती है, पर उद्देश्य में अन्तर कहाँ? जोहन्सबर्ग में ही बहुत दिनों तक महात्मा गाँधी का मुख्य कार्यालय रहा, और यहीं से सन् १९०६ ई० में सत्याग्रह की पहली शङ्खध्वनि हुई थी। यहीं पादरी डोक, किसान केलनवेक, वकील पोलक, बाल-ब्रह्मचारिणी श्लेसिन इत्यादि योरोपियन नर-नारियों ने भारतीयों की सेवा और सहायता करने के लिए महाव्रत धारण किया था, और यहीं पर भारतीयों के न्याय-पक्ष का समर्थन करने के लिए मि० विलियम होस्केन की प्रधानता में योरोपियन कमिटी क़ायम हुई थी। इसी नगर में कुमारी वेलिअम्मा, नागायन और नारायण स्वामी का जन्म हुआ था, और कठिनता से बीस वर्ष की अवस्था होते हुए भी इन्होंने सत्याग्रह के संग्राम में स्वेच्छा-पूर्वक आत्मोत्सर्ग किया था।

इसी जोहन्सबर्ग में मेरे बचपन के बारह वर्ष बीते थे। अब यह वह पुराना जोहन्सबर्ग नहीं था, इसमें बड़ा भारी परिवर्त्तन हो गया था। जहाँ जीवन में पहले-पहल मैंने सुनहरा सूरज और रूपहरा चाँद अर्थात् मङ्गल-प्रभात और सुन्दर सन्ध्या देखी थी; जहाँ माता की पुनीत गोद में बैठकर बाल-सुलभ क्रीड़ाएँ की थीं, उस जगह की खोजने पर भी कहीं निशानी नहीं मिलती थी। वहाँ एक लाख सत्ताइस हज़ार पाउण्ड लागत का मार्केट बन गया था, जो संसार के बड़े-बड़े मार्केटों में एक माना जाता है। न वहाँ परिडत आत्माराम की नागरी-पाठशाला ही थी और न श्री० एम० ए० लाला का मदरसा ही, जिनमें मैंने हिन्दी की वर्णमाला

पढ़ी थी। सेण्ट सिप्रियन स्कूल का कहीं पता नहीं था, जहाँ योरोप की कुछ पादरिन बहिनें मुझे अङ्गरेजी पढ़ाती थीं, और उन्होंने मेरा देशी नाम बदलकर 'विलियम' रख छोड़ा था। उस वेसलिन मेथोडिस्ट स्कूल का भी चिह्न नहीं मिलता था, जहाँ मैं एक हबशी मास्टर से शिक्षा पाता था। 'ट्रान्सवाल लीडर,' 'रेण्ड डेली मेल' और 'स्टार' इत्यादि अङ्गरेजी दैनिक पत्रों के दफ़्तर अवश्य थे, जहाँ से स्कूल की छुट्टियों के दिनों में अख़बार ख़रीद कर मैं फुटकर बेचा करता, और इस काम में जो कुछ लाभ होता, उसे अपनी छोटी सी लायब्रेरी के लिए पुस्तकें मोल लेने में ख़र्च किया करता था। उस मैदान का रूप बदल चुका था, जहाँ मैं फुटबाल और क्रिकेट के खेल में अपने साथी खेलाड़ियों को दङ्ग कर देता था। जहाँ मैं कूदकर महात्मा जी की गोद में बैठ जाता था, और 'इण्डियन ओपिनियन' के प्रथम प्रकाशक श्री० मदनजीत से लिखने-पढ़ने की चीजें माँगा करता था, उसका पता पाना अब असम्भव था। स्थान तो वही था, पर उसका रङ्ग-रूप बदल गया था।

जोहन्सबर्ग में घूमते समय पुरानी स्मृतियाँ एक-एक कर जाग्रत होने लगीं। ममतामयी माता मोहनदेवी का चारु चित्र आँखों के सामने आ गया। उनका वह सरल स्वभाव, वात्सल्यता से भरा हुआ हृदय, गौरवर्ण का सौन्दर्यपूर्ण मुखड़ा, दुबला-पतला शरीर, अपढ़ होने पर भी बुद्धि की प्रखरता, मातृत्व का अनुभव इत्यादि की स्मृतियों से मेरा हृदय भर आया। मुझे वह दिन याद आया, जब मैं पाँच साल का बच्चा था और पहले ही पहल स्कूल भेजा

गया था। उस समय मेरे लिए स्कूल क्या था—सचमुच बन्दीखाना था। वहाँ से मौक़ा पाते ही मैं घर भाग आता और रो-रोकर माता को अपनी दुःख-गाथा सुनाता। मुझे क्या मालूम था कि इतना लाड़-प्यार और दुलार करनेवाली स्नेहवती माता मेरे साथ वही व्यवहार करेंगी, जो एक डॉक्टर रोगी को नश्तर लगाने के लिए करता है। मुझे मार-पीटकर उसी दम स्कूल लौटाया जाता। माता की इस ताड़ना से मेरी प्रवृत्ति ही बदल गई। मुझे यह निश्चय हो गया कि न पढ़ने पर घर और बाहर—सर्वत्र निन्दा होगी, और ध्यानपूर्वक पढ़कर मैं माता-पिता और गुरु—सभी को प्रसन्न रख सकूँगा। उसी दिन से मैंने पढ़ने की ऐसी आदत डाली कि खेल-कूद के थोड़े से समय के सिवाय सारे दिन और आधी रात तक पढ़ा करता था। सन् १८९९ ई० की वह घटना भी याद आई, जब माता जी बीमार पड़ीं, फूल सा खिला हुआ मुख मुरझा गया; शरीर सूखकर काँटा हो गया, और क्षय रोग के सारे लक्षण दिखाई पड़ने लगे। उस समय भी पढ़ने-लिखने में मैं इतना मस्त हो रहा था कि माता जी की असुविधाओं का जरा भी ध्यान नहीं था। उन्हींके कमरे में बैठकर रात को १२ बजे तक लिखता-पढ़ता। जब वे बहुत गिड़गिड़ातीं—भैया-बाबू करने लगतीं, तब मैं कहीं सोने जाता। यहाँ तक कि जिस दिन माता की इस दुनिया से बिदाई होने वाली थी, उनके जीवन-दीप का प्रकाश धुँधला होता जाता था, उस दिन भी मैं छोटे भाई को साथ लेकर पढ़ने चला गया था। मैं क्या जानता था कि आज

ही मेरे मातृत्व-भण्डार का दिवाला निकलने वाला है। तीन बजे पढ़कर घर लौटा, और तुरन्त माता के पास पहुँचा। चाहे मेरे अभाग्य का कितना ही उदय क्यों न हुआ हो, पर अन्त समय माता के वन्दनीय हाथ सिर पर रखकर आशीर्वाद पाने का अधिकारी हो गया। मेरे आने पर पन्द्रह मिनिट के अन्दर ही माता की जीवन-लीला समाप्त हो गई !!

वह दिन भी स्मरण आया, जबकि माता के देहान्त के कुछ ही दिनों बाद अङ्गरेज़ और बोअरों में युद्ध छिड़ गया था, और यहाँ से नेटाल जाकर हमें तीन साल विताने पड़े थे। इस युद्ध में अपने देश की रक्षा और प्रतिष्ठा के लिए जूबर्ट, डीवेट, क्रोञ्जे, बोथा, डीवाल इत्यादि बोअर-योद्धाओं ने जो त्याग और बलिदान किया था, और गुलाम भारत की सहायता से रॉबर्ट और किचनर ने जिस प्रकार उनकी स्वाधीनता को कुचलकर ब्रिटिश-साम्राज्य का विस्तार किया था, वह सब बातें हमें भूली न थीं। सन् १९०१ ई० का वह दिन भी याद था, जब जोहन्सबर्ग पर यूनियन-जैक बड़ी शान से फहराने लगा था। उस समय हमारी वह जमीन मनमानी क़ीमत देकर जबरदस्ती छीन ली गई, जिसे प्रधान क्रूगर के बोअर-प्रजातन्त्र ने ९९ वर्ष के लिए दी थी। विधि-विडम्बना से उसी समय हमारी बस्ती में प्लेग की बीमार आ गई। हमें वहाँ से हटाकर क्लिप्सप्रुट में नजरबन्द रक्खा गया, और बस्ती आग लगाकर फूँक दी गई। यह सब बातें ऐसी हैं, जा कभी भुलाई नहीं जा सकतीं।

सन् १९०४ ई० का वह चित्र भी स्मृति-पट पर खिंच आया, जब मैं जन्मभूमि को अन्तिम नमस्ते करके मातृभूमि की ओर प्रस्थान कर रहा था। उस समय ट्रान्सवाल इण्डियन ऐसोसियेशन के सभापति की हैसियत से मेरे पिता श्री० जयरामसिंह को एक मान-पत्र मिला था, जिसमें उनकी सेवाओं की प्रशंसा करके कहा गया था :—

"ट्रान्सवाल में सन् १८८५ ई० से भारतीयों के भाग्याकाश पर दुःख की काली घटाएँ घिरने लगीं। हम यह समझ रहे थे कि यह सब बोअर-प्रजातन्त्र के कुशासन का फल है, और साथ ही बोअर-अमलदार भारतीयों के रस्मोरिवाज से अनभिज्ञ हैं। कालान्तर में हमारी सभ्यता का प्रकाश फैलने पर यह दुःख दूर हो जायगा। यह भी पक्का विश्वास था कि भारतवर्ष ब्रिटिश-साम्राज्य के अन्तर्गत है, अतएव अङ्गरेज़-सरकार से भी हमें पूरी सहायता मिलेगी। ब्रिटिश-राजदूत सर कोनिङ्गहम ग्रीन हमारी बड़ी सहायता करते थे, और हमारे अधिकार की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते थे। जब उन्हें अपने उद्योग में सफलता न मिली और भारतीयों का दुःख बढ़ता ही गया, तब उन्हें विवश होकर महारानी विक्टोरिया को ट्रान्सवाल-सरकार से युद्ध करने की सम्मति देनी पड़ी। ट्रान्सवाल पर अङ्गरेज़ी-शासन हो गया। हमें यह आशा हो चली कि हमारे कष्टों के दिन बीत गए और अब हम आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकेंगे, पर हमारी यह आशा मृग-तृष्णा सिद्ध हुई। अङ्गरेज़-अमलदार भी बोअर-शासन का विषपूर्ण प्याला पीकर

मतवाले बन गए। यही नहीं, वरन् बोअर-शासन की अपेक्षा अब हमारी स्थिति और भी असहाय हो गई। उस समय अपने अधिकारों की रक्षा के लिए हमें एक एसोसियेशन स्थापित करना पड़ा, और उसके प्रधान पद के लिए एक सुयोग्य, सत्यग्राही, स्वार्थ-त्यागी और देशाभिमानी पुरुष की आवश्यकता हुई और इस पद के लिए आपही उपयुक्त समझे गए" इत्यादि।

डरबन में कुछ दिन
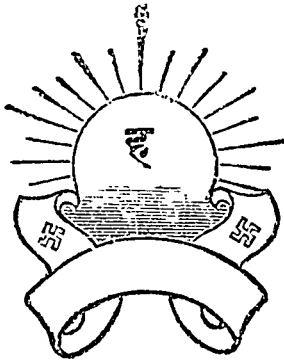
म ट्रान्सवाल के जर्मिस्टन नगर में अपने एक पुराने मित्र श्री० नन्दन के मकान पर ठहरे हुए थे। साधारण गृहस्थ होते हुए भी नन्दन महाशय ने इस विपद की घड़ी में हमारी जो सेवा और सहायता की, उसे इस जीवन में भूल जाना बड़ी भारी कृतघ्नता होगी। उस समय जर्मिस्टन के भारतीयों की अछूत बस्ती (Indian Location) अपनी जगह से हटाई जा रही थी, क्योंकि गोरों की आबादी बढ़ते-बढ़ते उसके निकट पहुँच गई थी। म्युनिसिपलिटी ने यह निश्चय कर दिया था कि भारतीयों की अछूत बस्ती कम से कम शहर से एक मील की दूरी पर, जहाँ नगर भर का मल-मूत्र फेंका जाता था, बसाई जाय। इस तुम्बाफेरी से जर्मिस्टन के भारतीय बड़े चिन्तित थे। ट्रान्सवाल में भारतीय बस्तियों की बड़ी बुरी अवस्था है। जहाँ-जहाँ भारतीय बसे हुए हैं, वहाँ से उजाड़ देने के

लिए केवल एक सरकारी या म्युनिसिपलिटी की विज्ञप्ति ही पर्याप्त है। इस अधम अवस्था की करुण-कथा सुनकर हमें क्रोध से अधीर नहीं होना चाहिए, क्योंकि हम भी अपने देश में अपने देशवासियों के—छः करोड़ दलित-बन्धुओं के साथ उससे भी भयङ्कर व्यवहार कर रहे हैं। अभी उस दिन 'नेटाल मरक्युरी' ने अपने अग्र-लेख में साफ़ लिखा था कि जिस देश में अमुक जाति के लोगों को खास-खास सड़कों पर भी चलने की आज़ादी नहीं है, और जिस देश में मनुष्यता की निर्दयतापूर्वक हत्या हो रही है, उस देश के लोग जब समानता और स्वाधीनता का राग अलापने लगते हैं, तो अफ़सोस की हँसी आती है। दक्षिण अफ्रिका में माननीय गोखले के भ्रमण के समय जोहन्सबर्ग के 'स्टार' पत्र ने एक कार्टून प्रकाशित कर यह दिखलाया था कि माननीय गोखले एक कुर्सी पर विराजमान हैं, और गृह-सचिव फ़िशर साहब उनके हाथ में एक झाड़ू देकर कह रहे हैं कि पहले आप इस झाड़ू से अपना घर साफ़ कर डालें, और अपने देश के अछूतों को मानवोचित अधिकार दिला दें, तब फिर यहाँ आकर समानता की आवाज़ उठाएँ। इसका उत्तर इसके सिवाय और क्या है कि हम लज्जा से अपना मस्तक झुका लें, अपने और अपने पूर्वजों के किए हुए इस महापाप पर हृदय से पश्चात्ताप करें और कुछ ढोंगियों के विरोध की पर्वाह न करके प्रायश्चित्त के लिए आगे बढ़ें। अस्तु

जर्मिस्टन में एक हिन्दू-मन्दिर था, इण्डियन एसोसियेशन था, हिन्दी और अङ्गरेज़ी की एक खानगी पाठशाला थी; और हाल

ही में वैदिक-धर्म-सभा की स्थापना हुई थी। इन सब संस्थाओं के सभापति और प्राण-स्वरूप श्री० लालबहादुरसिंह थे उनके व्यक्तित्व का बड़ा प्रभाव था, उनका नाम ही 'चेयरमैन' पड़ गया था और बालक से लेकर बूढ़े तक उन्हें इसी नाम से पुकारते थे। मन्दिर के पुजारी श्री० गुलाबदास थे; यह महाशय गुजरात के गुसाईं थे, और मूर्ति-पूजा की अपेक्षा 'चेयरमैन' की पूजा का अधिक ध्यान रखते थे। पाठशाला में अध्यापक थे -श्री० रामावतार लम्रवर्ती। इनके कार्य तो नहीं, पर विचार आर्य-सामाजिक थे। अतएव मुझसे समाज-सुधार पर इनकी बहुत बातें हुआ करतीं। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि मैं एक समाहिक पत्र निकालने का इरादा रखता हूँ, तब उन्होंने मुझे खूब ही हिम्मत दी, और यह निश्चय हुआ कि नेटाल से पत्र निकाला जाय। मैं उसका सम्पादक बनूँ, और लम्रवर्ती महाशय प्रबन्धक।

हम लोग मार्च सन् १९१३ ई० के प्रारम्भ में ही जर्मिस्टन से प्रस्थान कर गए। दरबन पहुँचने पर मालूम हुआ कि श्री० जी० डी० लाला के पास एक प्रेस तो है, पर हिन्दी टाइप नहीं हैं। लम्रवर्ती महाशय ने इसी प्रेस से पत्र निकालने का विचार किया। रहा हिन्दी टाइप का अभाव, वह किसी न किसी प्रकार पूरा हो ही जाता। लाला जी एक देशभक्त, शिक्षा-प्रेमी और विद्वान् पुरुष थे। उन्हें अपने बच्चों को पढ़ाने की बड़ी इच्छा थी, अतएव उन्होंने इस शर्त पर मुझे प्रेस देना मञ्जूर कर लिया कि मैं वहाँ रहकर उनके बच्चों को पढ़ाया भी करूँ। यद्यपि यह कोई बड़ी बात नहीं

थी, तो भी अनेक अनुभवी मित्रों ने मुझे यह सम्मति दी कि लग्नवर्ती महाशय से मेरी नहीं पटेगी, और कुछ ही दिनों में पत्र की बड़ी बुरी गति हो जायगी। मैंने यह सलाह मान ली। एक और प्रेस था। उसके मालिक थे श्री० आर० जी० मल्ला। मल्ला जी 'धर्म-वीर' नामक एक पत्र निकालने की अभिलाषा तो रखते थे, पर किसी कारणवश उस समय तैयार न थे। अतएव मुझे पत्र निकालने का विचार अनिश्चित समय के लिए स्थगित कर देना पड़ा।

पत्र निकालने का तो कोई प्रबन्ध नहीं हो सका, किन्तु यह अनुभव अवश्य हुआ कि कुछ धन हो जाने पर मनुष्य अपने को बुद्धि का ठेकेदार भी मानने लगता है। पिछले किसी अध्याय में यह लिखा जा चुका है कि श्री० बद्री ने किस प्रकार मुझे अपने धार्मिक विश्वास से विचलित करने का उद्योग किया था। इस बार फिर वे मेरे पीछे पड़ गए। पहले तो मुझे यह लालच दिखाया गया कि यदि मैं 'आरिया-मत' को छोड़ दूँ, तो इसके बदले में दूध पीने के लिए गाएँ और पैसे कमाने के लिए दूकान का प्रबन्ध हो जायगा। प्रस्ताव तो लाभदायक था, पर मेरी 'बाल-बुद्धि' इसे स्वीकार न कर सकी। मुझे क्रोध आ गया और मैंने स्पष्ट कह दिया कि धर्म कोई ऐसी बाज़ारू चीज़ नहीं है, जो आज ख़रीदी और कल बेची जा सके। उसका सम्बन्ध हृदय और आत्मा से है। इमिग्रेशन-मामले में मुझे पानी की तरह पैसा बहाना पड़ा था, और इसलिए मैं बद्री महाशय का क़र्ज़दार हो गया था। उस समय मुझे यह भी ज्ञात हो गया कि ऋण भी कितना भारी पातक

है। जबकि मुझसे बेलाग जवाब पाकर बद्री महाशय ने अपने क़र्ज़ का तक़ाज़ा किया। मैंने यह प्रण कर।लिया था कि चाहे जो कुछ हो, लेकिन धन के बाजार में आत्मा को नहीं बेचूँगा। कुछ नक़द और कुछ जमीन देकर मैं बद्री महाशय से उऋण हो गया।

आश्चर्य तो यह है कि इस पर भी श्री० बद्री को सन्तोष न हुआ। उन्होंने मेरी बहिन राजदेवी और बहनोई कुञ्जबिहारीसिंह पर यह दबाव डालना शुरू किया कि वे मुझे अपने घर पर न ठहरने दें, वहाँ से निकाल बाहर करें। यह प्रस्ताव कितना निष्ठुरतापूर्ण था? श्री० कुञ्जबिहारीसिंह, जो कट्टर सनातनी और क्षत्रिय-सभा के ख़ज़ाञ्ची थे, मेरे सहवास से पक्के आर्य-समाजी बन गए थे। उनकी दृष्टि ऐसी बदल गई थी कि उन्हें मेरे काम में कोई बुराई नहीं दिखाई पड़ती थी। इसलिए बद्री जी का यह वार कारगर न हो सका। फिर उन्होंने मेरे छोटे भाई देवीदयाल को यह कहकर बहकाना चाहा—अगर तुम अपने बड़े भाई से अलग न हो जाओगे, तो तुम्हारी आर्थिक हालत और भी ख़राब हो जायगी। भाई को 'आरिया-मत' की धुन लगी है, और इस धुन में वे घर की पूँजी भी फूँक-फौंक बैठेंगे। इस सदुपदेश का देवीदयाल के हृदय पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। भ्रातृ-स्नेह का सागर उमड़ आया और उत्तर मिल गया कि भ्रातृत्व की गर्दन पर छुरी चलाने का यह प्रस्ताव अत्यन्त क्रूरता और निर्दयतापूर्ण है। चारों ओर से थककर बद्री महाशय बैठ गए। सङ्कट के समय श्री० बद्री ने मेरी

जो सहायता की थी, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता; किन्तु साथ ही उनके कारनामों की कहानी भी नहीं भुलाई जा सकती।

जब तक मुझ पर मामला चलता था, तब तक तो पं० रामसुन्दर पाठक भी शेर बने फिरते थे और मेरे सम्बन्ध में टेढ़ी-सीधी बातें कहकर जनता में भ्रम फैलाते थे; किन्तु मामले का अन्त होते ही उनकी गति बदल गई। मैंने उनको एक पत्र लिखकर विचार-विनिमय के लिए आवाहन भी किया। लेकिन पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि पाठक जी मेरे सामने कभी आए ही नहीं। वास्तव में धर्मान्धता मानवी विवेक को भ्रष्ट कर देती है, और इस रोग से पीड़ित मनुष्य साधारण मर्यादा को भी तिलाञ्जलि दे बैठता है। पाठक जी से मेरी न कभी भेंट ही हुई थी और न बातचीत ही। एक-दूसरे के रहन-सहन और स्वभाव से बिलकुल अनजान थे, तो भी केवल आर्य-समाजी होने के कारण पाठक जी मेरे विरोधी बन गए थे। सच बात तो यह है कि संसार में जितने भी साम्राज्य बने और बिगड़े हैं; जो-जो खून-ख़राबियाँ हुई हैं; मनुष्य धधकती हुई आग में जलाए गए हैं; फाँसी की डोरी में लटकाए गए हैं; तलवार के धार उतारे गए हैं; तोप के गोले से उड़ाए गए हैं; दीवार में चुने गए हैं; पोर-पोर काटे गए हैं; उनमें से अधिकांश घटनाएँ धर्म के नाम पर ही हुई हैं। फिर पाठक जी का मेरे विरुद्ध आन्दोलन करना स्वाभाविक ही था। पर इनकी जो अन्तिम गति हुई, वह अत्यन्त करुणा-जनक है, और उससे उनके विपक्षियों का भी हृदय द्रवीभूत हो

उठा। पाठक जी एक भलेमानस को धोखा दे और उससे कुछ रुपए ऐंठ कर दक्षिण अफ्रिका से भागे और मोरीशस होते हुए स्वदेश पहुँचे तो सही, पर घर तक पहुँचने का सौभाग्य न हुआ। पाठक जी का यहाँ विवाह हुआ था, पत्नी थी और कई युवती पुत्रियाँ भी। इन्हें पाठक जी ने अपने भाग्य के भरोसे पर छोड़कर कूच का डङ्का बजाया था। जब वे सब अरक्षित अवस्था में दाने-दाने के लिए तरसने लगीं, तब इस कहावत के अनुसार कि 'मरता क्या न करता' उन्होंने मुसलमान होने का इरादा कर लिया। मुसलमान तो ताक-झाँक में थे ही, उन्हें दीनी-दीक्षा देने के लिए भरपूर तैयारी की गई। यह समाचार पाते ही मेरीत्सबर्ग के कुछ आर्य-समाजी मोटर लेकर वहाँ पहुँचे, और इन बहिनों के धर्म की रक्षा की। पाठक जी की पत्नी का पुनर्विवाह और उनकी पुत्रियों के भी विवाह कर दिए गए। दुनिया में मशहूर होने के लिए केवल दो ही तरीक़े हैं—एक तो नेकनामी और दूसरी बदनामी। पाठक जी पिछले तरीक़े से बहुत-कुछ प्रसिद्ध हुए। मुझे और महात्मा गाँधी को सत्याग्रह के इतिहास में भी उन्हें स्मरण करना पड़ा है।

इस बार मुझे इधर-उधर कुछ सभाओं में जाने का भी अवसर मिला। क्लेर-स्टेट की रामायण-सभा में, जो कुछ नवयुवकों के उत्साह से स्थापित हुई थी, मैंने 'होली' विषय पर पहला व्याख्यान दिया। इस भाषण में मैंने बतलाया कि इस देश की अवस्था के अनुसार त्योहार का रूप बदलना ही पड़ेगा, अन्यथा हम अन्य जातियों के सामने हँसी की सामग्री बने रहेंगे। इस भाषण की

बड़ी चर्चा हुई, और बहुत से नवयुवकों ने होली को पवित्र रूप देने का प्रण कर लिया। गाली-गलौज और कँदई-मिट्टी से लोगों को घृणा होने लगी। दूसरा व्याख्यान मैंने क्षत्रिय-वंश-सुधार सभा के नोर्थडिन के अधिवेशन में दिया, और तीसरा मेरीत्सबर्ग वैदिक-धर्म-सभा के चतुर्थ वार्षिकोत्सव पर। इन व्याख्यानों की रिपोर्ट 'नेटाल मरक्युरी' 'नेटाल एडवर्टायज़र, और 'अफ़्रिकन क्रोनिकल' में प्रकाशित हुई। सप्ताहिक 'पिक्टोरियल' पत्र में मेरा चित्र और संक्षिप्त परिचय भी छपा। इससे नेटाल में मेरी कुछ प्रसिद्धि तो अवश्य हो गई, पर मैं वहाँ अधिक ठहर न सका।
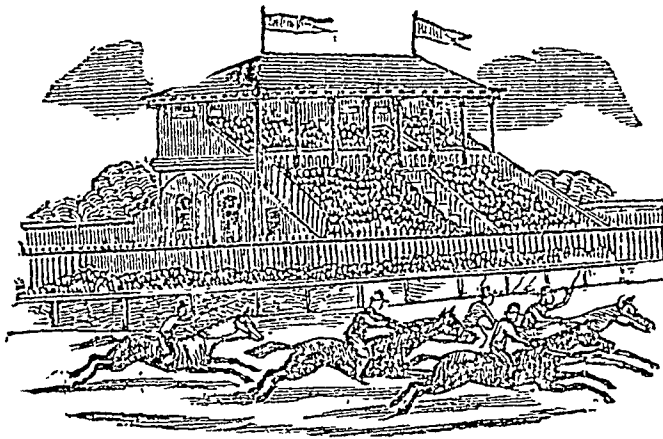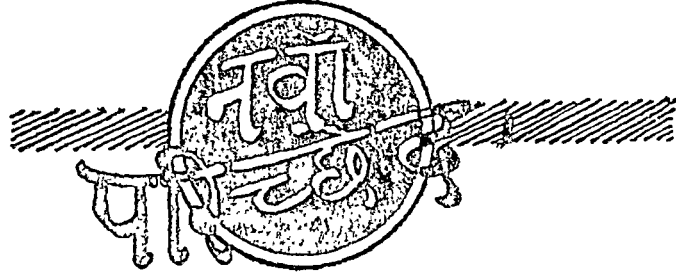
हिन्दुओं की पूर्व और तत्कालीन स्थिति
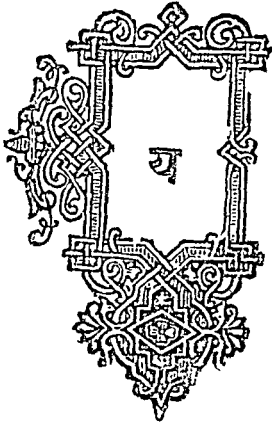
द्यपि इस बार मैं नेटाल में बहुत थोड़े दिनों तक ठहर सका, तो भी हिन्दुओं की भूत और तत्कालीन स्थिति का अध्ययन और अनुशीलन करने से न चूका। यदि उसका सार भी यहाँ दिया जाय, तो मुझे विश्वास है कि पाठकों के लिए अवश्य रुचिकर होगा, और साथ ही आगे के परिच्छेद को समझने में सहायता मिलेगी।

सन् १९११ ई० की मनुष्य-गणना के अनुसार दक्षिण अफ्रिका के डेढ़ लाख भारतीयों में १ लाख १५ हज़ार ५ सौ ८० हिन्दू हैं। इनमें अधिकांश मद्रासी और हिन्दी-भाषी हैं। गुजरातियों की संख्या भी यथेष्ट है। इने-गिने पञ्जाबी और कुछ सिन्धी हैं। शायद एक-दो मराठी और मारवाड़ी भी मिल जायँ।

सन् १८६० ई० में पहले-पहल यहाँ हिन्दुओं का आगमन हुआ। वे कैसे और क्यों आए, यह कहानी बहुत लम्बी और दुखदायी है. कलकत्ते के कुली-डिपो में ही उनके धार्मिक विश्वास पर भयङ्कर आघात किया गया। अब दशा बदल गई है, सुधार की हवा बह चली है, और लोग समझने लगे हैं कि छुआछूत एक भारी ढोंग और पाखण्ड है। किन्तु उनकी दशा की तो कल्पना कीजिए, जो गाँवों से बहकाकर लाए गए थे, और जिनका यह पक्का विश्वास था कि दूसरे का छुआ खाते ही धर्म की नौका या जाति की डोंगी डूब जायगी। उनके सामने जस्ते के बर्तनों में भोजन परसा जाना और उस पर तीससार-बाबू का बूट चढ़ाए चौके में चक्कर लगाते फिरना, उनके धार्मिक विश्वास की कैसी अवहेलना थी? इसका अन्दाज़ा वे ही लगा सकते हैं, जो भारत के गाँव-गँवई के लोगों के जीवन से परिचित हैं।

उन अभागी स्त्रियों की दशा पर ज़रा ग़ौर कीजिए, जो कभी घर के पिंजरे से बाहर नहीं हुई थीं; किन्तु जो जाति के जानवरों की अदालत से देश-निर्वासन का दण्ड पाकर या मेले-ठेले में आरकाटियों द्वारा बहकाई जाकर डिपो की नर्कपुरी में पहुँचाई गई थीं। उन्हें अपनी असली अवस्था का अनुभव होने पर दुःख से हृदय और भय से सारा शरीर काँप उठता था। पर जिस तरह क़साई के घर में बँधी हुई गाय उसकी छुरी का शिकार हुए बिना नहीं रह सकती, उसी प्रकार इस कुली-गढ से छुटकारा पाना उन अबलाओं के लिए असम्भव था।

बेचारे गाँवों में रहने वाले सरल-हृदय हिन्दुओं का वह धर्म नष्ट हो गया, जो चूल्हे-चौके में ही रमा हुआ था। डिपो के जोड़ा-जोड़ी का क्या कहना ? जात-बन्धन को चूर-चूर करने वाले सच्चे सुधारक भी विवाह के समय कन्या और वर के रूप, वय और गुण पर ध्यान देते हैं, किन्तु यहाँ तो सब धान बाईस पसेरी के हिसाब से बिक गया। बेचारों की जाति छुआछूत से ही बिगड़ गई थी, और फिर इस जोड़ा-जोड़ी की खिचड़ी ने तो और भी ग़ज़ब ढाया। रहा-सहा धर्म-भाव तो उसी समय स्वाहा हो गया, जब वे जहाज़ों पर सवार होकर रवाना हुए। लोगों ने सोचा कि धर्म तो गया ही, फिर जनेऊ को क्यों बिगाड़ें ? अतएव उसे उतार कर गङ्गा-सागर की गोद में सौंप दिया गया। कैसी अज्ञानता और कितनी आत्म-विस्मृति है ?

नेटाल आने पर उनका यह विचार और भी पक्का हो गया कि टापू में धर्म बचाना असम्भव है। यद्यपि ब्राह्मणों की भर्ती जारी नहीं थी, तो भी कुछ ब्राह्मण नाम और जाति बदलकर पहुँच ही तो गए। उनमें न धर्म का तेज था और न विद्या की झलक ही। इतना पाठ अवश्य जानते थे कि—

बाल समै रवि भक्ष लियो तब तीनहुँ लोक भयो अँधियारो

इस विद्या के प्रताप से उन्होंने हिन्दुओं को समझाया कि यही रावण का देश लङ्का है, और यही रावण के वंशज हबशी हैं। लङ्का जलाते समय हनुमान जी ने इनके भी बाल फूँक दिए थे, इसीसे इनके बालों में ऐंठन है। यहाँ हनुमान जी के सिवाय

और किसी देवता का प्रताप नहीं है। इस उपदेश का बड़ा प्रभाव पड़ा। घर-घर हनुमान जी को रोट और लाल-लँगोट चढ़ने लगे। कुछ धनवान् लोग सत्यनारायण की कथा भी सुनने लगे, और जहाँ-तहाँ रामायण का पाठ भी प्रचलित हुआ। इससे हिन्दुत्व की कुछ मर्यादा सुरक्षित तो अवश्य हो गई, किन्तु उनकी अवस्था में कोई विशेष परिवर्त्तन न हुआ।

जिन वस्तुओं को हिन्दू लोग कभी छूते तक नहीं थे, वे उनके पेट में हज़म होने लगीं। शराबख़ोरी बढ़ने लगी। स्त्रियों के पीछे मार-पीट शुरू हुई। कितने मर्द अपनी औरतों को काटकर फाँसी पर चढ़ गए, और कितनों ने आजीवन कष्ट भोगने के लिए बन्दीख़ाने में डेरा जमाया। कुली-शास्त्र के अनुसार हिन्दुओं का धर्म-सङ्गत विवाह नाजायज़ था। पुरोहित प्रोटेक्टर साहब थे, और उनका ऑफ़िस था विवाह-मण्डप। यहीं पर विवाहों की रजिस्टरी हुआ करती थी। कहीं-कहीं यह हालत थी कि एक आदमी तो धर्मानुसार विवाह करता था, और दूसरा उस कन्या को उड़ाकर प्रोटेक्टर साहब की शरण में पहुँच जाता था। वहाँ से रजिस्टरी हो जाने पर बेचारा असली पति हाथ मलने और पछताने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता था।

सबसे बड़ी हानि यह हुई कि हिन्दू अपने त्योहारों को भूल बैठे। होली, दिवाली, रामनवमी और कृष्णाष्टमी इत्यादि त्योहार विस्मृति के अँधेरे में छिप गए। कौन कब आता है, और कब जाता है—इसका कहीं कुछ पता ही नहीं था। कहीं कोई

व्यक्तिगत रूप से भले ही एकाध हिन्दू-त्योहार मना लिया करता हो, किन्तु त्योहारों का सार्वजनिक रूप कहीं दृष्टिगोचर न होता था। हाँ, हिन्दुओं के लिए सबसे बड़ा त्योहार मुहर्रम बन गया। हिन्दुओं के घर ताजिए बनने लगे, उनकी स्त्रियाँ मर्सिया गाने और इमाम साहब पर शिरनी, पञ्जे और मलीदे चढ़ाने लगीं। मुसलमान-साँइयों की खूब बन आई, और उनकी पाँचों उँगलियाँ घी में पड़ गईं। कुछ हिन्दू देह में काले, पीले, नीले इत्यादि अनेक प्रकार के रङ्ग पोतकर बाघ बन जाते, और मुहर्रम के त्योहार को अधिक आकर्षक बनाने के लिए घर-घर नाचते फिरते। अङ्गरेजों ने इसका नाम ही 'कुली-क्रिसमस' और हिन्दू-नचनियों का 'कुली-टायगर' रख दिया था। यही हिन्दुओं का मुख्य त्योहार माना जाता, और इसी अवसर पर कोठियों में कुलियों को छुट्टी भी मिलती। मजा तो यह था कि ताजिए के दाएँ-बाएँ या आगे-पीछे का बखेड़ा उठाकर हिन्दू लोग आपस में लड़ भी पड़ते थे, और हर साल कितने हिन्दुओं के सिर फूटते थे। इस विषय पर मैंने 'नेटाली हिन्दू' में विशेष रूप से लिखा है।

हिन्दुओं के लिए मृतक-दाह की कोई व्यवस्था नहीं थी। विवश होकर उन्हें क़ब्र में मुर्दे गाड़ने की रीति अङ्गीकार करनी पड़ी। बच्चों के पढ़ाने का कोई प्रबन्ध नहीं था, न स्थान-स्थान पर पाठशालाएँ थीं, और न पढ़ने के लिए यथेष्ट साधन ही। जहाँ-तहाँ पादरियों ने स्कूल खोले थे पर उनकी संख्या भी बहुत थोड़ी थी।

हिन्दुओं की इस दुरवस्था से ईसाइयों ने लाभ उठाने की पूरी चेष्टा की। उनका उत्साह प्रसिद्ध ही है, और यह सभी जानते हैं कि संसार भर के पाप बटोर कर महात्मा मसीह के माथे मढ़ने और बपतिस्मा द्वारा मोक्ष का परवाना देने की उन्हें कितनी चिन्ता होती है। केवल एक वेस्लन चर्च का शतवर्षीय विवरण यहाँ दे देना पर्याप्त होगा। रेवरेण्ड रॉल्फ़ स्कॉट, जो १८ साल सिलोन में कार्य कर चुके थे, भारतीयों में प्रचार करने के लिए आए। इन्होंने नेटाल में इस्पीङ्गो से कर्सनी तक १८ वर्ष काम किया। इसके बाद रेवरेण्ड एस० एस० स्कॉट ने यह कार्य उठाया। इन्हें जोन चूनू नामक एक भारतीय से (इनके दो रेवरेण्ड और एक स्कूल-मास्टर पुत्र अब भी मौजूद हैं) बड़ी सहायता मिली। इन्हीं के उद्योग से समुद्र के उत्तरीय तटवर्ती (North Coast) स्थानों के प्रायः सभी नैपाली हिन्दू ईसाई हो गए, और उनमें से किसी का नाम जोनसिंह पड़ा और किसी का जोजफसिंह। उधर मेरीत्सबर्ग में जॉन टामस नामक एक हिन्दुस्तानी पादरी को प्रचार का कार्य सौंपा गया। उन्होंने भी बहुत से चेले मूड़े। प्रचार में असफलता देखकर रेवरेण्ड थियोफिलस सुब्रह्मण्यिम मद्रास से बुलाए गए। फल यह हुआ कि बहुत से हिन्दू ईसा की भेड़ों की जमात में जा मिले। इस समय नेटाल में केवल एक वेस्लन पन्थ के ८ गिरजाघर और ३८ प्रचार के लिए स्थान बने हुए हैं। उनमें १ हिन्दुस्तानी पादरी, ४ एवञ्जलिस्ट, १४ उपदेशक, २१७ सदस्य और १६० सभासद होने के उम्मीदवार हैं। ८ दैनिक पाठशालाएँ हैं, जिनमें २४ अध्यापक

और ९५८ विद्यार्थी हैं। भारतीय मिशन के पास साढ़े पाँच लाख पाउण्ड जमा है, इतने ही से ईसाइयों के उद्योग का कुछ अनुमान हो सकता है।

मुसलमान तो मज़हबी जोश के लिए मशहूर ही हैं। गुजरात के कुछ मुसलमान व्यापारियों ने जब यह देखा कि इस देश में भारतीयों का नाम ही कुली पड़ गया है, तब उनको बड़ा क्षोभ हुआ। उस समय राष्ट्रीयता की लहर नहीं चली थी और मज़हब का ही उपनाम क़ौम था। इन्होंने गोरों को समझाया कि हम हिन्दुस्तानी नहीं हैं, अरबी व्यापारी हैं, और इन कुलियों से हमारा कोई नाता नहीं है। हबशियों को बतलाया गया कि हिन्दू लोग ही 'मकूला' हैं और हम लोग हैं 'सुलेमान'। आज तक गोरे लोग इन्हें 'अरब' और हबशी 'सुलेमान' कहा करते हैं। अपने इन मुसलमान भाइयों की ओर से भी हिन्दुओं को 'कोलचा' की पदवी मिली। सच पूछा जाय, तो इसमें उनका दोष भी क्या है? किसी भी स्वाभिमानी मनुष्य को कुली शब्द बड़ा ही कर्ण-कटु प्रतीत होगा। ख़ैर, नेटाल में जहाँ मुट्ठीभर भी मुसलमान बस गए हैं, वहाँ उनकी मस्जिद अवश्य खड़ी हो गई है! दरबन की ग्रे, वैस्ट और पाइन स्ट्रीट की विशाल मस्जिदें और मदरसे उनके धार्मिक उत्साह के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि बहुत से हिन्दू इस्लाम की शरण में भी चले गए।

हिन्दुओं की स्थिति बड़ी डावाँडोल हो रही थी, और प्रचलित रूढ़ियों से नवयुवकों की नफ़रत बढ़ती जाती थी। अतः

सन् १९०५ ई० में कुछ उत्साही सज्जनों के प्रयत्न से, जिनमें लाला मोहकमचन्द भी एक थे, दयानन्द एङ्ग्लो-वैदिक कॉलेज लाहौर के प्रोफ़ेसर भाई परमानन्द जी, एम० ए० वहाँ पहुँचे। यद्यपि भाई जी वहाँ केवल चार मास ठहर सके, तो भी हिन्दुओं में एक नवीन जीवन और जाग्रति का सञ्चार हो आया। विद्वान् प्रोफ़ेसर ने हिन्दुओं को यह समझाया कि वैदिक-धर्म ही सब धर्मों की जननी है, और आर्य-सभ्यता ही सब सभ्यताओं का आदिस्रोत। भाई जी ने अनेक व्याख्यान दिए और अनेक सभाएँ क़ायम कीं। मेरीत्सबर्ग हिन्दू-यङ्गमैन एसोसियेशन का वह विशाल भवन और पुस्तकालय आज भी उनका स्मरण दिला रहा है। हिन्दू-युवकों को कम से कम इतना तो विदित हो गया कि हमारा भी कोई धर्म और सभ्यता है।

भाई जी के विलायत चले जाने के बाद यहाँ के हिन्दू एक ऐसे धर्मोपदेशक की खोज करने लगे, जो उनके मध्य में कुछ दिनों तक रहकर काम करने को प्रस्तुत हो। सौभाग्य से श्री० स्वामी शङ्करानन्द जी मिल गए, जो उस समय लन्दन में थे। सन् १९०८ ई० में स्वामी जी नेटाल पधारे, और बड़े ज़ोरों से वैदिक-धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। फल यह हुआ कि ईसाइयत की ओर से हिन्दू-युवकों का ध्यान हट गया। कुछ ईसाई शुद्ध होकर वैदिक धर्म की शरण में लौट आए। मुसलमानों के लिए भी मज़हबी शिकार खेलना मुश्किल हो गया। स्वामी जी के उपदेशों का गोराङ्ग जनता पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा। नेटाल के गवर्नर सर

मेथ्यू नथन उनके मित्र बन गए। बड़ी-बड़ी सभाओं में स्वामी जी को वैदिक-धर्म पर मेघ-गर्जन करते हुए देखकर गोराङ्ग लोग मन्त्र-मुग्ध होने और मुक्तकण्ठ से हिन्दू-धर्म की प्रशंसा करने लगे। अब तक जो हिन्दुओं को कुली के सिवाय और कुछ नहीं समझते थे, स्वामी जी के भाषणों से उनकी आँखें खुल गईं। कितने गोरे नर-नारी स्वामी जी के पास प्राणायाम और योग-क्रियाएँ सीखने के लिए आने लगे। सारांश यह कि गोराङ्गों के हृदय में हिन्दू-धर्म के लिए जो नीच भावनाएँ थीं, वे दूर हो गईं और हिन्दुओं को वे प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखने लगे।

स्वामी जी के प्रयत्नों का यह फल हुआ कि हिन्दुओं ने एक नवीन जीवन में प्रवेश किया। ताज़िया-परस्ती की जगह ठाकुर जी का रथ निकलने लगा, मृतक-समाधि के स्थान पर दाह-कर्म की व्यवस्था हुई। मुहर्रम और क्रिसमस की जगह होली और दिवाली प्रचलित हुई। सन्ध्या और हवन पर लोगों की श्रद्धा जमी। ईसाई-पादरियों और मुसलमान-मौलवियों से हिन्दू-युवक टक्कर लेने लगे; और वह क्रान्ति हुई, जिसमें हिन्दुओं के उज्ज्वल भविष्य का सन्देश था। अस्तु—

उस समय स्वामी जी केप-प्रान्त में प्रचार कर रहे थे, इसलिए इच्छा होते हुए भी मैं उनसे न मिल सका, और विवश होकर ट्रान्सवाल चला गया।

धोबी का धन्धा

मिस्टन लौट आने पर मेरे सामने आर्थिक प्रश्न बड़े विकट रूप में उपस्थित हुआ। हृदय में चाहे कितना ही उत्साह और उमङ्ग क्यों न हो, किन्तु जब तक पेट भरने के लिए भोजन और अङ्ग ढँकने के लिए वस्त्र की समुचित व्यवस्था न हो, तब तक सारा समय और सारी शक्ति लगाकर सार्वजनिक कार्य करना सम्भव नहीं है।

देवीदयाल तो इधर-उधर से बोरा और बोतल ख़रीद-बेचकर कुछ कमा लिया करते थे, और उससे साधारण तौर पर खाने-पीने का खर्च चल जाता था, किन्तु वस्त्र के वास्ते भी तो कुछ चाहिए था, और वह भी दक्षिण अफ़्रिका में, जहाँ पोशाक और फ़ैशन ही सभ्यता के चिह्न समझे जाते हैं, और भारत की तरह केवल धोती पहिनकर खुले बदन शहर में घूमना इतना भारी अपराध कि पुलिस के धक्कम-धक्का के सिवाय बन्दीघर की हवा भी खानी पड़ती है।

एक तो ऐसे ही भारतीय अछूत और गन्दे समझे जाते हैं, और उस पर यदि ज़रा ठाट-बाट से न रहें, तो फिर दक्षिण अफ्रिका में बसना ही मुश्किल हो जाय। यद्यपि दरबन के निकट जेकोब्स में मेरी कुछ ज़मीन थी, पर उसे बेचकर खा जाना तो कोई पुरुषार्थ नहीं था; फिर उससे भी कितने दिनों तक निर्वाह होता।

उस समय जर्मिस्टन में श्री० लालबहादुरसिंह धोबी का धन्धा कर रहे थे। उनके पास एल्सबर्ग में एक अच्छी ज़मीन थी। जर्मिस्टन की भारतीय बस्ती में कुछ मकानात थे, जिनसे किराया वसूल होता था। गौओं के दूध से भी ख़ासी आमदनी थी, तो भी सिंह जी धोबी का धन्धा करते थे। उनके हिस्सेदार श्री० रामराज-सिंह थे, कई नौकर थे और बड़े ज़ोरों से काम होता था। यह पहला ही अवसर था, जबकि मैंने क्षत्रियों को धोबी का धन्धा करते हुए पाया। सिंह जी कट्टर सनातनी थे, और सनातन-धर्म के नाम पर लड़ मरते थे; पर किसी का छुआ खाने और किसी धन्धे से धन कमाने की नीति के क़ायल थे। सत्य बात तो यह है कि यदि भारत में धन्धों का बटवारा न हुआ होता, और इसी की बुनियाद पर ऊँच-नीच की दीवार न खड़ी हुई होती, तो आज हिन्दुओं में चार वर्ण के स्थान पर चार हज़ार जातियाँ नजर न आतीं, और न उनके भाग्य का सितारा ही अनिश्चित समय के लिए अस्त हो जाता।

श्मशान में स्वपच का धन्धा करने पर भी सत्यव्रती हरिश्चन्द्र की धार्मिकता में बट्टा नहीं लगा, और आज भी उनका नाम हमारे

लिए बड़ी श्रद्धा की वस्तु है। महाभारत के नायकों ने, जिनकी वीर-कथाएँ युग-युगान्तरों से हिन्दुओं की नस-नस में गुँथी हुई हैं और हृदय-तन्त्री के साथ गुञ्जारती रही हैं, एक समय किसी भी काम से सङ्कोच न किया था। धर्मराज युधिष्ठिर जुआरी बने थे, महावीर भीमसेन रसोइया, सहदेव पशु-पालक, नकुल सारथी और धनुर्धर अर्जुन गवैया। उनके क्षत्रियत्व में कोई अन्तर न आया, और आज इस दुर्दिन में, दुर्बलता में, विपद् में और विषाद में भी उनकी अमर-कथाएँ हमें उत्साह देतीं और मार्ग दिखाती हैं। पर विधि-विडम्बना से अब भारत में कमाकर खाने वाले तो नीच माने जाते हैं, और टुकड़ा माँगकर मौज उड़ाने वाले पूज्य। शायद ही संसार की और किसी जाति में ऐसी दुरवस्था दृष्टिगोचर हो। अस्तु—

मुझे तो किसी कार्य से घृणा थी ही नहीं। अतएव मैं सिंह जी के धोबी-घर (Laundry) में भर्ती हो गया। मुझे यह काम सौंपा गया कि मैं कपड़े उगाह लाऊँ, उन पर नम्बर लिखूँ, इस्तरी करूँ और कपड़े तैयार होने पर पहुँचा भी आऊँ। सोमवार को कपड़े उगाहने और शनिवार को पहुँचाने के लिए गाड़ी पर बैठकर शहर और शहर से बाहर दूर-दूर तक जाना पड़ता था, इसलिए गोराङ्गों के आचरण और स्वभाव का मुझे बहुत-कुछ अनुभव हो गया। धोबी के काम का मुझे अभ्यास ही कहाँ था, इसलिए इस्तरी की आँच सहने में बड़ा कष्ट होने लगा, उस पर मजा यह कि सुबह से बारह बजे रात तक काम होता ही रहता था, और

मुझे रविवार के सिवाय अन्य किसी दिन सार्वजनिक कार्य के लिए अवकाश ही नहीं मिलता था।

इसी बीच में जर्मिस्टन के नवयुवकों ने एक सभा स्थापित करने का विचार किया। युवकों की मण्डली इकट्ठी हुई; ख़ूब बहस-मुबाहिसा हुआ; बड़ी-बड़ी तरकीबें सोची गईं, और अन्त में यङ्गमैन इण्डियन एसोसियेशन क़ायम हो गया। मैं प्रधान, श्री० आर० नायडू मन्त्री और श्री० रामस्वामी ख़ज़ाञ्ची चुने गए। ख़ज़ाञ्ची महाशय उस समय जर्मिस्टन के भारतीय और हबशियों के डाकख़ाने में पोस्ट-मास्टर थे, और बड़े मिलनसार, विचारशील और उत्साही युवक थे। मन्त्री जी का आचरण असन्दिग्ध अवश्य था, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे सभा-सञ्चालन के कार्य में पारङ्गत और अङ्गरेज़ी भाषा के अच्छे विद्वान् थे।

एसोसियेशन बन तो गया; उसके लिए दो-चार युवकों ने काम भी किया, पर वह चिरस्थायी न हो सका। एक ओर तो श्री० लालबहादुरसिंह उसके विरोधी बने हुए थे, क्योंकि जर्मिस्टन में जिस संस्था के वे स्वयं सभापति न बनाए जाते, उसका अस्तित्व उनके लिए अप्रिय, अरुचिकर और असह्य हो जाता। दूसरी ओर युवकों में भी उत्साह का अभाव था। उनमें न सात्विक संस्कार ही था, और न प्रतिकूल शक्तियों का सामना करने वाला संयम ही। मद्यपान का रोग उनके मन और मस्तिष्क पर अखण्ड अधिकार जमाए बैठा था, और 'कलर्ड-कामिनियों' के सहवास से भविष्य की चिन्ता विस्मृति के अथाह सागर में डूब गई थी।

'कलर्ड-कामिनी' का अर्थ शायद पाठक न समझ पाए हों। इनकी उत्पत्ति का इतिहास यह है कि श्रेष्ठता का दावा करने वाले योरोप के कुछ भलेमानसों ने यहाँ आकर हबशी-स्त्रियों से पापपूर्ण सम्बन्ध जोड़ लिया, और इनसे जो बच्चे पैदा हुए उनका नाम पड़ा 'कलर्ड'। इन वर्ण-सङ्करी युवतियों से कोई योरोपियन धर्मानुकूल विवाह करना पसन्द नहीं करता; चाहे गुप्त व्यभिचार से भले ही मुँह काला किया करे, और ये कामिनियाँ सदा के लिए कुँवारी नहीं रह सकतीं—विवाह की इच्छा होना स्वाभाविक ही ठहरा। किन्तु ये भरसक हबशियों के साथ विवाह करना नहीं चाहतीं और अपनी जाति में भी सबको मन-चाहे पति नहीं मिलते; क्योंकि अधिकांश वर्ण-सङ्कर आवारा होते हैं। इसलिए भारतीय युवकों पर इनकी दृष्टि गड़ी रहती है और मौक़ा पाते ही उन्हें अपने प्रेम-पाश में फँसा लेती हैं। इस विकट परिस्थिति से ट्रान्सवाल के कितने ही हिन्दुस्तानियों के घर बर्बाद हो गए और उनके वंश का नामोनिशान मिट गया। अनेक युवक अपने माता-पिता और कुल को तिलाञ्जलि देकर इनकी गोद में मोद करने चले गए। उस समय की एक घटना अत्यन्त हृदय-द्रावक है। न्यूक्लेर का एक हिन्दू-युवक इसी श्रेणी की एक युवती के माया-जाल में पड़कर अपनी विवाहिता पत्नी को त्याग बैठा। युवक एक क्षत्रिय-कुल का कलङ्क था। उसे बहुत-कुछ ऊँच-नीच समझाया गया, पर कामान्ध को चेत कहाँ? उसकी पत्नी पूर्ण युवती थी, शरीर पर सौन्दर्य के सुमन खिले हुए थे, और वह किसी भी

गृह के लिए शोभारूप थी। जब बेचारी ने देखा कि पतिदेव अब हाथ लगने वाले नहीं हैं, तब उसने भी अपना मार्ग ढूँढ़ निकाला, और समस्त हिन्दू-जाति पर धिक्कार की बौछारें छोड़ती हुई एक मुसलमान के घर जा बैठी।

वास्तव में ट्रान्सवाल के हिन्दू-युवक एक ऐसे जहाज पर सवार हैं, जो महासागर की मँझधार में चक्कर काट रहा है, और जिसे न ओर का पता है न छोर का। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा एसोसियेशन टूट गया। इसके द्वारा हमने समाज-सुधार का सङ्कल्प किया था, और इस शुभ-सङ्कल्प में प्रोत्साहित करने तथा बधाई देने के लिए जोहन्सबर्ग के 'इलस्ट्रेटेड स्टार, ने मेरा चित्र और संक्षिप्त चरित्र भी प्रकाशित किया था; किन्तु खेद की बात है कि हमारी सभा जल के बुदबुदे की तरह मिट गई। इसका एक और मुख्य कारण यह भी हुआ कि ठीक उसी समय एसोसियेशन के प्रधान को (मुझको) सत्याग्रह के संग्राम में जेल चला जाना पड़ा, और मन्त्री महाशय भी एक जालसाज़ी के मुक़दमे में पकड़े जाकर शायद दो साल के लिए बन्दीघर के महमान बन गए।
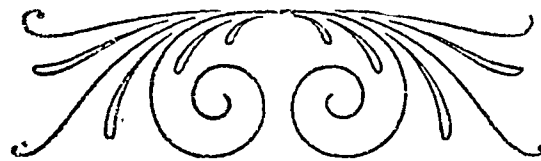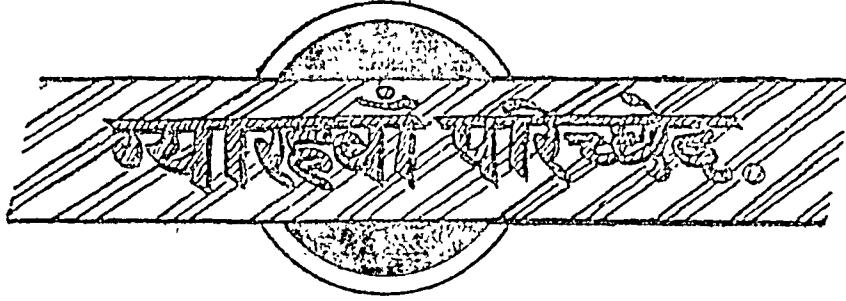
भारतीयों के इतिहास पर विहङ्गम दृष्टि
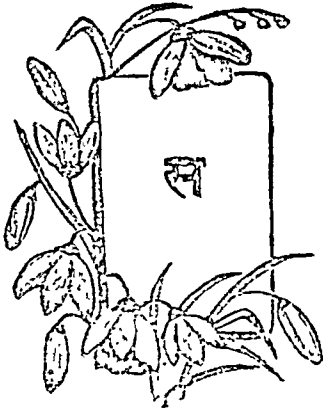
सन् १९१३ ई० के जनवरी मास में मैं भारत से ट्रान्सवाल आया था, और केवल आठ मास के बाद सितम्बर में सत्याग्रह का संग्राम छिड़ गया। इस युद्ध का पूर्ण वृत्तान्त जानने के लिए पाठकों को महात्मा गाँधी का या मेरा लिखा हुआ 'दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास' पढ़ना चाहिए। इस लड़ाई में मैं भी एक सिपाही बना था, उसका वर्णन अगले परिच्छेदों में होगा; किन्तु इस युद्ध का कारण, महत्व और रहस्य समझने के लिए दक्षिण अफ्रिका के भारतीयों के इतिहास पर एक विहङ्गम दृष्टि डालना उचित ही नहीं, आवश्यक भी है।

जब संसार के हबशियों ने ग़ुलामी से छुटकारा पाया और उन्हें स्वाधीनता के दिन देखने का सौभाग्य हुआ, ठीक उसी समय भारतीयों को दासता की अँधेरी रात में प्रवेश करने का

समय आया। देश में कुछ नर-पिशाच आरकाटियों की सृष्टि हुई, जिनका काम ही यह था कि माता-पिता से पुत्रों को और पत्नी से पति को अलग कर उपनिवेशों में भेजना, जहाँ जाकर वे अभागे गुलामी करें, और बदले में गोरों के बूट की ठोकरें तथा हण्टर की मार खाएँ।

सन् १८६० ई० में पहले-पहल भारतीय गुलाम नेटाल में आए। उस समय गिरमिट (शर्तबन्धी) की अवधि केवल तीन ही साल की थी। ख़ूब मिहनत करने पर उन्हें रूखी-सूखी रसद मिलती और ऊपर से मिलता केवल दस शिलिङ्ग मासिक वेतन। दस साल तक गुलामी करने पर उन्हें ज़मीन की एक टुकड़ी मुफ़्त दी जाती थी। सन् १८६६ ई० में भारत-सरकार ने कुछ समय के लिए कुलियों का यहाँ भेजना रोक दिया। इससे नेटाल के गोरों में हाय-तोबा मच गई। तुरन्त एक डेपुटेशन भारत पहुँचा। अपने बन्धुओं की करुण-कथा सुनकर भारत-सरकार का भ्रातृत्व जग पड़ा, और फिर सन् १८७४ ई० से कुलियों का चलान शुरू हो गया। उनके परिश्रम से नेटाल आबाद हो चला, बनेली धरती पर गन्ने की खेती लहलहाने लगी, और गोरे मालामाल हो बैठे। सन् १८८७ ई० में गोरों ने आवाज़ उठाई कि कुलियों से यह देश भरा जाता है, अतएव अब कुछ रुकावट का उपाय होना चाहिए। एक कमीशन बैठा, और उसने जाँच-पड़ताल कर रिपोर्ट दी कि भारतीय मज़दूरों के बिना नेटाल का निर्वाह ही नहीं हो सकता। तब उपाय सोचा जाने लगा कि किस

प्रकार भारतीयों से गुलामी कराई जाय, और फिर उन्हें निकाल बाहर करने में भी कोई कठिनाई न रहे। यह कौन सी बड़ी बात थी—पार्लमेण्ट अपनी थी ही, और उसके सदस्य थे अपने ही भाई-बिरादर। सन् १८९५ ई० में एक क़ानून बन गया, जिसका आशय यह था कि भविष्य में जो भारतीय शर्तबन्धी स्वीकार कर यहाँ आएँगे, अवधि समाप्त होने पर स्वदेश लौट जाना उनके लिए अनिवार्य होगा, और यदि वे यहाँ रहना ही चाहेंगे, तो उन्हें प्रति मनुष्य तीन पाउण्ड सालाना टैक्स देना होगा।

सन् १८९६ ई० में एक यह क़ानून भी बन गया कि जहाँ के निवासियों को अपने देश के शासन में मताधिकार नहीं है, उन्हें नेटाल के पार्लमेण्टरी चुनाव में भी वोट देने का हक़ नहीं रहेगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस क़ानून का लक्ष्य भारतीयों के सिवाय और किसी पर नहीं था। पुराने राज-नियम के अनुसार कुछ हिन्दुस्तानियों को पार्लमेण्टरी मताधिकार प्राप्त हो गया था, पर भारत की पराधीनता ने उस पर भी चौका फेर दिया, और भारतीय इस अधिकार से वञ्चित किए गए। इसी साल दूसरी बार महात्मा गाँधी भारत से लौटकर नेटाल पहुँचे। उन पर जैसा पाशविक आक्रमण हुआ, उससे भारत का बच्चा-बच्चा परिचित है, और अनेक पुस्तकों के पृष्ठों पर उस रोमाञ्चकारी दुर्घटना का सम्यक् वर्णन है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि सन् १८९७ ई० में स्वतन्त्र भारतीयों का प्रवेश रोकने के लिए इमिग्रेशन क़ानून बन गया। उस क़ानून में इतनी गुञ्जाइश अवश्य थी कि अङ्गरेज़ी

शिक्षा प्राप्त हिन्दुस्तानी अपनी योग्यता की परीक्षा देकर नेटाल में उतर सकते थे; किन्तु सन् १९१३ई० में इस भूल का भी संशोधन हो गया। जहाँ तक मेरा ख्याल है, और यदि मेरी स्मृति मुझे धोखा नहीं देती है, तो मैं शायद अन्तिम हिन्दुस्तानी था, जो सन् १९१३ ई० के जनवरी मास में अङ्गरेज़ी की योग्यता पर नेटाल में बसने का अधिकार पा सका था। मेरे मामले के बाद ही क़ानून बदल दिया गया, और आज यदि ज़रदस्त, ईसा, मुहम्मद और दयानन्द भी जीवित होते तो एशियावासी होने के कारण नेटाल की भूमि पर बसने का क़ानूनी अधिकार न पा सकते। इन अत्याचारों का समाचार पाकर माननीय गोखले का हृदय द्रवीभूत हो उठा और उन्हीं के अथक परिश्रम से सन् १९११ ई० से नेटाल में शर्तबन्ध भारतीय मज़दूरों का आना रुक गया।

नेटाल से गिरमिट की अवधि पूरी करके कुछ हिन्दुस्तानी ट्रान्सवाल में जा बसे और कुछ स्वतन्त्र व्यापार करने की ग़रज़ से भी वहाँ पहुँचे। ट्रान्सवाल में भारतीयों का आगमन देखकर वहाँ की बोअर-प्रजातन्त्र सरकार को बहुत दूर की सूझी और उसने सन् १८८५ ई० में एक क़ानून बनाया, जिसका नाम 'गोल्ड एक्ट' रक्खा। इस क़ानून के अनुसार कोई भी भारतीय ट्रान्सवाल में ज़मीन नहीं ख़रीद सकता था। यद्यपि बोअर-सरकार ने यह क़ानून तो बनाया, पर उसने ट्रान्सवाल में आए हुए भारतीयों को निकाल बाहर करना उचित नहीं समझा। यदि वह चाहती तो उसके लिए यह कोई बड़ी बात नहीं थी, और इससे नेटाल के अङ्गरेज़ों

को एक फ़ायदा ही था, वह यह कि कितने ही भारतीय गोरे प्लान्टरों के दुर्व्यवहार से तङ्ग होकर ट्रान्सवाल भाग आए थे, और यदि उन्हें बोअर-प्रजातन्त्र में आश्रय न मिला होता, तो वे नेटाल के क़ानून के अनुसार पकड़े जाकर बन्दीघर की शोभा बढ़ाते। उस समय भारतीयों को 'ब्रिटिश-प्रजा' होने का भी बड़ा घमण्ड था और बोअरों को थी अङ्गरेज़ों से घृणा। यद्यपि 'गोल्ड लॉ' के अनुसार भारतीयों को ट्रान्सवाल में ज़मीन ख़रीदने से रोक दिया गया, तो भी उन्हें ९९ वर्ष के पट्टे पर बसने के लिए ज़मीन दी गई। एक यह भी सुभीता था कि वे अपने किसी गोरे मित्र के नाम से ज़मीन ख़रीद कर अपने नाम से रहन करा सकते थे। इससे भारतीयों ने अच्छा लाभ उठाया, और बहुत सी ज़मीन के रहनदार बन गए। व्यापार करने में कोई रुकावट नहीं थी, और न मज़दूरी करने में कोई बाधा ही।

सौभाग्य से कहिए या दुर्भाग्य से, सन् १९०२ ई० में बोअर-प्रजातन्त्र का अन्त हो गया, और ट्रान्सवाल पूर्ण रूप से अङ्गरेज़ों के अधिकार में आ गया। युद्ध के समय भारतीयों की राजभक्ति या दास्यवृत्ति का अकृत्रिम रूप देखकर बोअरों को बड़ी घृणा हुई, और वे भारतीयों से पूरा द्वेष करने लगे। इसमें तो कोई अस्वाभाविकता नहीं थी, किन्तु ट्रान्सवाल पर अधिकार जमाकर अङ्गरेज़ों ने भारतीयों के साथ जो व्यवहार प्रारम्भ किया, वह अवश्य ही विषाद-जनक है। सन् १९०३ ई० में लॉर्ड मिलनर ने शान्ति-रक्षा-क़ानून (Peace Preservation Ordinance)

बनाया। इस क़ानून के अनुसार भारतीयों को नई सनद (Permit) और ३ पाउण्ड देकर एशियाई सनद (Asiatic Registration Certificate) लेना पड़ता था। सन् १९०४ ई० में भारतीयों से जोहन्सबर्ग की वह ज़मीन भी छीन ली गई, जो बोअर-प्रजातन्त्र ने ९९ वर्ष के पट्टे पर दी थी। यह सब ब्रिटिश-राज्य का महाप्रसाद और भारतीयों की सहायता का अविस्मरणीय पुरस्कार था। हम तो यही कहेंगे कि ट्रान्सवाल पर सत्ता जमाकर अङ्गरेज़ों ने भारतीयों के साथ जो-जो अत्याचार किए, बोअर-सरकार शायद उसकी कल्पना भी नहीं कर सकती थी। ऐसे तो अनेक छोटे-बड़े क़ानून बनाए गए, किन्तु सन् १९०६ ई० में जो 'एशियाटिक एक्ट' बना, उसके जोड़े का क़ानून संसार में और कहीं शायद ही मिले। इस क़ानून के द्वारा भारतीयों को ग़ुलामी की अधम अवस्था में पहुँचा देने की व्यवस्था हुई। क़ैदियों की तरह प्रत्येक भारतीयों को दस उँगलियों की अलग-अलग और फिर चार-चार उँगलियों की एक साथ निशानी देकर अद्वितीय साम्राज्य-भक्ति का परिचय देने का अवसर आया, किन्तु इस बार भारतीयों ने महात्मा गाँधी के सदुपदेश और नेतृत्व में इस क़ानून के विरुद्ध बग़ावत का झण्डा खड़ा किया। यह युद्ध अहिंसात्मक था, इसलिए सत्याग्रह के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस अमानुषिक क़ानून के विरोध में साढ़े तीन हज़ार भारतीयों ने बन्दीघर के भयानक कष्ट भोगे, और संसार को बता दिया कि ब्रिटिश-साम्राज्य में भारतीयों की वही अवस्था है, जो अमेरिका में

क्रीत-दास हबशियों की थी। इतना कष्ट उठाने पर भी जनरल स्मट्स की कूट-नीतिज्ञता से यह क़ानून क़ायम रह गया, और वास्तव में यह संसार की क़ानूनी किताबों में एक काला धब्बा और ब्रिटिश-साम्राज्य के इतिहास में एक कलङ्कित घटना है। तीन वर्ष के कष्ट-भोग का केवल यही फल हुआ कि छः शिक्षित भारतीयों को प्रति वर्ष ट्रान्सवाल में प्रवेश करने का अधिकार मिला।

इसके बाद ही सन् १९१२ ई० में माननीय गोपालकृष्ण गोखले यहाँ आए। और जब इन महापुरुष ने भारतीयों की दुर्गति अपनी आँखों से देखी, तब उनके दिल और दिमाग़ पर बहुत बड़ा धक्का लगा; माननीय गोखले ने इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया कि सन् १८९५ का नेटाल वाला टैक्स तुरन्त रद् किया जाय, जो मर्दों के सिवाय अनाथा औरतों से भी वसूल होता है, और न देने पर उन्हें क़ैद की सज़ा भी मिलती है। इसके सिवाय इमिग्रेशन-क़ानून पर उदारतापूर्वक अमल करने तथा अन्य सुधारों के लिए भी विशेष रूप से अनुरोध किया। यूनियन के मन्त्रियों—बोथा, स्मट्स और फ़िशर ने उनसे वायदे किए कि तीन पाउण्ड वाला टैक्स तो ज़रूर रद् कर दिया जायगा, और इमिग्रेशन-क़ानून के ज़रिए भारतीयों के मार्ग में कोई कठिनाई नहीं उत्पन्न की जायगी।

इमिग्रेशन-क़ानून पर कितनी उदारता के साथ अमल होना शुरू हुआ, उसका उदाहरण पाठक ख़ुद मेरे ही मामले में देख चुके हैं। रहा तीन पाउण्ड वाला टैक्स रद् करने का सवाल! माननीय गोखले के चले जाने के बाद जब यूनियन-पार्लामेण्ट की बैठक

हुई, तब एक सदस्य के यह पूछने पर कि बम्बई में माननीय गोखले ने जो भाषण दिया है, उससे यह मालूम होता है कि सरकार तीन पाउण्ड वाला टैक्स रद् कर देने के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध हो गई है, क्या यह बात सत्य है ? मन्त्रियों ने तुरन्त गिरगिट की नाईं रङ्ग बदलकर साफ़ कह दिया कि मन्त्रिमण्डल ने समष्टि-रूप से या मन्त्रियों ने व्यक्तिगत रूप से उन्हें कोई अभिवचन नहीं दिया है। इसका यही अर्थ होता था कि माननीय गोखले का कथन निर्मूल और असत्य है।

सरकार के इस व्यवहार से भारतीय लोकमत बहुत क्षुब्ध हुआ और महात्मा गाँधी ने फिर एक और अन्तिम बार सत्याग्रह का सिंहनाद किया। २३ सितम्बर को पहला दल जेल में भी पहुँच गया। इस दल में महात्मा जी की पत्नी—माता कस्तूरीबाई और दरबन के त्यागी देशभक्त सौदागर पारसी रुस्तम जी भी थे। इसके बाद कुछ और लोगों को सत्याग्रह में भेजकर स्वयं महात्मा जी जोहन्सबर्ग पधारे।
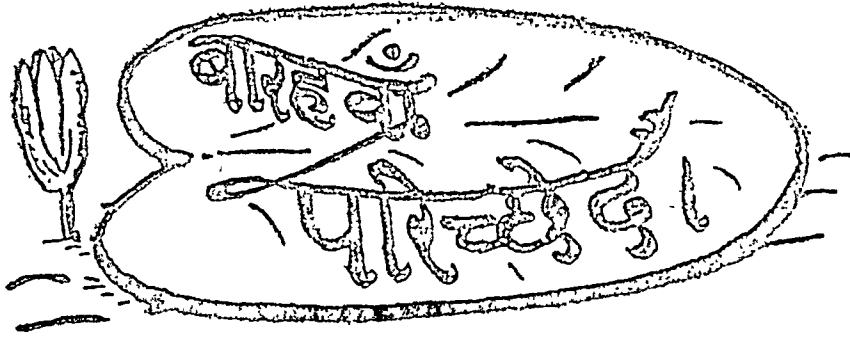
सत्याग्रह और उसके विरोधी
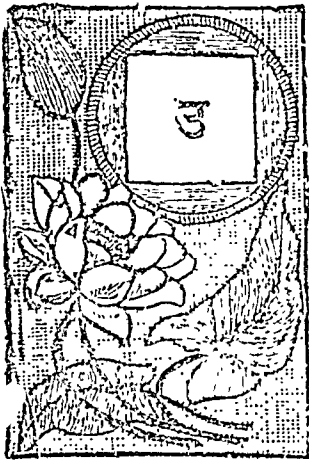
न दिनों भारतीयों पर जो क़ानूनी अत्याचार हो रहे थे, उनसे मेरे दिल और दिमाग़ पर गहरी चोट लग रही थी। सबसे अधिक दुःख मुझे उन बहिनों की दुर्गति पर था, जो तीन पाउण्ड के टैक्स का शिकार बनी हुई थीं। पुराने प्रवासी ऐसी स्त्रियों से विवाह करना पसन्द नहीं करते थे, क्योंकि ऐसा करने पर उनके ही माथे यह टक्स की बला चढ़ जाती। इस टैक्स ने बड़ी दयाजनक स्थिति उत्पन्न कर दी थी। कितनी बहिनों को इस ख़ूनी कर के चौरे पर अपने सतीत्व की भेंट चढ़ानी पड़ती थी, और कितनों को अन्य दुराचारपूर्ण धन्धे से धन कमाकर टैक्स की अदायगी करनी पड़ती थी। बरसती आग में और कड़कड़ाती सर्दी में, यदि बच्चा हो तो उसे धरती-माता

को सौंपकर, पापी पेट की आग बुझाने के लिए घोर परिश्रम करना और उस पर सालाना तीन पाउण्ड टैक्स भरने की अलग ही चिन्ता; वह भी साल दो साल नहीं, सारी ज़िन्दगी—पीढ़ी दर पीढ़ी के लिए। यदि समय पर सरकारी खज़ाने में टैक्स न पहुँचा, तो फिर चलो मूड़ मुड़ाकर जेल की हवा खाने। कैसी दरिद्रता, कैसी दुरवस्था और कैसा भीषण दृश्य !!

सत्याग्रह की शङ्खध्वनि होते ही मैंने 'इण्डियन ओपिनियन' में एक पत्र लिखकर उसका समर्थन किया। २० सितम्बर को ब्रह्मचारिणी देवी सोनजा श्लेशीन का एक पत्र भी मिला, जिसमें मुझे सत्याग्रह के लिए तैयार रहने का आदेश किया गया था। थोड़े ही दिनों में कुमारी श्लेशीन से मेरा गाढ़ा परिचय हो गया था, और यह लिखना तो मैं भूल ही गया कि मुझे अपने मामले के वक्त ट्रान्सवाल में इन देवी से बड़ी सहायता मिली थी। यद्यपि वह वकील न थीं, तो भी क़ानूनी कार्यवाही का उन्हें बड़ा अनुभव था। वह एक यहूदी-कन्या थीं, अङ्गरेजी भाषा की पण्डिता, पूर्ण वयस्का युवती, महात्मा जी की प्राइवेट सेक्रेटरी, त्याग की प्रतिमा, भारतीय स्त्रियों में नवजीवन पैदा करने वाली, सभी श्रेणी के भारतीयों की परामर्श-दात्री और सेवा-धर्म की संदेह शोभा थीं। जितनी वह शरीर से सुन्दरी थीं, उतनी ही हृदय से पवित्र भी। ऐसी देवी से स्नेह और मित्रता प्राप्त करना भला किसे सौभाग्य-सूचक न जँचेगा ?

महात्मा जी दरबन से जोहन्सबर्ग आए। मैं जाकर उनसे

मिला और सत्याग्रह पर कुछ बातचीत भी हुई। ट्रान्सवाल में उस समय मुसलमानों के दो दल थे, एक तो सत्याग्रही और दूसरा उसका विरोधी। विरोधी-दल के नेता इसफ़मियाँ और हबीब मोटन थे। जनता में इस दल का नाम 'ब्लेक लीग' (Black League) पड़ गया था। कुछ महत्वाकांक्षी मुसलमानों ने इस दल की सृष्टि की थी, और उसका उद्देश्य था येनकेन-प्रकारेण महात्मा गाँधी और सत्याग्रह के विरुद्ध आवाज़ उठाए रहना। यद्यपि इन सत्याग्रह-द्रोहियों की संख्या थोड़ी ही थी, तो भी कहावत है कि 'घर का भेदी लङ्का ढावे।'

मुझे इन मुसलमान-बाग़ियों पर उस समय बड़ा क्रोध आया, जब सत्याग्रह का सूत्रपात होते ही उन्होंने 'ट्रान्सवाल लीडर' के प्रतिनिधि से बहुत सी बेतुकी बातें कहकर अपने मन के गुबार निकाले। उस समय उक्त पत्र की सम्पादकीय कुर्सी पर मि० एलबर्ट कार्टराइट नहीं थे, जिन्होंने सन् १९०८ ई० की सन्धि में विशेष रूप से भाग लिया था। अतएव ३० सितम्बर को इस पत्र में इन सत्याग्रह-द्रोही मुसलमानों के विचारों को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। 'शहीदों के लिए पैसे नहीं' शीर्षक देकर 'एक प्रसिद्ध मुसलमान व्यापारी' का बयान छापा गया था, जिसका आशय यह था कि यदि महात्मा जी को जोहन्सबर्ग में ५० सत्याग्रही भी मिल जायँ, तो यह उनका सौभाग्य समझना चाहिए। ट्रान्सवाल के समस्त सौदागर इस संग्राम से सम्बन्ध तोड़ चुके हैं, और इसमें आर्थिक सहायता देने को बिलकुल तैयार नहीं हैं। 'एक

धनाढ्य मुसलमान' ने कहा था—इस प्रकार के सत्याग्रह से हमें क्या फ़ायदा? कुछ नहीं। सरकार का बर्ताव अच्छा और उसका न्याय प्रशंसापूर्ण है। जो कुछ कसर है, वह भी पूरी हो जायगी। साम्राज्य की न्याय-प्रियता पर हमें पूर्ण भरोसा है। इसका नमूना लीजिए—हमें जोहन्सबर्ग में गुजराती स्कूल मिल गया है, और उसके लिए सुयोग्य अध्यापक भी।

यद्यपि इन महाशयों के नाम नहीं छपे थे, तो भी समझने वाले समझ गए कि 'एक प्रसिद्ध मुसलमान व्यापारी' के रूप में इसफ़मियाँ और 'एक धनाढ्य मुसलमान' के रूप में हवीब मोटन के सिवाय और कोई नहीं है। इनके विचारों से सभी परिचित थे और इनका विरोध उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था, तो भी 'लीडर' की करतूत से लोगों में हलचल सी मच गई। दूसरे दिन के 'लीडर' में ट्रान्सवाल के अनेक व्यापारियों के हस्ताक्षरयुक्त प्रतिवाद छपा, जिसमें उक्त कथन की निर्मूलता सिद्ध करके व्यापारी-वर्ग की ओर से सत्याग्रह का समर्थन किया गया था।

इससे मुझे कुछ सन्तोष तो अवश्य हुआ। मैंने सोचा कि ऐसा होता ही है, हर देश और हर जाति में भिन्न-भिन्न स्वभाव और विचार के मनुष्य पाए ही जाते हैं। जिस अमेरिका की स्वाधीन भूमि में देशभक्त वाशिङ्गटन पैदा हुआ था, वहीं देश-द्रोही अरेण्डल भी तो। जो इङ्गलैण्ड धन और धरती के लोलुप एवं स्वार्थी व्यक्तियों और निरीह प्राणियों के रक्त से हाथ रँगने वाले अत्याचारियों की जननी रहा है, उसी ने बेडला, फ़ोक्स, मिल, बर्क, वेडरबर्न,

ह्यूम, काटन इत्यादि उदार पुरुषों को भी तो उत्पन्न किया था। जिस भारत की मान-मर्यादा के लिए प्रतापसिंह, गोविन्दसिंह और शिवाजी ने हृदय का शोणित दान किया था, क्या वहीं पर जयचन्द और मानसिंह नहीं जन्मे थे? यद्यपि इस विश्लेषण में आत्म-तुष्टि की कुछ मात्रा थी, तो भी मुझे यह बात बहुत खटक रही थी कि व्यापारी लोग जेल जाने से साफ़ इन्कार क्यों कर रहे हैं? क्या उनपर क़ानूनी अत्याचार नहीं होते, फिर ऐसी मनोवृत्ति क्यों? कभी-कभी यह भी ख़्याल पैदा हो आता कि इन व्यापारियों को धता बताना चाहिए और अपनी अकर्मण्यता का फल भोगने के लिए छोड़ ही देना चाहिए, किन्तु फिर भी ऊँची भावनाओं के उदय हो आने पर विचार की धारा पलट जाती है। फिर 'लीडर' में महात्मा जी की यह उद्घोषणा छपी—जब तक एक भी सत्याग्रही युद्ध में प्रवृत्त रहेगा, तब तक विजय होना सर्वथा निश्चित है। इसलिए नहीं कि उसके अकेले होने का कोई विशेष बल या महत्व है, बल्कि इसलिए कि वह सत्य के लिए खड़ा है। मैं यह भविष्य-वाणी करता हूँ कि समय आने पर सत्याग्रह की शक्ति स्वयं प्रकट होगी।

महात्मा जी की भविष्य-वाणी में आशा और विश्वास का यह सुन्दर सन्देश था—भाइयो, आओ! हमारे लिए केवल एक ही मार्ग है, हम ध्रुव और प्रह्लाद की तरह अत्याचार और अन्याय के सामने मस्तक न झुकाएँ; कृष्ण के उपदेशानुसार राष्ट्रीयता की गङ्गा में ग़ोता लगाकर दासता की बेड़ियाँ खण्ड-खण्ड कर डालें;

बुद्ध के चरण-चिह्न पर चलकर दुश्मनों पर भी दया दिखाएँ, और ईसा की नाईं पापियों को भी क्षमा कर दें; जेल जाने से न घबराएँ; हथकड़ी-बेड़ी से न शरमाएँ; पत्थर की गिट्टियाँ तोड़ने से न डरें, और अपनी आत्मा को इतना मजबूत बना लें कि सैकड़ों शरीर की बलि चढ़ते हुए भी आगे बढ़ते ही चले जायँ; और तब तक दम न लें, जब तक कि विजय-श्री स्वयं अपने हाथों से माला न पहना दे।

मैं सत्याग्रह की सेना में अपना नाम लिखा ही चुका था। तुरन्त धोबी के धन्धे से इस्तीफ़ा देकर काम के लिए प्रस्तुत हो गया।

चिन्ता और उसकी निवृत्ति

द्यपि सत्याग्रह में सम्मिलित होने के लिए मैं महात्मा जी से वचन-बद्ध हो चुका था, तो भी मेरे सामने कठिनाइयों की कमी नहीं थी। मैं कोई ऐसा महापुरुष तो था नहीं, जो अहंभाव से रहित होकर यह मान लेते हैं कि उनका शरीर भी अपना नहीं है, बल्कि देश के उद्धार के लिए वह ईश्वर का हथियार है; मैं तो एक मामूली से मामूली आदमी ठहरा। मुझे स्वदेश से आए अभी केवल ९ मास ही हुए थे। देवीदयाल को अब तक कोई अच्छी नौकरी नहीं मिली थी और आमदनी की दूसरी कोई सूरत भी नहीं थी, फिर छोटे भाई पर परिवार का सारा भार छोड़कर चला जाना मुझे बड़ा दुर्गम प्रतीत होता था। मुझे परिवार के निर्वाह की चिन्ता बेचैन करने लगी !!

गरीबों की दुर्गति दूर करने के लिए—जिसका कुछ वर्णन पिछले परिच्छेद में हो चुका है—मैं जेल तो क्या, जान से भी बाज़ी

लगाने को तैयार था; किन्तु मेरी आर्थिक स्थिति इतनी बिगड़ी हुई थी कि यदि एक भी दिन मिहनत-मजूरी न करूँ, तो फिर पेट पर पट्टी बाँधकर सोऊँ। हाँ, कुछ सहृदय मित्र सहायता करने को तैयार थे, पर इस तरह की सहायता लेकर अपने आत्म-गौरव को खो बैठना मेरे लिए सम्भव नहीं था। ट्रान्सवाल की पहली लड़ाई में जेल जाने पर सत्याग्रही-परिवार को निर्वाह के लिए आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था भी थी, पर अपने परिवार के लिए इस फ़ण्ड से भी कुछ ग्रहण करना मैं उचित नहीं समझता था। तब फिर क्या किया जाय ? मेरे लिए यह बड़ा विकट प्रश्न था, और इसे हल करना सहज नहीं था।

मैं निर्धन अवश्य था, पर नास्तिक तो नहीं था। ईश्वर के अस्तित्व में मेरा पूरा विश्वास था, और यह धारणा थी कि अन्धकार में भटकते हुए बटोहियों को वही प्रकाश का मार्ग दिखाता और दुविधा में पड़े हुए लोगों को वहीं सत्साहस देता है। इस विचार से मुझे बड़ी शान्ति मिली। मैंने सबसे पहले इस विषय पर देवीदयाल से परामर्श करना आवश्यक समझा, क्योंकि मेरे चले जाने के बाद उन्हीं पर परिवार का सारा भार आ पड़ता। वे अभी अठारह वर्ष के युवक थे, और शारीरिक बल-सम्पन्न एक पहलवान भी। उनके आत्म-गौरव पर जब कभी धक्का लगता, तो क्रोध से आँखें अङ्गार हो जातीं, और उस समय 'चाहे जो कुछ हो' के सिद्धान्त के वे क़ायल हो जाते। जब दरबन के बन्दरगाह पर कज़िन्स साहब ने हमारे सामने अत्याचार का ताण्डव-नृत्य

प्रारम्भ किया, तब देवीदयाल ने मुझसे पूछा था—यदि आपका अनुशासन मिले तो अभी मैं इस अफ़सर को उठाकर समुद्र में फेंक दूँ, और स्वयं भी कूदकर इसकी छाती पर चढ़ बैठूँ, ताकि फिर इसे किसी पर अत्याचार करने का अवसर ही न मिले। उनकी इस बात में कितनी निर्भयता थी, केवल मेरे सङ्केत से उसकी सत्यता प्रकट हो जाती; किन्तु मैंने उन्हें बहुत समझा-बुझाकर शान्त किया। अब न उनमें वह बल है और न स्वभाव की वह उग्रता ही, बल्कि वे पूर्ण सहनशील और विचारशील बन गए हैं।

लिखने का प्रयोजन यह है कि मुझे एक बात की बड़ी आशङ्का थी और वह यह कि मेरी अनुपस्थिति में कहीं किसी गोरे से कुली इत्यादि दुर्वचन कहने पर, जोकि उनका स्वभाव-सिद्ध अभ्यास ही हो गया है, देवीदयाल से भिड़न्त न हो जाय। यदि ऐसा हुआ और संयम से काम न लिया गया, तो बाल-बच्चों की बड़ी दुर्गति हो जायगी।

ख़ैर, मैंने देवीदयाल से इस बात की चर्चा छेड़ी। उनके उत्साह का क्या पूछना? उन्हें सोच-विचार की कोई विशेष आवश्यकता थी ही नहीं। उन्होंने तुरन्त कहा कि इस विषय पर मुझसे सलाह करने की क्या ज़रूरत? आपने जो कुछ विचार किया है, वह ऐसा है कि उस पर हमारा सारा परिवार गर्व से सिर ऊँचा कर सकेगा। मेरी ओर से आप बिलकुल निश्चिन्त हो जायँ। आपकी ग़ैरहाज़िरी में रात और दिन मेरे लिए बराबर होगा, और

कम से कम परिवार के लिए रूखी-सूखी रोटी और साधारण वस्त्र तो अवश्य जुटा लूँगा। यह भी विश्वास रखिए कि जब तक आप लौटकर न आएँगे, तब तक मैं अपमान का कड़ुवा प्याला भी पी लूँगा, पर किसी से लड़ाई-टण्टा न करूँगा। इस आश्वासन से मानो मैं चिन्ता-सागर से पार हो गया।

अब केवल पत्नी से विदा माँगना बाक़ी रह गया; पर जब उन्हें मेरे निश्चय का पता लगा तो वे स्वयं मेरे पास आईं और कहने लगीं—आप मेरे लिए क्यों चिन्ता करते हैं? मैं आपको बन्धन में डालने वाली बेड़ी नहीं, आपके पद-चिह्न पर चलने वाली दासी हूँ! जब आप क़ैद की काली कोठरी में बसने और तरह-तरह के कष्ट झेलने जा रहे हैं, तब भला मैं घर में रहकर क्या करूँगी? यदि कोई बाधा न हो, तो मुझे भी अपने साथ ले चलिए। और आपत्ति भी क्या हो सकती है? जब माता कस्तूरीबाई ने स्वयं जेल में बसेरा किया है, तो मुझ सी मामूली स्त्री की गिनती ही क्या है? आप यह न समझें कि मैं कष्ट पाने पर डर कर आपके नाम पर धब्बा लगाऊँगी। मेरा विश्वास कीजिए और मुझे अवश्य अपने साथ ले चलिए।

मुझे अपनी पत्नी जगरानी के मुँह से ऐसी ओजपूर्ण बातें सुनने की बिलकुल आशा नहीं थी। हिन्दी-भूषण बाबू शिवपूजन-सहाय के शब्दों में—"जिस देहात में जगरानी जी की जन्म-भूमि है, वह ऐसी जगह है, कि जहाँ नई रोशनी या बीसवीं सदी की सभ्यता का बहुत ही धुधला प्रकाश पहुँचा है। कुछ इने-गिने पढ़े-लिखे

लोग स्त्री-शिक्षा का मतलब (सिर्फ़ मतलब ही) भले ही समझते हों, पर जन-साधारण की दृष्टि में स्त्री-शिक्षा का कोई महत्व नहीं। स्त्री-शिक्षा का महत्व वहीं तक है कि कहीं-कहीं दो-चार सुशिक्षित कायस्थों की स्त्रियाँ सिर्फ़ मामूली चिट्ठी-पत्री करना जानती हैं; वह भी कैथी अक्षरों में, देवनागरी की लिखावट का कहीं पता नहीं। ऐसे स्थान में जगरानी जी पैदा हुई थीं। बचपन में तो किसी प्रकार की शिक्षा-दीक्षा मिली नहीं, क्योंकि माता-पिता तो ऐसे कूप-मण्डूकों के देश में रहते थे, जिनके यहाँ स्त्री-शिक्षा अशुभ मानी जाती है" ['गृहलक्ष्मी' श्रावण-भाद्रपद १९८२]।

यद्यपि मेरे सहवास से जगरानी को हिन्दी पढ़ना-लिखना आ गया था, तो भी संसार का और विशेषतः दक्षिण अफ्रिका का तो कुछ भी अनुभव नहीं था। इस स्थिति में उनका यह विचार जान-कर मैं आश्चर्य-चकित हो गया और उत्तर में कहा—तुम्हारी यह बात सुनकर खुशी से मेरी नस-नस फड़क उठी है और वास्तव में तुम सी पत्नी पाकर आज मैं धन्य हुआ। मुझे तुम्हारी इच्छा पर कोई आपत्ति नहीं है, पर इस विषय पर महात्मा जी की सम्मति और आज्ञा लेनी आवश्यक है।

दूसरे ही दिन (३० सितम्बर को) मेरे साथ जगरानी जोहन्सबर्ग गईं और महात्मा जी से मुलाक़ात की। साधारण शिष्टाचार के पश्चात् महात्मा जी ने पूछा—कहो, क्योंकर आना हुआ ?

जगरानी—जेल जाने की इच्छा है।

महात्मा जी (मुस्कराकर)—अहा ! यह तो बड़ी अच्छी बात है, पर तुम्हें यह जान लेना चाहिए कि जेल में बड़े-बड़े कष्ट उठाने पड़ेंगे। ऐसा न हो कि तुम तकलीफ़ों से घबड़ा उठो, और फिर यह कहो कि मैं अपने मन से नहीं—गाँधी के कहने से इस मुसीबत में पड़ गई।

जगरानी—मैं सब तरह की तकलीफ़ उठाने को तैयार हूँ और ख़ूब सोच-समझकर ही आपके पास आई हूँ।

महात्मा जी (जगरानी की साड़ी की ओर सङ्केत करके)—जेल में ऐसी रङ्गीन रेशमी साड़ी पहिनने को नहीं मिलेगी।

जगरानी—जेल के मोटे वस्त्र को ही मैं रेशम और मख़मल मानकर धारण करूँगी।

महात्मा जी—और वहाँ स्वादिष्ट भोजन भी तो नहीं मिलेगा। देशियों (हबशियों) की ख़ुराक 'पूपू' खाना पड़ेगा।

जगरानी—वही मेरे लिए मोहनभोग या मालपुआ होगा।

महात्मा जी—अच्छा, अब मैंने मान लिया कि तुम सब कुछ कष्ट सहने को तैयार हो, पर किसलिए ? घर का सुख छोड़कर तकलीफ़ उठाने की ज़रूरत क्या ?

जगरानी—जिस क़ानून के अनुसार भारत की शुद्ध और पवित्र स्त्रियाँ भी रखेली समझी जायँ, उसकी मौजूदगी में हमें भला सच्चा सुख कहाँ ?

महात्मा जी—बहुत ठीक ! अब मैं तुम्हें सत्याग्रह की सेना में भर्ती होने की आज्ञा देता हूँ। जाओ, अपने हक़ के लिए लड़ो और

हिन्द की इज्जत बचाओ। मैंने जो तुमसे जिरह की है, उसका खास कारण यह है कि स्त्रियाँ केवल देखा-देखी या जोश में आकर या मेरे कहने से जेल चली जायँ और तकलीफ़ होने पर पछताएँ, ऐसा मैं बिलकुल नहीं चाहता। चाहे थोड़ी हों या बहुत, केवल वही स्त्रियाँ सत्याग्रही बनें, जिन्हें अवस्था और आन्दोलन का पूरा ज्ञान हो। हाँ, जस्टिस सरल ने यह फ़ैसला किया है कि भारतीय धर्मानुसार किए हुए विवाह क़ानूनन नाजायज़ हैं, और इसका यही अर्थ होता है कि रजिस्टरी हुए बिना हिन्दुस्तानी औरतें रखेली हैं। यह बात शायद भवानीदयाल ने तुम्हें बतलाई होगी। अच्छा, अब तुम जाओ और उन मद्रासी बहिनों से मिलो, जो सत्याग्रह के लिए तैयार हो चुकी हैं।

महात्मा जी से विदा हो जगरानी सत्याग्रही-महिलाओं के दल में जाकर शामिल हो गई। इस दल में बूढ़ी, अधेड़ और युवती, कुल दस महिलाएँ थीं, जगरानी ग्यारहवीं हो गईं। जोहन्सबर्ग से जगरानी फिर जर्मिस्टन न लौटीं। वहीं से उन्होंने अपने दल और मि० केलनबेक के साथ फ़्रीस्टेट को कूच किया।

इस विषय पर ८ अक्टूबर को 'इण्डियन ओपिनियन' ने लिखा था—"जोहन्सबर्ग की ग्यारह स्त्रियाँ अपने बच्चों को गोद में लेकर देश के लिए फेरी कर रही हैं और दुःख उठा रही हैं, यह जानकर किस भारतीय को शौर्य नहीं चढ़ेगा? कौन भारतीय अभिमान न करेगा? इन स्त्रियों में अधिकांश तामिल जाति की हैं, केवल एक उत्तर हिन्दुस्तान की है। यदि वे जेल जाने

का प्रयत्न न करतीं, तो हम उनका कुछ नहीं कर सकते। वे स्वयं सोच-समझकर बाहर निकली हैं। जिस जाति में ऐसी स्त्रियाँ पाई जायँ, उसका सूरज अस्त नहीं हुआ है। इनके तप से भारत जीतेगा और अपना नाम अमर रक्खेगा। हम तो यह मानते हैं कि जिस समय वे जेल जाने के लिए तैयार हुईं, उसी समय सत्याग्रह पर विजय की मुहर लग गई। इन स्त्रियों ने तो हद कर दी है। जेल में पहुँचने से पहले उनके नाम नहीं दिए जा सकते, पर इसमें सन्देह नहीं कि वे वीराङ्गना हैं। महात्मा जी ने स्त्रियों की सभा में व्याख्यान देकर जेल के सारे कष्टों का वर्णन कर दिया था, उस पर भी वे निर्भय होकर अपने पति और अपने अन्य बालकों को छोड़कर चलती बनीं। छः की गोद में छोटे-छोटे बच्चे भी हैं। उनके साथ मि० केलनबेक गए हैं। वे फ्रीस्टेट में दाखिल हुईं, पर वहाँ तो पकड़ का इरादा ही नहीं था। वे वापिस विरीनिगिङ्ग आईं। यहाँ भी इमिग्रेशन-अमलदार ने नहीं पकड़ा। इस पर इन स्त्रियों ने मि० केलनबेक से कहा—जोहन्सबर्ग लौट जाने की अपेक्षा यहीं बिना परवाने के फेरी (Hawking) करके गिरफ़्तार होना अच्छा है। विरीनिगिङ्ग के व्यापारियों ने, जो इनके आगत-स्वागत में तत्पर थे, इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया और फेरी करने के लिए अपनी दूकानों से मुफ़्त माल दिए। यह भी निश्चय हुआ कि फेरी से जो पैसा आवे, वह सत्याग्रह-फ़रड में दिया जाय। पहले दिन उन्होंने अधिकारियों का ध्यान आकर्षित करने के सिवाय १४ शिलिङ्ग मुनाफ़ा भी पाया। यदि दो-चार दिन के अन्दर वे न पकड़ी गईं, तो

पकड़वाने के लिए अन्य किसी उपाय का अवलम्बन करेंगी। वे सबकी सब दृढ़-सङ्कल्प की स्त्रियाँ हैं, जो किसी भी सङ्कट का सामना कर सकती हैं। मि० केलनबेक इन स्त्रियों का बड़ा बखान करत हैं। वहाँ के व्यापारी श्री० आसवात, श्री० भरूची और श्रीमती भरूची इन भली बहिनों के सेवा-सत्कार में लगे हुए हैं।"

पाठकों ने देख लिया की .फ्रीस्टेट में प्रवेश करने के गुरुतर अपराध में भी इन स्त्रियों को दण्ड नहीं मिला और न विरिनिगिङ्ग में माथे पर टोकरी रखकर बिना परवाना फेरी फिरने के अपराध में ही। इसका कारण जान लेना कुछ कठिन नहीं है। सरकार इन स्त्रियों को जेल भेजकर सत्याग्रह-यज्ञ की पूर्णाहुति में योग देना उचित नहीं समझती थी। उसे मालूम था कि इन स्त्रियों को पकड़कर जेल भेज देना मानो सत्याग्रह का महत्व बढ़ा देना है। न जाने वह माता कस्तूरीबाई इत्यादि चार महिलाओं को जेल भेजने में क्यों गलती कर बैठी थी?
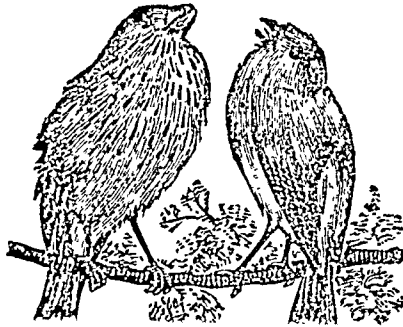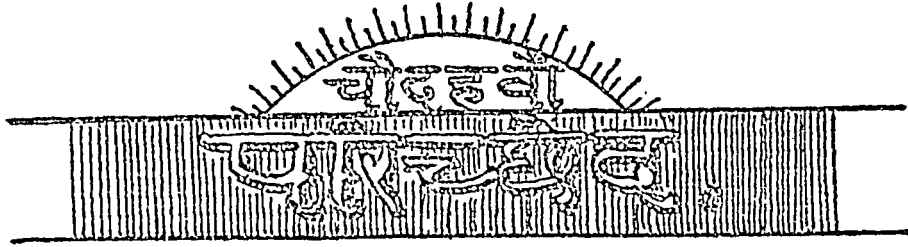
सत्याग्रह या नाटक

रोज़ाना दो-तीन बार महात्मा गाँधी से टेलीफ़ोन द्वारा अपनी पत्नी और पुत्र की कुशल-क्षेम पूछ लिया करता था। नौकरी से इस्तीफ़ा दे ही चुका था, दूसरा कोई काम-धन्धा था ही नहीं, बस दिनभर बैठे-बैठे बन्दी-जीवन-सम्बन्धी साहित्य पढ़ा करता, और जो मेरे पास आते उनसे यही कहा करता—देखो, हम लोगों पर कैसा अत्याचार हो रहा है। तीन पाउण्ड टैक्स भरने वाले भाइयों और बहिनों की दुर्गति बयान से बाहर है ही, अब 'जले पर नमक' के अनुसार यह विधान हुआ है कि वे यहाँ के निवासाधिकारी (Domicile) भी नहीं माने जायँगे, और देश जाने पर फिर यहाँ लौटकर नहीं आ सकेंगे। अब तक दक्षिण अफ्रिका में जन्मे हुए भारतीयों को केप-कॉलोनी में जाने की आज़ादी थी, पर इस अधिकार पर भी क़ानूनी कुठार चल गया। फ्रीस्टेट में प्रवेश

करने वाले भारतीयों को पहले ही ग़ुलामी का यह पट्टा लिख देने का नियम है कि हम वहाँ जाकर कोई तिजारत या खेती-बारी नहीं करेंगे और यदि करेंगे भी तो गोरों की ग़ुलामी के सिवाय और कुछ नहीं। एक और भयङ्कर बात यह हो गई है कि जस्टिस सरल के फ़ैसले ने भारतीय धर्म पर भी भयानक आघात पहुँचाया है। अब यहाँ हमारे धर्मानुसार किए हुए विवाह अप्रामाणिक माने जायँगे, और हमें कोर्ट में जाकर शादी की रजिस्ट्री करानी पड़ेगी; और जो ऐसा नहीं करेंगे, उनकी स्त्रियाँ रखेली और उनके बच्चे दोगले समझे जायँगे। इस तरह वर्त्तमान स्थिति का भेद बताकर मैं अपने भाइयों से सत्याग्रह में शामिल होने तथा जेल जाने की प्रेरणा किया करता।

इस प्रचार-कार्य का फल अच्छा ही हुआ। कई युवक मेरे साथ चलने को तैयार हो गए, पर वे सबके सब ग़रीब थे, और उन्हें इस बात की चिन्ता थी कि उनके चले जाने पर बाल-बच्चों का निर्वाह कैसे होगा? उनके लिए सहायता माँगने में मुझे कोई सङ्कोच था ही नहीं, अतएव मैंने कुछ धनवानों से मिलकर उन्हें इस चिन्ता से मुक्त करा दिया।

ता० ५ अक्टूबर को जर्मिस्टन-निवासियों की एक सार्वजनिक सभा हुई और दूसरी सभा हुई केवल भारतीय महिलाओं की। इन दोनों सभाओं में मेरे व्याख्यान हुए और इसका विवरण जोहन्सबर्ग के 'स्टार' पत्र में प्रकाशित हुआ। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि महिलाओं की सभा में मेरे सिवाय और किसी पुरुष

को जाने की इजाज़त नहीं थी, और मैं भी उनके विशेष आमन्त्रण पर ही गया था। फल यह हुआ कि कुछ स्त्रियाँ जेल जाने को तैयार हो गईं, पर कठिनाई यह थी कि वे जर्मिस्टन से बाहर नहीं जाना चाहती थीं। यदि वहीं पर सत्याग्रह हो, तो वे शामिल होने को वचन-बद्ध हुईं।

उसी समय जोहन्सबर्ग में श्री० प्रागजी देसाई, श्री० सुरेन्द्र-राय मेढ़ और श्री० मणिलाल गाँधी बिना परवाना फेरी करने के जुर्म में दो-दो बार गिरफ़्तार होकर जेल जा चुके थे। मैंने सोचा कि इसी उपाय का अवलम्बन जर्मिस्टन में भी होना चाहिए। अतएव ७ अक्टूबर को जर्मिस्टन में सत्याग्रह की शहनाई बजाई गई। मुझे पक्का विश्वास था कि यदि मैं साफ़-सुथरा कपड़ा पहिनकर फेरी करने निकलूँगा, तो शायद सफल-मनोरथ न हो सकूँगा। इसलिए मैंने एक फटा-पुराना चिथड़ा पहिन लिया। इसमें इतने पैबन्द लगे हुए थे कि शुमार करना मुश्किल था। इस कपड़े से मैं फेरी वाला तो क्या, बल्कि पूरा भिखारी बन गया। और जब सज-धज कर बाहर निकला, तो देखने वाले हँसी के मारे लोट-पोट हो गए। इसके पहले मुझे इस शक्ल-सूरत में कभी नहीं देखा गया था। एक मित्र ने कहा—भाइयो! हँसो मत। हँसने की कोई बात नहीं है। हमको चाहिए कि हममें से प्रत्येक आदमी अपनी जाति की पुकार पर इसी प्रकार भिखारी बनना सीखे। अस्तु—

हमारा यह दल दस पुरुष और छः स्त्रियों से सङ्गठित हुआ स्त्रियों में थीं श्रीमती बन्धु, श्रीमती नन्दन, श्रीमती सातावदल,

श्रीमती स्वयंवर, श्रीमती बिहारी और श्रीमती रघुवर और पुरुषों में श्री० लालबहादुरसिंह, गुलाबदास पुजारी, त्रिलोकीसिंह, शिवप्रसाद, रामनारायण, उमराव, रघुवर, गयादीन महाराज, लहौरिया और मैं। हम लोग अपने-अपने माथे पर टोकरे लेकर फिरी करने को निकल पड़े। जब शहर के बीच में पहुँचे, तब दर्शकों की खासी भीड़ लग गई। बाट चलने वाले बटोही भी खड़े हो जाते और इस दृश्य का रहस्य जानने की चेष्टा करते। यहाँ के नियमानुसार फ़ुट-पाथ पर बोझ लेकर चलना मना है, पर हमारे दल को कौन रोकता है? जब हम लोग चौराहों पर खड़े होकर ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगते—'केला चाहिए, नारङ्गी चाहिए, मूँगफली चाहिए, तब तो घर और बाहर सभी जगह के आदमियों का ध्यान हमारी ओर आकृष्ट हो जाता। अधिकांश गोरे समझते थे कि यह सत्याग्रहियों को पकड़ने के लिए सरकार को खुला चैलेञ्ज है, पर जब कोई अनजान ग्राहक हमें निरे फेरी वाले ही समझकर पास आ जाता और फलों का दाम पूछता तो उसे यह देखकर आश्चर्य होता कि एक पैसे की चीज़ का एक आना क्यों माँगा जाता है, और वह "बहुत महँगा" कहकर अपना रास्ता नापता। शहर भर घूम आए, तमाम गलियों के चक्कर काट आए और पुलिस का बार-बार ध्यान आकृष्ट करने से भी नहीं चूके, पर ग्यारह बज गया और गिरफ़्तारी की कोई सूरत नज़र न आई। विवश होकर हमें रेलवे-स्टेशन की शरण लेनी पड़ी।

इस विषय पर 'ट्रान्सवाल लीडर' ने लिखा था—"आज

दोपहर को जर्मिस्टन के स्टेशन पर बड़ी ही गड़बड़ी मची। स्टेशन के नवीन विशाल प्लेटफ़ॉर्म के मध्य भाग पर कोई ५० या ६० हिन्दुस्तानी औरत और मर्दों ने दखल जमा लिया। उनमें से सोलह मनुष्यों के हाथों में फेरी के टोकरे थे, प्रत्येक टोकरे में कुछ केले और एक दो अनन्नास थे और कुछ मुट्ठी मूँगफली भी। यह चीज़ें वे स्टेशन पर आए हुए गोरे-यात्रियों को बेचना चाहते थे। रेलवे के अहाते में फेरी करना वर्जित है, इसलिए पुलिस ने दखल दिया और उन्हें अच्छी तरह समझाया गया कि चाहे कोई किसी भी जाति या रङ्ग का मनुष्य क्यों न हो, रेलवे-अमलदारों की आज्ञा बिना यहाँ तिजारत नहीं कर सकता। मालूम पड़ता है कि इस बात का उन पर कुछ असर भी पड़ा और उन्होंने टेलीफ़ोन द्वारा श्री० गाँधी जी से सलाह पूछी, लेकिन उनके पास से उत्तर आया कि वहीं पर अड़े रहो और गिरफ़्तार करने के लिए पुलिस को मजबूर करो। अतएव शहीद होने के इन उम्मीदवारों ने पुनः अपना कार्य प्रारम्भ किया और जैसाकि उनकी इच्छा थी, वे गिरफ़्तार किए गए और उन पर रेलवे के अहाते में व्यापार करने का जुर्म लगाया गया। यह दृश्य अत्यन्त ही हास्यजनक था और नाटक की दृष्टि से बड़ा ही सफल अभिनय भी। किन्तु राजनीति के विचार से नितान्त ही निरर्थक था। शायद ही यह मामला मैजिस्ट्रेट के सामने पेश भी हो।"

अच्छा साहब ! यह नाटक ही सही, किन्तु क्या यह संसार ही एक नाट्यशाला नहीं है ? और बड़े-बड़े उथल-पुथल, बड़ी-बड़ी

क्रान्तियाँ, जातियों का उत्थान और पतन, राज्यों और साम्राज्यों का विकास और विनाश, क्या इसी रङ्ग-मञ्च के भिन्न-भिन्न दृश्य नहीं हैं ? अभी तो सत्याग्रह-नाटक का सूत्रपात ही हो रहा है ! दो-चार परदे बदलने दीजिए, फिर देखिएगा कि यह अभिनय कैसा रङ्ग जमाता है। तब तो आप विनोद की जगह आँसू बहाएँगे और इस खेलवाड़ को 'राजनीतिक स्थिति की गम्भीरता' का रूप देकर सरकार की गुहार मचाएँगे। जरा और सब्र कर जाइए।

'ट्रान्सवाल लीडर' ने अनजाने या जान-बूझकर अपने विवरण में एक यह ग़लती की कि पुलिस के उपदेश का हमारे ऊपर प्रभाव पड़ गया और इसीलिए हमनें महात्मा जी से सलाह माँगी। सच्ची बात तो यह है कि पुलिस नहीं, स्वयं स्टेशन-मास्टर हमारे पास आकर घिघियाने लगे कि मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि आप लोग फेरी वाले नहीं, वरन् सत्याग्रह के सिपाही हैं और नवीन क़ानून के विरोध में जेल जाना चाहते हैं, पर उचित तो यह है कि आप लोग मुझे कष्ट न देकर सरकार के किसी अन्य क़िले पर धावा बोलें। स्टेशन-मास्टर बड़े सज्जन पुरुष थे और बड़ी नम्रता से पेश आए। इसीलिए हमने महात्मा जी की राय लेना आवश्यक समझा था।

खैर, हम लोग किसी तरह पकड़े जाकर थाने पर पहुँचे। थानेदार ने तड़प कर कहा—तुम्हें जेल चाहिए न ! अच्छा चलो जेल में ! इस धमकी के बाद हम लोगों को नाम-धाम लिखकर हवालात में भेज दिया गया। उस समय जर्मिस्टन की हवालात में

घोर निस्तब्धता छाई हुई थी। मनुष्य थे सही, पर ऐसे गुपचुप थे कि उनकी आहट भी नहीं मिलती थी। इस बड़े घर के मेहमान अपने-अपने भाग्य के फ़ैसले सुनने के लिए मानो चिन्ता के अगाह जल में डूब रहे थे, किन्तु हमारे प्रवेश के साथ ही वह नीरव स्थान मनुष्यों की कण्ठ-ध्वनि से गूँज उठा। गीता-पाठ और गप्प-शप्प में जब दो बज गए, तब एक गोरे-सिपाही ने आकर स्त्रियों को एक कोठरी में और पुरुषों को दूसरी कोठरी में जाने का अनुरोध किया।

उस समय एक बड़े विनोद की बात हो गई। हमें कोठरी में बन्द करने से पहले उसमें पाख़ाने का बर्तन रख देना ज़रूरी था। इस काम के लिए सिपाही ने हमारे एक साथी को पसन्द किया। कोठरी में जाने के बाद इस बात की चर्चा छिड़ गई। बेचारे रघुवर ने पाख़ाने का बर्तन उठाया था और उसका चेहरा बिलकुल काला-कलूटा था। बस, श्री० लालबहादुरसिंह को विनोद करने का मौक़ा मिल गया, उन्होंने कहा—भाइयो! एक बात ग़ौर करने की है। भला इस गोरे-सिपाही को यह कैसे मालूम हो गया कि पाख़ाने का बर्तन उठाने योग्य यही आदमी है? इस काम के लिए किसी दूसरे को क्यों नहीं चुना गया? इसका काला-भुजङ्ग सा चेहरा देखकर पुलिस को अवश्य यह विश्वास हो गया कि इस मण्डली में यही एक भङ्गी है। इस विनोद से रघुवर बेतरह बिगड़ उठा, भला-बुरा बकने लगा, पर वहाँ ध्यान कौन देता है? सभी विनोद की वाटिका में बिहार कर रहे थे।

यों ही हँसी-मज़ाक में शाम के छः बज गए। एक पुलिस ने आकर हमें हवालात से बाहर निकाला और थाने पर चलने को कहा। हमने सोचा कि शायद आज ही कुछ दण्ड की व्यवस्था हो जायगी, किन्तु थाने पर पहुँचते ही कुछ और ही गुल खिला। थानेदार ने हमारे टोकरे वापिस देकर वहाँ से निकाल बाहर किया। कारण पूछने पर कहा गया—तुम्हारे लिए जेल में जगह नहीं है।

अब क्या करते? निराश होकर घर लौट आए।

नेटाल की सीमा पर असफल सत्याग्रही
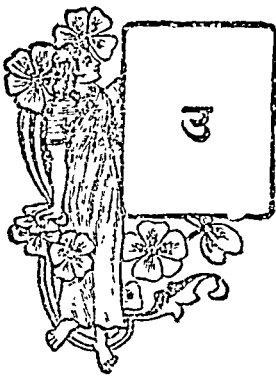
धर विरिनिगिङ्ग में ग्यारह स्त्रियों की पार्टी फेरी करके पकड़ाने की चेष्टा में विफल हुई। उनकी ग़ैर-क़ानूनी कार्यवाहियों को देखकर भी सरकार ने आँखें मूँद लीं और किसी तरह की छेड़खानी करना उचित नहीं समझा। वे हताश और नराश होकर नेटाल की सीमा पर जाने को उद्यत हुईं और वहाँ से जोहन्सबर्ग लौटीं। यद्यपि उनमें से अधिकांश महिलाओं का घर-बार जोहन्सबर्ग में ही था, पर वे गाड़ी से उतरकर घर जाने तथा अपने सगे-स्नेहियों से मिलने के लिए प्रस्तुत नहीं थीं—उन्हें अपने काम की लगन थी। इसलिए उनके बहुत से हित-मित्र पार्क-स्टेशन पर ही एकत्र हुए और वहीं पर उन्हें बधाई दी गई। स्टशन पर कुछ देर ठहरकर वे नेटाल की

गाड़ी पर सवार हुईं और उनके साथ श्री० थम्बी नायडू भी हो लिए। जब यह दल जर्मिस्टन के स्टेशन पर पहुँचा, तो वहाँ से मेरा दल भी उसमें जा मिला। मेरे दल में ७ पुरुष थे। अब कुल ११ स्त्रियों और ८ पुरुषों का एक संयुक्त दल बन गया। श्री० थम्बी नायडू अग्रनेता और मैं उपनेता बनाया गया। ट्रान्सवाल का यह पहला ही दल था, जो नेटाल की सीमा पर जा रहा था। श्री० पोलक साहब भी दरबन जाने के लिए इसी गाड़ी में सवार थे।

हम सबके सब असफल सत्याग्रही थे। सत्याग्रही की सफलता जेल जाने पर निर्भर है। यदि सरकार ने जेल या जुर्माने की सज़ा नहीं दी, तो समझिए कि या तो सत्याग्रही की उपेक्षा की गई अथवा जान-बूझकर आन्दोलन को विफल बनाने की चेष्टा। चाहे जो कुछ हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि ईश्वर की सभी लीलाओं में एक अज्ञात रहस्य छिपा रहता है और उसे साधारण मानवी बुद्धि नहीं समझ पाती। उस समय हम अपने उद्देश्य में अवश्य असफल थे, पर इस असफलता के गर्भ में एक क्रान्तिकारी घटना अदृष्ट है, यह भला कौन जान सकता था ?

यात्रा की भावी कथा सुनाने के पहले मुझे यह ज़रूरी जान पड़ता है कि मैं यहाँ अपने कुछ साथियों का संक्षिप्त परिचय दे दूँ, ताकि पाठक यह समझ लें कि इस दल में कैसे-कैसे स्वभाव और विचार के मनुष्य सम्मिलित थे। दल के अग्रनेता श्री० थम्बी नायडू का जन्म मोरिशस टापू में हुआ था। वे एक मद्रासी व्यापारी थे, तामिल बेनीफ़िट सोसायटी के सभापति थे, सत्याग्रह-युद्ध के

अनुभवी योद्धा थे, और कई बार जेल की यातनाएँ भोग आए थे। वे अङ्गरेजी, हिन्दी, तामिल, तेलगू, क्रिवेल और हबशी भाषा बोल सकते थे और उनमें नेतृत्व के सारे गुण मौजूद थे। एक और मद्रासी सज्जन थे, उनका नाम भी नायडू था। वे एक मामूली आदमी थे, पर अपने नेता की आज्ञा-पालन में दक्ष सिपाही थे। जर्मिस्टन मन्दिर के पुजारी श्री० गुलाबदास का क्या परिचय दूँ? वे थोड़ी सी गुजराती जानते थे, पर महत्वाकांक्षा के रोग से बेतरह पीड़ित थे। अङ्गरेजी तो आती ही नहीं थी, पर जब किसी से मिलते तो यह कहकर हाथ अवश्य मिलाते—'I am Hindu Priest', जिसका अर्थ यह होता कि मैं हिन्दू-पुरोहित हूँ। उनकी ऐसी भाषा पर कभी-कभी बड़ा क़हक़हा मच जाता, पर वे इसकी चिन्ता न करते। खूब ठाठ-बाट से रहते और महात्मा जी की तरह सिर खुला रखते। रामनारायण, शिवप्रसाद, गयादीन और रघुवर हिन्दुस्तानी थे। हिन्दी-भाषियों को वहाँ हिन्दुस्तानी ही कहा जाता है। ये लोग मज़दूर-वर्ग के ग़रीब आदमी थे। इनमें न विद्या का प्रकाश था, न बुद्धि की प्रखरता और न राजनीति का कोई ज्ञान ही। केवल अपने हक़ और अख़्तियार के लिए सब कुछ सहने को तैयार थे।

महिलाओं में श्रीमती थम्बी नायडू, श्रीमती पी० के० नायडू, श्रीमती पेरूमल नायडू, श्रीमती एन० पिल्ले, श्रीमती मुर्गासा पिल्ले, श्रीमती एन० एस० पिल्ले, श्रीमती चिनसामी पिल्ले, श्रीमती एस० टामी, कुमारी बायकम, कुमारी मिनाटजी और मेरी पत्नी

जगरानी थीं। इनमें हमारे नेता श्री० थम्बी नायडू की वृद्धा सास, पत्नी और साली; श्री० मोरगन की बहिन और भाञ्जी और दक्षिण अफ्रिका के भारतीयों के लिए अन्त समय तक काम करने वाले देशभक्त पी० के० नायडू की शीलवती सहधर्मिणी थीं। बायकम और सिनाट जी अविवाहिता युवती थीं और छः स्त्रियों की गोद में नन्हे-नन्हे बच्चे भी थे। इन महिलाओं में अधिकांश शिक्षित और समझदार थीं और इनके आचार-विचार उच्च थे।

ता० १० अक्टूबर की शाम को सात बजे हमारा दल नेटाल और ट्रान्सवाल की सीमा पर वॉल्क्रस्ट पहुँचा। यही सत्याग्रहियों के लिए युद्ध-क्षेत्र था—सीमोल्लङ्घन के अपराध में यहीं दण्ड देने की व्यवस्था होती थी। यहीं पर 'दक्षिण अफ्रिका के महान् वृद्ध पुरुष' पारसी रुस्तम जी, माता कस्तूरीबाई तथा अनेक सत्याग्रही नर-नारी दण्डित हो चुके थे। हम लोग भी इसी आशा और विश्वास से आए थे कि हमारे भाग्य का भी कुछ न कुछ निर्णय यहाँ अवश्य हो जायगा।

रेलवे के प्लेटफ़ॉर्म पर गाड़ी लगते ही इमिग्रेशन-अमलदार का शुभागमन हुआ और सनातन नियमानुसार 'पास' का तक़ाज़ा। इधर से उत्तर दिया गया कि 'पास' हममें से किसी के पास नहीं है। 'फिर गाड़ी पर से उतरो' यह आज्ञा हुई। हम उतर पड़े और इमिग्रेशन-अमलदार के साथ थाने पर गए। वहाँ थानेदार ने हम लोगों का पूरा नाम-धाम जानने की बड़ी कोशिश की, लेकिन उसे सफलता न हुई। हमने अपने आधे नाम बताए, जैसे—थम्बी,

दयाल, गुलाब, प्रसाद, नारायण इत्यादि। थानेदार अधिक कर ही क्या सकते थे ? जो कुछ हमने बताया, लिख-लिखाकर छुट्टी पा गए। इसके बाद हमें वहाँ से एक मील के फ़ासले पर एक कैम्प में भेज दिया गया।

उस रात को थानेदार के साथ भोजन के वास्ते बड़ी ही धींगा-धींगी हुई। उसका विचार था कि रात को हम लोग पेट पर पट्टी बाँधकर सो जायँ या अपने पैसे से ख़रीद कर खायँ। हमारा दावा यह था कि हमें गिरफ़्तार किया गया है और इस वक्त हम हिरासत में हैं, अतएव खाने-पीने और सोने के इन्तज़ाम करने का सारा भार पुलिस-अमलदार पर है। रात बहुत बीत चुकी थी। बड़ी कठिनाई से पुलिस वालों ने कहीं से रूखी रोटी का प्रबन्ध किया। कुछ मुरब्बा हमारे पास था, किसी तरह उपवास करने का अवसर न आया। पर सोने में जो दिक़्क़त हुई वह बयान से बाहर है। पुलिस वालों की ओर से हमें एक भी कम्बल नहीं मिला। हमारे पास जो दो-चार कम्बल थे वह स्त्री-बच्चों को दे दिए गए। यद्यपि बॉल्क्रस्ट के व्यापारियों ने हमारे आराम के लिए कम्बल देने की इच्छा प्रकट की थी, पर हमने धन्यवादपूर्वक यह कह-कर लेने से इन्कार किया कि सरकार के मेहमान होने के कारण हम किसी दूसरे को कष्ट देना या उनसे सहायता लेना उचित नहीं समझते। वहाँ अन्य तीन सत्याग्रही भी ठहरे हुए थे, उनके ऊपर दूसरे दिन मामला चलने वाला था। वे ओढ़ने के लिए व्यापारियों से कुछ कम्बल माँग लाए थे उनके

बिछौने के अन्दर हमारे दो-एक साथी, जो सर्दी की निष्ठुरता नहीं बर्दाश्त कर सके, घुस पड़े। मेरे पास ओवरकोट था, उसे पहिन कर लेट रहा। श्री० थम्बी नायडू कोई पुस्तक पढ़ने में मग्न हुए।

वॉल्कस्ट में बड़ी सर्दी पड़ती है और प्रायः बर्फ़ भी गिरा करती है, जिससे मालूम पड़ता है कि धरती पर सफ़ेद चादर बिछी हुई है। उस रात जब जाड़े का जोर हुआ, तब लोगों के हाथ-पैर ठिठुर गए, शरीर में कँपकँपी पैदा हुई, दाँत लगे खटाखट बजने और घुटने-पहुँचे मुँह चूमने! बेचारी नींद दुम दबाकर ऐसी भागी, जैसे शेर के शोर से सियार! राम-राम रटते रात कटी। प्रातःकाल सूर्य की लाली इतनी प्यारी लगी जितनी कि भुक्खड़ों के सामने परसी हुई थाली। ख़ैर, बड़े सबेरे उठकर आग जलाई गई और फिर चाय-कॉफ़ी पीने पर मिज़ाज कुछ दुरुस्त हुआ।

यह भरोसा किया जाता था कि आज (१० अक्टूबर को) हमारे ऊपर मुक़दमा चल जायगा और यदि सज़ा भी न मिलेगी, तो भी यहाँ से लौट जाने का बाजाब्ता नोटिस तो हम पर अवश्य तामील हो जायगी। दस बजे कचहरी में हाज़िर होने पर न हमारी पुकार हुई न मामले की सुनवाई, और न नोटिस की तामीली। अलबत्ता उन तीन आदमियों को तीन-तीन मास क़ैद की सज़ा मिल गई, जो गत रात्रि को हमारे ही साथ कैम्प में टिके थे। एक बजे हमें फिर थाने पर बुलाया गया और गृह-सचिव (Minister of Interior) का तार सुनाकर कहा गया कि अब आप लोग आज़ाद

हैं—जहाँ चाहें जा सकते हैं, चारों ओर दरवाज़ा खुला हुआ है और सरकार मुक़दमा चलाना नहीं चाहती।

आश्चर्य! महदाश्चर्य!! क़ानून की अवहेलना पर भी सरकार का यह रुख़ क्यों? इसी अपराध में अभी-अभी तीन मनुष्य दण्डित हुए हैं और आज से पहले भी दो दर्जन से अधिक, जिनमें आधे दर्जन महिलाएँ भी! फिर हमारे साथ यह रियायत क्यों? सरकार के इस निश्चय का रहस्य क्या है? इन शङ्काओं का समाधान करना कठिन था, पर जैसा कि हम लिख चुके हैं, ईश्वर की इच्छा में कोई न कोई भेद अवश्य छिपा रहता है।

हमारे कुछ अबोध और अपढ़ साथी तो बेतरह बिगड़ उठे और कहने लगे—जहाँ-जहाँ इन देवियों का चरणारविन्द जायगा, वहाँ-वहाँ की राह साफ़ होती जायगी और सरकार इस पार्टी को हर्गिज़ नहीं पकड़ेगी। हम नाहक़ क्यों इनके साथ इधर-उधर मारे-मारे फिरें, चलो अपने घर चलें। कुछ कहते—अब कौनसा मुँह लेकर घर लौटें, वहाँ जाकर लोगों को क्या जवाब देंगे सहज उपाय तो यह है कि इस दल से नाता तोड़ लिया जाय और हम लोग अपना अलग दल खड़ा करें। हमारा दल पुनः सीमोल्लङ्घन करे, गिरफ्तार होना निश्चित ही है और इस प्रकार जेल में पहुँचे। नायडू और दयाल तो स्त्रियों के साथ रहेंगे ही, बस उनकी कोई चिन्ता नहीं है। ऐसी बातचीत सुनकर श्री० थम्बी नायडू कुछ चिन्तित तो अवश्य हुए, पर मुझे इन अबोध भाइयों पर दया ही आई और ख़ुशी भी हुई। मैं उनके स्वभाव से थोड़ा-बहुत जानकारी

रखता था और मुझे मालूम था कि उन्हें जेल जाने के सिवाय और किसी बात से कोई वास्ता नहीं है। उनके विचार परिस्थिति के प्रतिकूल भले ही हों, पर थे प्रशंसनीय ही। उन्हें अब बाहर रहना पसन्द नहीं था और वे तुरन्त जेल में पहुँचने के लिए आतुर हो उठे। यद्यपि अपने माने हुए सेनापति की आज्ञा की अवहेलना करना नियम और संयम की दृष्टि से सिपाही के लिए बड़ा ही अनुचित कार्य है, तो भी उनकी निष्ठा की निर्दोषिता में क्या सन्देह, जबकि वे कष्ट भोगने में किसी से पीछे रहना नहीं चाहते थे। ख़ैर, मेरे बहुत समझाने-बुझाने पर वे शान्त हो गए।

शाम को सात बजे की गाड़ी से हम वॉल्क्रस्ट से चर्लिस्टन के लिए रवाना हुए। अगला स्टेशन ही चर्लिस्टन था और उसपर बिलकुल निकट ही। ट्रान्सवाल से जाते समय नेटाल की सीमा पर चर्लिस्टन ही पहला स्टेशन पड़ता है। हमने सोचा कि वॉल्क्रस्ट ट्रान्सवाल के अन्तर्गत है और शायद सरकार की यह चाल हो कि यहाँ न पकड़ने से पिण्ड भी छूट जायगा और क़ानून की मर्यादा भी बच जायगी। अतएव चर्लिस्टन पहुँचने पर यदि यह राजनीतिक चाल होगी तो उसका ख़ुलासा हो जायगा।

संयोग-वश उसी गाड़ी से महात्मा गाँधी और मि० केलनबेक दरबन जा रहे थे, अतएव उनसे सलाह करने का बढ़िया मौक़ा मिल गया। महात्मा जी, मि० केलनबेक, श्री० नायडू और मैं एक तीसरे दर्जे के डिब्बे में इकट्ठे हो बैठे और यह विचार होने लगा कि अब क्या करना चाहिए? समय बहुत थोड़ा था, चर्लिस्टन

पहुँचने में दस मिनिट से अधिक नहीं लगता, फिर भी यह निश्चय हो गया कि यदि चर्लिस्टन में गिरफ़्तारी की कोई सूरत नजर न आए, तो यह दल कोयले की खानों पर पहुँचे और मजदूरों को हड़ताल के लिए उभाड़े। भारतीय मज़दूरों में न सङ्गठन है, न चैतन्यता और न अवस्था का परिज्ञान ही। वे हड़ताल करेंगे या नहीं, इसमें सन्देह ही है; पर यह हो सकता है कि हमारे दल को वर्जित स्थान में प्रवेश करने के गुनाह में दण्ड मिल जाय। चलती गाड़ी में चार मनुष्यों की यह छोटी सी सभा क्या हुई, मानो एक महान् क्रान्ति की नींव पड़ गई। युद्ध का रूप ही बदल गया और इतिहास में एक नया खण्ड शुरू हुआ।

महात्मा जी और मि० केलनबेक तो सीधे दरबन चले गए, किन्तु हम लोग चर्लिस्टन में उतर पड़े। एक हिन्दुस्तानी सिपाही ने आकर 'नेटाल-पास' की जाँच की, पर जब उसे यह मालूम हुआ कि हम लोग बिना पास के ही नेटाल में घुस आए हैं, तब उसने दौड़कर अपने बड़े साहब को सूचना दी। बड़े साहब ने फ़रमाया—इनको पकड़ने की ज़रूरत नहीं है। सिपाही महाशय आश्चर्य-चकित होकर लौट आए और अफ़सर के हुक्म से आगाह किया। हम लोग सरकार को ख़ुद अपने रौब (Prestige),नियम और व्यवस्था (Law and Order) की इस प्रकार अवहेलना और लापरवाही करते हुए देखकर बड़े चिन्तित हुए। आगे बढ़ने के लिए उस वक्त कोई दूसरी गाड़ी मिल हीं नहीं सकती थी, इसलिए वह रात श्री० अलीपीर भाई के मकान पर बिताई गई।

ता० १२ अक्टूबर रविवार को हम लोग वहाँ से प्रस्थान करने का इरादा रखते थे, किन्तु अरुणोदय के साथ ही एक ओर से घनघोर घटा घिर आई और मूसलाधार वृष्टि होने लगी। वृष्टि भी ऐसी कि घर से बाहर पाँव रखना कठिन। बेचारे पीर भाई तो हमारी सेवा में लगे हुए थे, पर उनकी बीबी और बच्चे का व्यवहार कुछ रूखा सा मालूम हुआ। इसलिए हमारे दल की स्त्रियों में बड़ा असन्तोष फैला और वे उसी क्षण, वृष्टि की उसी अटूट धारा में, वहाँ से चलने को उद्यत हो गईं। बहुत-कुछ कहने-सुनने पर उनका मन शान्त हुआ और यह भी निश्चय हुआ कि अगले दिन अवश्य यहाँ से खेमा उखड़ जाय।

हड़ताल का मङ्गलाचरण
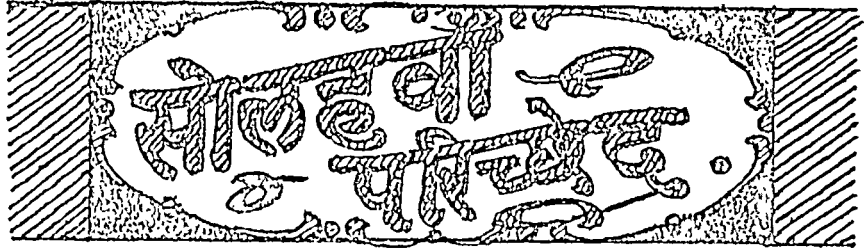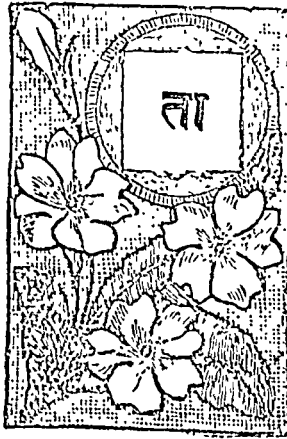
तारीख़ ३१ अक्टूबर को हम चर्लिस्टन से रुख़सत हुए और दोपहर को न्यूकासिल पहुँचे। स्टेशन पर बहुत से हिन्दुस्तानी मिले और उन्होंने हमारा यथोचित आगत स्वागत किया। हमें शहर में ले जाने के वास्ते स्टेशन पर कुछ बग्घियाँ भी खड़ी थीं। इस स्नेहमय सत्कार के लिए न्यूकासिल के भाइयों का हमने उपकार माना, और गाड़ियों में बैठने से धन्यवादपूर्वक इन्कार किया। गोड़े-गोड़े चलकर हम लोग शहर में पहुँचे और मि० डी० लाजरस के मकान पर ठहरे।

मि० डी० लाजरस एक मद्रासी ईसाई थे, और इनके दिल में दीनों के लिए दर्द था। इनकी पत्नी और इनकी साली—कुमारी थोमस का बर्ताव बड़ा ही विवेकपूर्ण था। जब तक हम न्यूकासिल में रह सके, तब तक इन्हा के मकान पर; और इनका मकान

तो मानो हमारा ही मकान बन गया था। श्रीमती लाजरस और कुमारी थोमस हमारे सेवा-सत्कार में इतनी व्यस्त रहतीं कि उन्हें खाने की न चिन्ता होती और न आराम की पर्वाह सबेरे से आधी रात तक पकाने और खिलाने में लगी रहतीं, और जब बीच-बीच में कुछ छुट्टी पातीं, तब अपनी सत्याग्रही बहिनों को खुश रखने की चेष्टा किया करतीं। वास्तव में लाजरस का मकान सत्याग्रह का एक आश्रम ही बन गया। हमारे दल में न 'तीन कनौजिया' थे और न 'तेरह चूल्हे' का बखेड़ा ही। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—सभी हिन्दू इस क्रिश्चियन-घर में इन ईसाई-देवियों का पकाया हुआ खाते और उनकी सराहना करते। जो जैसा था वैसा ही रह गया। न किसी का धर्म डूबा और न किसी की जाति गई। इस प्रसङ्ग में मुझे एफ़्राहिम-बन्धुओं को भी नहीं भूलना चाहिए। दोनों भाई हिन्दुस्तानी ईसाई थे। एक चित्रकार था और दूसरा अध्यापक। इनका प्रेमपूर्ण व्यवहार और सत्याग्रह के प्रति भक्ति-भाव प्रशंसनीय था।

आज ही रात को सात बजे सेण्ट ओसवल्ड स्कूल (Saint Oswald's School) में न्यूकासिल-प्रवासी भारतीयों की एक सार्वजनिक सभा हुई। सभा में व्यापारी और मज़दूर दोनों वर्ग के मनुष्य उपस्थित हुए। कुछ योरोपियन भी आए। सभापति के आसन पर श्री० इस्माइल सीदात विराजे। इस सभा में श्री० थम्बी नायडू ने और मैंने जो व्याख्यान दिए, वह १८ अक्टूबर को नेटाल विटनैस' (Natal Witness) में छपे। दोनों भाषण ऐसे

थे, जिनका श्रोताओं पर अच्छा असर हुआ। मि० एस० आर० रोबिन्स भी कुछ बोले और अपनी तथा अपनी पत्नी की ओर से भारतीयों के प्रति सहानुभूति प्रकट की। न्यूकासिल के कई भारतीय भाइयों ने भी सत्याग्रह का समर्थन किया, जिनमें एफ़हिस-बन्धु, लाजरस, आर० एम० करियन, एस० एम० पिल्ले और एस० आर० चेटी मुख्य थे। कुछ सत्याग्रही देवियों के बोलने के बाद सत्याग्रह-समिति क़ायम हुई और महात्मा गाँधी की जय-ध्वनि के साथ सभा की समाप्ति।

इसके दूसरे ही दिन (१४ अक्टूबर को) उस अद्भुत हड़ताल का मङ्गलाचरण हो गया, जिससे दुनियाभर में हलचल मच गई। उस दिन प्रवर्त्तकों को भी खबर नहीं थी कि यह हड़ताल निकट-भविष्य में देश-व्यापी हो जायगी और अहिंसात्मक क्रान्ति का रूप धारण कर लेगी। वास्तव में वह दिन दक्षिण अफ्रिका के इतिहास में बड़े महत्व का था। सत्याग्रह ने हड़ताल का सहारा लिया। अब तक सत्याग्रह में सीमोल्लङ्घन करके जेल जाने की परिपाटी थी, किन्तु आज उसका रूप बदल गया। क्रान्तिकारी हड़ताल की आवाज़ से सोई हुई मजदूर-शक्ति जाग पड़ी। मजदूरों में एक विलक्षण चैतन्यता उत्पन्न हुई। जो केवल कुलीगिरी की मशीन माने जाते थे, वे आज खम ठोककर अत्याचारी शक्ति से लड़ने को खड़े हो गए।

हमारे आने की शहर में शोहरत हो गई थी। बहुत से औरत और मर्द हमसे मिलने और बातचीत करने के लिए दिनभर

आते रहे। उन्हें सन्देह था कि हम मुट्ठीभर आदमी कुछ कर भी सकते हैं। वे आश्चर्य में आकर पूछते—इस लड़ाई में जीत कैसे होगी ? सरकार सबको पकड़कर जेल भेज देगी, तब क्या होगा ? इस प्रकार के सवाल प्राय: वही लोग करते, जो व्यापारी-वर्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं। मज़दूर बेचारे तो अपने कामों पर थे। उन्हें पाँच बजे से पहले छुट्टी कहाँ ? जो एकाध इधर-उधर से आ भी जाता, तो उसे 'देवियों के दर्शन' के सिवाय इस प्रकार सवाल करने की ज़रूरत ही क्या ? न उसमें तर्क करने की सूक्ष्म बुद्धि ही थी और न कष्ट सहने के भय से बहाना बनाने की आदत ही। उनके हृदय में भक्ति की निर्मल धारा बह रही थी। पूछने वालों को हम यही जवाब देते—जब सत्य और न्याय हमारे पक्ष में है, तब फिर चिन्ता किस बात की ? हम जानते हैं कि हमें जेल की सज़ा मिलेगी और तकलीफ़ उठानी पड़ेगी, पर इसी के लिए तो हम घर से निकले ही हैं। यह कौन सी बड़ी बात है ? यदि आग में कूदने और फाँसी पर झूलने का भी अवसर आए, तब भी हम सत्यव्रत से विचलित न होंगे। ठहरिए और देखिए (Wait and see), इतनी कृपा अवश्य रखिए कि यदि आप हमारी सहायता न कर सकें, तो कोई हर्ज नहीं; पर ऐसा कोई काम न कीजिएगा, जिससे इस आन्दोलन को धक्का लगे।

शाम को हमारा दल रेलवे-बारक पर धावा बोलने को रवाना हुआ। सड़कों पर यत्र-तत्र दर्शनातुर मनुष्यों का जमाव था और बहुत से लोग अपने घरों के बरामदे में खड़े होकर हमारी ओर

आदर और आश्चर्य की दृष्टि से देख रहे थे। हम रेलवे-बारक में पहुँचे, साँझ की बेला थी, मज़दूर काम से छुट्टी पा चुके थे। हमारे आने की ख़बर पाते ही सब एक जगह इकट्ठे हो गए। श्री० थम्बी नायडू तामिल में बोले और मैंने हिन्दी में बोलना शुरू किया। वहाँ किसी अन्य भाषा की ज़रूरत भी नहीं थी, क्योंकि सभी मज़दूर मद्रासी और हिन्दुस्तानी थे। मैं बोल ही रहा था कि उसी समय स्टेशन-मास्टर पहुँच गए और मुझे रोककर पूछ बैठे—तुम देखने में योरोपियन जान पड़ते हो। मैंने उत्तर में कहा—आपको शायद रतौंधी होती है। मैं वास्तव में एक हिन्दुस्तानी हूँ।

स्टेशन-मास्टर—इस सरकारी अहाते में तुम किसकी आज्ञा से आए और तुम्हारा यहाँ क्या प्रयोजन है?

मैं—किसी की आज्ञा से नहीं। प्रयोजन यह कि अपने भाइयों को समझा दें कि जब तक तीन पाउण्ड वाला टैक्स न रद्द हो जाय, तब तक गोरों की नौकरी हराम कर दें।

स्टेशन-मास्टर—इन कुलियों से तुम्हारा भाई-चारा कैसा? तुम तो एक सभ्य, शिक्षित और ऊँचे दर्जे के आदमी जान पड़ते हो।

मैं—यह सब आप क्या बक रहे हैं? हममें न कोई ऊँच है और नीच—सब बराबर हैं। इसमें शक नहीं कि गोरों की ग़ुलामी ने हमारे भाइयों को इस अधम अवस्था में पहुँचा दिया है, अतएव हम उन्हें उनकी यथार्थ स्थिति का बोध करा देना चाहते हैं।

इस पर स्टेशन-मास्टर जल-भुनकर ख़ाक हो गए और लगे

दुर्वचन बकने, धमकियाँ देने और चाबुक फटकारने, पर इधर भी कौन था डरने वाला ? बेचारे कूद-फाँदकर थक गए, उकता गए और लाचार हो गए। पुलिस-सुपरिन्टेण्डेण्ट के पास फ़र्याद पहुँची, वे साहब दौड़े हुए आए और गोरे तथा हबशी सिपाहियों की सेना भी साथ लाए। स्टेशन-मास्टर के इशारे से उन्होंने श्री० नायडू को और मुझको गिरफ़्तार किया। बेचारा रामनारायण भी कूद कर हमारे पास आ बैठा और उसकी भी गिरफ़्तार हुए असामियों में गिनती हो गई।

अब तो हमारे दल के मनुष्यों में बड़ा कोलाहल मचा। सबके सब पकड़वाने के लिए अधीर हो उठे। उस दृश्य का क्या वर्णन करें? मर्द लगे पुलिस-अफ़सर के सामने चिल्ला-चिल्लाकर चैलेञ्ज देने कि पकड़ो, हमें भी पकड़ो। औरतें घरों में घुस पड़ीं और मज़दूरों की बाँहें पकड़-पकड़ कर बाहर खींचने लगीं। हमारे दल की श्रीमती टोमी बड़े उग्र स्वभाव की महिला थीं। वह स्टेशन-मास्टर और पुलिस-अफ़सर पर टूट पड़ीं और उन्हें भला-बुरा भी कहने से न मानीं। उस समय यदि हम लोग नियम और संयम का उपदेश न करते, तो एक अप्रिय घटना घट जाने में देर न लगती। हमने पुलिस-अफ़सर को भी समझाया कि इसमें न कोई नेता है और न अनुयायी, सबके सब सत्याग्रही हैं। अतएव सभी को पकड़ना चाहिए, पर कुछ फल न हुआ और हम लोगों का चालान हो गया।
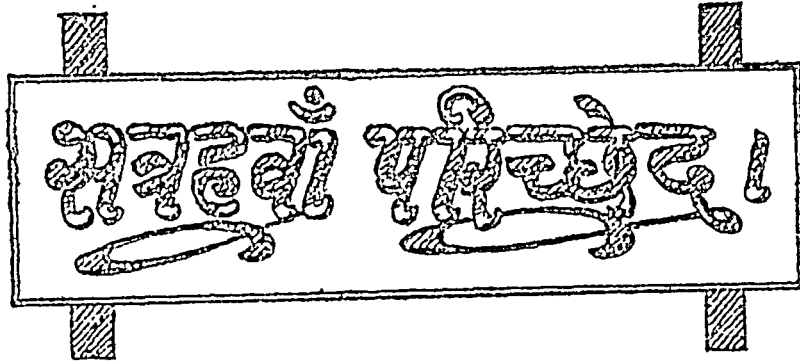
कारागृह में आत्म-विकार और आत्म-बोध
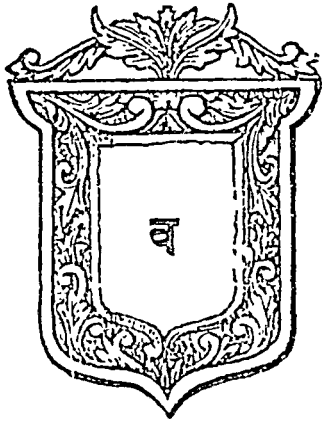
हाँ से पकड़े जाकर हम लोग न्यूकासिल की जेल में लाए गए। जेल की ऊँची-ऊँची दीवारें बड़ी डरावनी मालूम पड़ीं, फाटक पर लोहे के सींख़चे लगे हुए थे और नङ्गी तलवार लिए पहरेदार खड़े थे। पुलिस-अफ़सर के इशारे पर जेल का विशाल फाटक खुला। हम लोग अन्दर घुसे। रात के ९ बज गए थे। हमारी तलाशी हुई, पास की चीज़ ले ली गई और जेल की एक कोठरी में सोने का हुक्म हुआ। वहाँ आराम करने के लिए सीमेण्ट का फ़र्श था ही, ऊपर से ओढ़ने-बिछाने के लिए दो-दो कम्बल भी मिले और हमारे सुभीते के लिए पाख़ाने का बर्तन भी रख दिया गया। दरवाज़ा बन्द होते ही उस कोठरी में ऐसी अँधियारी छाई कि हाथ पसारने पर भी कुछ नहीं सूझता

था। मैं अपनी आँखें फाड़-फाड़कर देखने की चेष्टा करता, पर उस काली-कलूटी कोठरी में जो कुछ दिखाई देता वह काला ही काला। काले की करामात का क्या कहना? काली दीवारें, काला फ़र्श, काली छत, काले कम्बल, काला बर्तन और काले हम लोग भी। मैंने सोचा, इसका कारागृह नाम उपयुक्त ही है।

बारक वाली घटना की समालोचना करके श्री० नायडू और रामनारायण तो सो गए और ऐसे सोए कि देह की भी सुध-बुध न रही और उनकी नाकें ख़र्राटे छोड़ने लगीं, पर मुझे नींद कहाँ? एक ओर तो मन में विचारों का ताँता बँधा हुआ था, और दूसरी ओर हुआ खटमलों का आक्रमण। अपने पसन्द की जगह पर हमें डेरा जमाए हुए देखकर खटमलों को बड़ा क्रोध आया और उनकी सेना हम पर आक्रमण करने के अभिप्राय से दीवारों के सूराख़ से निकल पड़ी। उस समय की करुण-कहानी बयान से बाहर है। पहले उस फ़ौज ने हमारे बिस्तर पर क़ब्ज़ा किया और फिर निर्दयतापूर्वक सारे शरीर पर। ताज़ा रक्त चूसकर एक-एक खटमल अपनी तृप्ति करने लगा, और शरीर पर बड़े-बड़े फफोले करके हमारी आवभक्ति भी। उनसे लड़ना सहज नहीं था। जब मैं ख़ूब सफ़ाई का हाथ दिखाता, तो उस सेना के दो-चार सिपाही अवश्य चल बसते, पर चलते-चलते भी दुर्गन्ध की ऐसी पिचकारी छोड़ते कि सिर में चक्कर आ जाता। मैं इस सेना की मार से बेकार हो गया और लगा छटपटाने। कभी उठता, कभी बैठता कभी खड़ा होता और कभी लेट जाता, पर किसी हालत में चैन

नहीं । इस दुर्गति से मैं इतना अधीर हो उठा कि अचानक मेरे मुँह से यह पद्य निकल पड़ा :—

जिसने स्वतन्त्र रहकर दिन अपने हों गुज़ारे !
उसको भला खबर क्या, यह कैद क्या बला है !!

मैं सोचने लगा—क्या इसी जगह पर आकर अमेरिकन सत्याग्रही थैरियो हँसता था और अपने को पूर्ण स्वतन्त्र समझता था ? क्या ऐसे ही स्थान में बैठकर लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' की, योगी अरविन्द ने 'जेल के अनुभव' की और लाला लाजपतराय ने 'निर्वासन-कथा' की सिर्जना की थी ? जॉन बनियन का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' और रेले का 'संसार का इतिहास' क्या ऐसे ही जेल में लिखा गया था ? क्या इसी जेल को आयर्लैण्ड के प्रसिद्ध देशभक्त मायकल डेविट क्रान्तिकारियों का विश्वविद्यालय कहा करते थे, और क्या महात्मा जी का प्यारा यही जेलखाना है ? क्या इसी को लोग स्वर्ग की उपमा दिया करते हैं ? यदि यही स्वर्ग है, तो नरक कहाँ है ? भले ही महापुरुषों के साथ इस नरक में भी स्वर्गीय विभूति का सितारा चमक उठता हो, पर मुझसे साधारण व्यक्ति के लिए तो यह बात नहीं है । मैं इतना उद्विग्न और व्याकुल हुआ कि यदि उस समय वश चल सकता, तो मैं कूदकर स्वतन्त्र वायु में साँस लेता ।

सच है, दुःख में बहुत जल्द महाप्रभु की याद आती है । मेरे विचारों की धारा पलटी और ईश्वर का ध्यान आया—हे प्रभो !

यह क्या ? मैं कहाँ से कहाँ आ पहुँचा ? सत्यव्रत, सत्साहस और सत्याग्रह की मेरी शुभ-भावनाएँ आत्म-विस्मृति के अगाध जल में कहाँ जा डूबीं ? कारागृह की पहली ही रात क्या मेरे लिए पहाड़ हो गई ? क्या मैं नहीं जानता था कि इस राह में रेशम के मुलायम गद्दे नहीं—कङ्कड़-पत्थर के ऊँचे-नीचे खन्दक हैं; खिले हुए फूलों की फुलवारी नहीं—काँटों के कटीले जङ्गल हैं; सूरज की किरणों से चमकता हुआ उजाला दिन नहीं—आपत्तियों से घिरी हुई अँधियारी रात है ? सब कुछ जान-बूझकर ही तो मैंने यह व्रत अङ्गीकार किया। हे प्रभो ! मुझे साहस दो, शक्ति दो, सहारा दो; ताकि दारुण दुख में, शोक में, सङ्कट में—कभी मैं सत्य से विमुख न होऊँ। करुणानिधे ! मुझे यश की इच्छा नहीं है और न अपयश की पर्वाह ? मैं नहीं चाहता कि मेरा जीवन-सुमन किसी इतिहास-माला का मनका बने, या लक्ष्मी के गले के हार में गूँथा जाय। यदि कुछ इच्छा है, तो यही कि अपनी आन पर अड़ते और अपने देश की शान पर मरते हुए देशभक्तों के समूह ने जिस सड़क को साफ़ कर दिया है, उसी सड़क पर चलते-चलते मेरे जीवन की अन्तिम साँस निकले।

इस आत्म-बोध से मेरे मन और मस्तिष्क को बड़ी शान्ति मिली और मैं खटमलों की शर-शैया पर ऐसा सोया कि जगाने पर ही जाग सका। ख़ैर, रात कटी; भोर हुआ, हम लोग जेलर के सामने हाज़िर हुए। हमसे दस उँगलियों की छाप माँगी गई, परन्तु सज़ा होने के पहले हम ऐसी छाप क्यों देने लगे ? यह कहाँ का

नियम है ? पर जेलर के सामने इन तर्कों का क्या मूल्य ? हमारी गर्दनें पकड़ी गईं, धक्के दिए गए और ज़बरदस्ती उँगलियों की निशानी भी ले ली गई। इस शिष्टाचार के बाद हम पुलिस के पहरे में कचहरी चले। श्री० नायडू और रामनारायण के हाथों में हथकड़ी पड़ गई, लेकिन मैं इस सम्मान से बच गया अथवा यों समझिए कि मेरी पतली कलाई के योग्य कोई हथकड़ी ही नहीं मिली।

अदालत पर आदमियों की भीड़ उमड़ी हुई थी। अतएव एक बन्द कमरे में हमारे मामले की सुनवाई हुई। मैजिस्ट्रेट साहब ने सब कुछ सुनकर 'वर्जित स्थान में प्रवेश' करने का जुर्म रद कर दिया और हमारे ऊपर 'मज़दूरों के बहकाने' का जुर्म नए सिरे से क़ायम हुआ। यथाविधि मुक़दमा चला और हम पर दो-दो पाउण्ड जुर्माने हुए। इधर जुर्माना कौन देता है ? साफ़ कह दिया गया कि यदि जेल भेजना हो तो भेज दीजिए, अन्यथा जुर्माना पाने की आशा छोड़ दीजिए। पर आश्चर्य कि मैजिस्ट्रेट ने अपनी या अदालत की इस मानहानि की तनिक पर्वाह न की और यह कहकर छोड़ ही दिया- अच्छा जाओ, मैं जुर्माना वसूल करने का उपाय सोच लूँगा।

ख़ैर, यदि मैजिस्ट्रेट साहब उस समय हमें जेल भेज देते, तो सम्भव था कि प्रारम्भिक अवस्था में हड़ताल को कुछ धक्का लग जाता; किन्तु इसमें उनके समझ की क्या भूल, जबकि ईश्वर का ही यह मनोगत सङ्केत था कि यह हड़ताल ऐसा गम्भीर और व्यापक रूप धारण करे कि बेचारे हज़ारों ग़रीब भारतीयों को तीन पाउण्ड 'ख़ूनी कर' से रिहाई मिल जाय।

खानों में हड़ताल
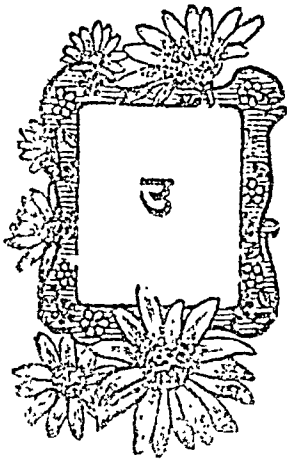
सी दिन (१५ अक्टूबर) शाम को मामले के चक्र से छुट्टी पाने पर हम सदल 'फ़यर्ली कोलरी' के बारक में गए। इस बारक में बहुत से मज़दूर रहते थे और वे कोयले की खान में काम करते थे। शर्तबँधे मज़दूरों की स्थिति देखने का मुझे यह पहला ही अवसर मिला था, अतएव मैं बारक का वातावरण देखकर सन्न रह गया। मज़दूर और उनके बाल-बच्चे मानो दरिद्रता की चलती-फिरती मूर्तियाँ थे। उनके गन्दे घर—जिसके एक कोने में सोने की चारपाई पड़ी हुई थी और दूसरे कोने में चूल्हे पर खाना पक रहा था; उनके सूखे और काले बदन—जिस पर कोयले, के गर्द और मैल की चक्की जम रही थी; उनकी स्त्रियों के शरीर पर मैले-कुचैले, फटे-पुराने चिथड़े; उनके छोटे-छोटे बच्चों के मुरझाए हुए मुखड़े, चमड़े से ऊपर निकली हुई हड्डियाँ और उनकी बुरी से बुरी आदतें देखकर कौन

ऐसा भारतीय हृदय है, जो पिघल कर पानी-पानी न हो जाता ? अब तक मुझे केवल सम्पत्ति-सम्पन्न भारतीयों और सभ्यताभिमानी योरोपियनों के ही रहन-सहन का कुछ परिचय था और जब मैं उनकी स्थिति से भारत के साधारण श्रेणी के भारतीयों की स्थिति की तुलना करता था, तब उन्हें अधिक सुखी और समृद्धिशाली पाता था। मैं भारत के निर्धन किसानों की दीन-स्थिति से भी परिचित था और निस्सन्देह उनकी दरिद्रता बहुत बढ़ी हुई है; तो भी उनमें देश, वंश और आत्म-गौरव का ख़याल सर्वथा लुप्त नहीं हो गया है। किन्तु आज इन भाइयों को देखकर, जो दरिद्रता, मलिनता और ग़ुलामी के दलदल में फँसे हुए थे, मेरा रोम-रोम काँप उठा। इस मनहूस जगह में न कोई सभ्य था और न शिक्षित। सबके सब क्रीत-दास थे। उनकी अधम अवस्था और वहाँ का गन्दा वायुमण्डल देखकर मैं सोचने लगा कि क्या यह नेटाल का नरक नहीं है ? क्या यह कुली-प्रथा ग़ुलामी-प्रथा का रूपान्तर मात्र नहीं है ? क्या अङ्गरेज़ी सभ्यता के लिए यह कलङ्क की बात नहीं है ? क्या ब्रिटिश-साम्राज्य में ब्रिटिश-भारतीयों का यह दर्जा असह्य नहीं है ? बारकों में रहने वाले क्रीत-दास भारतीयों की बुरी दशा की बात सुनी तो थी, पर देखी नहीं थी। आज देख भी ली।

हमारे आने की ख़बर पाते ही सब मज़दूर इकट्ठे हो गए। जो आता वही झुककर प्रणाम करता और एक ओर खड़ा हो जाता। हम भी तो खड़े ही थे। न वहाँ बैठने के लिए कुर्सियाँ थीं और न व्याख्यान देने के लिए मेज़। इनकी ज़रूरत भी क्या थी ? पहले

श्री० थम्बी नायडू ने तामिल में एक ज़ोरदार स्पीच दी। फिर मैं खड़ा हुआ, किन्तु मेरा हृदय तो दुःख, क्रोध, दया, करुणा और अनुताप से ऐसा भरा हुआ था कि मुझमें कुछ बोलने की शक्ति ही नहीं रह गई थी। बड़ी हिम्मत बाँधकर खड़ा तो हुआ, पर बोलता क्या, अधीर होकर रोने लगा। ख़ैर, वह मजदूर-मण्डल मेरे मूक-भाषण का तात्पर्य समझ गया और अङ्गद की तरह पैर रोपकर प्रतिज्ञा कर बैठा कि जब तक तीन पाउण्ड का टैक्स रद न हो जायगा, तब तक ऐसी नौकरी पर लानत है। ठीक उसी समय खान के मैनेजर साहब भी आ गए। बेचारे एक पाँव के पङ्गु थे, पर बड़े शिष्ट सज्जन थे। उन्होंने हमारे आन्दोलन के प्रति सहानुभूति दिखाई और यह भी कहा—आप लोगों ने हमारी खान के मज़दूरों को हड़ताल में शामिल कर लिया, यह तो बड़ी अच्छी बात हुई; पर देखिए इसी प्रकार समस्त खानों का काम बन्द होना चाहिए। ऐसा न हो कि हमारी ख़ान तो चौपट हो जाय और अन्य खान वाले गुलछर्रें उड़ाते रह जायँ। हमने उत्तर में इतना ही कहा—ईश्वर की दया से आपकी इच्छा अवश्य पूर्ण होगी।

ता० १६ अक्टूबर के तीसरे पहर की गाड़ी से मि० केलनबेक साहब दरबन से आए और दूसरे दिन जोहन्सबर्ग चले जाने का उनका विचार था। इसलिए तुरन्त मज़दूरों की सभा की गई और उनका भाषण कराया गया। रात को खा-पीकर मि० केलनबेक, श्री० नायडू और मैं कुछ जानकारों के साथ बेलङ्गीच खान को रवाना हुए। हमारे पास न्यूकासिल से अलक्सप्रुट तक तीसरे दर्जे के टिकिट

थे। मि० केलनबेक हमारे साथ ही बैठे। सन्देह यह था कि कहीं टिकिट-निरीक्षक उन्हें पहचान न ले कि यह योरोपियन है और दूसरी गाड़ी में जाने के लिए मजबूर करे। अतएव केलनबेक साहब ने अपना आधा मुँह टोप से ढँक लिया। टिकिट की जाँच हो जाने पर शङ्का मिटी। यहाँ का दस्तूर तो यह है कि भूरे, पीले या काले मनुष्यों के साथ सफ़ेद चमड़े वाले नहीं बैठ सकते; इससे उनकी सफ़ेदी पर स्याही पुत जाने की आशङ्का रहती है। इसलिए उस डिब्बे में बैठे हुए हबशी एक 'मुलूँगू' को (गोरे साहबों को हबशी लोग इसी नाम से पुकारते हैं) अपने डिब्बे में देखकर आश्चर्य कर रहे थे। यह ध्यान रहे कि दक्षिण अफ्रिका में काले मनुष्यों से घृणा करना ही गोराङ्ग-धर्म का सर्व-प्रथम और सर्वोपरि लक्षण है।

ख़ैर, रात के क़रीब १० बजे हम अलक्सप्रुट पहुँचे और वहाँ से गाड़ी छोड़कर बेलङ्गीच खान की पगडण्डी पकड़ी। कुछ दूर चलकर एक छोटी सी नदी पर पहुँचे और पार होने के लिए जूते उतारने और पतलून के पाँयचे उपर चढ़ाने लगे। नदी के उस पार से खान का क्षेत्र प्रारम्भ होता था। ठीक उसी समय एक मद्रासी भाई हाँफता-काँपता और दौड़ता हुआ आया और बड़ा व्याकुलता से कहने लगा:—

"महाशयो! आप लोग नदी पार आने का विचार छोड़ दें। आपके आने की ख़बर मैनेजर को मिल गई है और वह दल-बल सहित यहाँ पहुँचना ही चाहता है। मैं इसी खान का एक भारतीय

सरदार हूँ, और अपनी जान जोखिम में डालकर आपको आगाह करने आया हूँ। बस, मेरा काम पूरा हो गया और अब मैं एक क्षण भी यहाँ नहीं ठहर सकता।" इतना कहकर धन्यवाद की प्रतीक्षा किए बिना ही वह देवदूत अन्तर्हित हो गया।

सचमुच कुछ ही मिनिटों के बाद मैनेजर महाशय अपने गोरे सहकारियों के साथ आ ही पहुँचे, और उन्होंने तड़पकर पूछा—कहिए, महाशयो ! इस अन्धकारमयी रजनी में आपका शुभागमन कहाँ से, कैसे और क्योंकर हुआ ?

केलनबेक साहब—मैं दरबन से आज ही आया हूँ और कल जोहन्सबर्ग चला जाने वाला हूँ। इस खान में हमारे बहुत से हिन्दुस्तानी भाई काम करते हैं, यह जानकर इस वक्त हम लोग न्यूकासिल से आए हैं। वहाँ से गाड़ी पर बैठकर और स्टेशन से पैदल चले आ रहे हैं और अपने भाइयों से मिलने का विचार रखते हैं।

मैनेजर—मैं सब कुछ समझता हूँ—दाई से पेट नहीं छिप सकता। तुमने न्यूकासिल में हड़ताल की जो आग लगाई है, उसी की चिनगारी यहाँ भी फेंकने का इरादा है, परन्तु यहाँ तुम्हारी दाल नहीं गल सकती। वास्तव में तुम लोग बड़े भाग्यशाली हो, जो नदी के उस पार ही रह गए। अगर कहीं खान के अहाते में दाखिल हो गए होते, तो आज हड़ताल का पूरा मज़ा चख लेते। देखते हो न यह हण्टर, इसीसे सड़ासड़ मार पड़ती और पीठ की खाल निकल आती।

केलनबेक साहब—यह भय दिखाना व्यर्थ है। हण्टर की हमें पर्वाह नहीं, पर आज बहुत रात जा चुकी है, इसलिए हम लौट जाते हैं। कल मैं तो नहीं रहूँगा, पर मेरे ये साथी आएँगे; फिर आप अपने हण्टर की ताक़त अच्छी तरह आज़मा लीजिएगा।

मैनेजर—इस खान के मज़दूर बहुत सुखी हैं और उन्हें यहाँ कोई तकलीफ़ नहीं है। अगर उन्हें ज़रा भी इशारा मिल जाय, तो वही तुम्हारे भाई तुम्हारी अक़्ल दुरुस्त करने को तैयार हो जायँगे।

केलनबेक साहब—ख़ैर, कल इसकी भी परीक्षा हो जायगी।

वहाँ से लौटकर हम लोग सबेरे न्यूकासिल पहुँचे। बिछौने पर ज़रा लोट-पोटकर उठे तो क्या देखते हैं कि बेलङ्गीच-खान के समस्त मज़दूर—कृशित पुरुष, त्रस्त स्त्रियाँ और बिलखते हुए बच्चे—हमारे दरवाज़ पर खड़े हैं। यह है क्या ? सत्य है या स्वप्न है, या नेत्रों का बिकार है ? पर यह संशय देर तक टिक न सका और सत्य का स्वरूप सिद्ध हो गया। पूछने पर उन्होंने अपनी दुःखपूर्ण कहानी इस प्रकार सुनाईः—

"बेलङ्गीच-खान में हम लोग लगभग ५०० मज़दूर काम करते हैं। जिनमें अधिकांश तीन पाउण्ड टैक्स के शिकार हैं। इस अन्यायी कर से हमारे कष्टों की सीमा नहीं है, बार-बार ग़ुलामी की शर्तें लिखानी पड़ती हैं और ऐसा किए बिना कर से पिण्ड छूटना असम्भव है। काम में ज़रा सी चूक होने पर बूटों की मार और कोड़ों की फटकार पड़ती है। जब हमें यह ख़बर मिली कि

न्यूकासिल में हड़ताल की शहनाई बज गई और हमारे अगुआ बेलङ्गीच-खान की सीमा तक आ गए थे, किन्तु कम्पाउण्ड-मैनेजर की शरारत से बारक में नहीं आने पाए, तब तो बड़ा कोलाहल मचा और उस वक्त जो जिस हालत में था उसी रूप में उठ भागा। न किसी ने कपड़े बदले, न ओढ़ने-बिछौने की पर्वाह की और न माल-असबाब की चिन्ता। हुई भगदड़। औरतें साथ हो लीं और बच्चे भी चले पीछे-पीछे। इस बात की सूचना पाते ही मैनेजर ने हबशियों को ललकारा। वे शैतान हमारे ऊपर शेर की तरह टूट पड़े और लगे बेदर्दी से लाठियाँ चलाने। किसी की बाँह टूटी, किसी का गोड़ टूटा, किसी का मूँड़ फूटा! उस शैतानी लीला का क्या बयान करें? हम पर तो सब कुछ बीता ही; पर हमारी स्त्रियाँ भी उन निर्दयी राक्षसों के आक्रमण से न बच सकीं। वे पिशाच औरतों की झोटियाँ पकड़कर घसीटते, अर्द्धनग्न-अवस्था में बुरी से बुरी बातें बकते और भयङ्कर से भयङ्कर त्रास दिखाते। मैनेजर भी बैठा हुआ नहीं था। वह भी मर्कट की भाँति कूद-फाँद करता, स्त्रियों की दुरवस्था पर हँसता और हमें रोकने की चेष्टा करता। जब रोकने पर भी कोई न रुका, तब उसने हमारे ऊपर गोली दागी, जिससे एक अभागा वहीं छटपटा कर मर गया। हम लोग यह सब सहते हुए भी वहाँ ठहरे नहीं, और पैदल चलकर आपकी शरण में आ पहुँचे हैं।"

आह! यह समाचार क्या था—हृदय पर वज्राघात था। मेरे मन में विद्रोह की आँधी चलने लगी और लम्बी साँस खींचकर

मैं मूर्च्छा की दशा में पहुँच गया। हा भगवन्! यह कैसा भीषण अत्याचार? कैसा वीभत्स दृश्य? कैसी करुण अवस्था? भारत की बेटियों पर हबशियों का हमला! इन मजदूरों के दिल किस धातु के बने हुए हैं, जो स्त्रियों की दुर्गति अपनी आँखों देखकर भी खण्ड-खण्ड नहीं हो गए। अच्छा होता, यदि इसका बदला चुकाते हुए सबके सब मर मिटते, और इस कथा को कहने के लिए जीवित न रह जाते। पर इसमें इनका दोष भी क्या? ग़ुलामी के कीड़ों ने इनके मानवी-भावों को चाट लिया है। इतना ही क्या कम है कि सब कुछ सहते हुए भी ये अपने प्रण से नहीं डिगे और स्वाधीनता के झण्डे के नीचे आ खड़े हुए।

मैंने उनको धैर्य दिया और समझाया कि अत्याचार की अधिकता ही उसके अन्त होने का आशाप्रद सन्देश है। इन मजदूरों में न विद्या का घमण्ड था, न स्वार्थ की सनक और न कपट की चातुरी। सब सरल थे, दरिद्र थे, अपढ़ थे और अज्ञानी थे। बोली बौरही थी, पर थी नम्रतापूर्ण। कितनी स्त्रियों की गोद में छोटे-छोटे बच्चे थे। इन स्त्रियों में न बनावट थी और न सजावट। बाल बिखरे हुए थे। एकाध चाँदी के गहने थे और कपड़े तो वही, जो भागने के समय उनके तन पर थे। प्राण से प्यारी अपनी सारी वस्तुएँ छोड़कर वे घर से निकल पड़ी थीं। कितना साहस, कितना त्याग, कितनी वीरता और कितना आत्मबल! संसार के इतिहास में यह बेजोड़ युद्ध था। एक ओर तो यूनियन-सरकार और उसके जात-बिरादर गोरे, और दूसरी ओर ग़रीब और ग़ुलाम

हिन्दुस्तानी ! एक को अपनी शक्ति, सत्ता और प्रभुता का मद और दूसरे को अपने आत्मबल के अतिरिक्त परमेश्वर का भरोसा ! एक के हाथ में तोप-तलवार, न्याय और दण्ड की बागडोर और दूसरे के हाथ में केवल सत्याग्रह का सहारा । इन्हीं बेमेल शक्तियों में सङ्घर्ष शुरू हुआ । इस समाचार से माननीय गोखले तिलमिला उठे और आपके मुँह से यह उद्गार निकले पड़े—जिन खानों में हड़ताल करने वाले भारतीयों के साथ ऐसी क्रूरता का व्यवहार किया जाता है, वह कोयले की खानें हैं, और अब जो कोयला वहाँ से भारत आएगा, वह हमारे देशवासियों की चाबुक लगी पीठ के रक्त से रँगा होगा ।

नाटक या खतरा ?
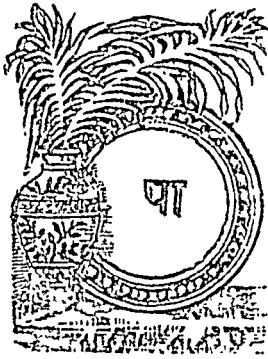
ठक जर्मिस्टन के सत्याग्रह-प्रसङ्ग में 'ट्रान्सवाल लीडर' की वह टिप्पणी पढ़ चुके हैं, जिसमें हमारे आन्दोलन को राजनीतिक-महत्व-शून्य, विनोदजनक और नाटक का तमाशा कहकर हँसी उड़ाई गई है । पर आज एक पखवारे के अन्दर क्या से क्या हो गया ? इस नाटक के रङ्ग-मञ्च पर ऐसे-ऐसे दृश्य दृष्टिगोचर होने लगे, जिससे गोरों की आँखें चौंधिया उठीं ।। ग़ुलामी की गर्दन मरोड़ने के लिए यह कैसा नेत्र-रञ्जक अभिनय है ? रेलवे की बारकों में ताले लग गए। दिन-रात धुआँ उगलने वाली खानें जनहीन, शोभा-हीन और श्रीहीन हो गईं । होटलों में 'हुजूर हाज़िर' कहने वाले बवर्ची और बोहरे नौ-दो-ग्यारह हुए। अङ्गरेजों के कपड़े धोनेवाले धोबी अपनी ग़ुलामी का दाग़ धोने के लिए सत्याग्रह-सरोवर पर आ

जुटे। अस्पतालों में गोरे-रोगियों की सेवा-सुश्रूषा करने वाले नौकर लम्बी सलामी दाग़कर चलते बने। यहाँ तक कि मैला उठाने वाले भङ्गी भी निश्चित हो घर जा बैठे—अब उठाओ मैले का बर्तन सिर पर।

बड़ी हलचल मची। लीडर ने जिसे नाटक कहकर दिल्लगी उड़ाई थी, उसीको 'नेटाल विटनैस' ने 'ख़तरा! ख़तरा!' कहकर रोना शुरू किया। उसने लिखा—

"नेटाल के भारतीय मज़दूरों का सत्याग्रह में सम्मलित हो जाना अत्यन्त भयसूचक है। ट्रान्सवाल से निर्वासित होकर कुछ स्त्री और पुरुष न्यूकासिल पहुँचे हैं और उन्होंने वहाँ हड़ताल की आग सुलगाई है। उनके कुछ अग्रनेता पकड़े भी गए थे, पर मैजिस्ट्रेट ने केवल जुर्माना करके उन्हें छोड़ दिया। जब यह मामला समाप्त हो चुका, तब सत्याग्रही स्त्रियों ने पुलिस-अफ़सर का सामना किया। उन्होंने चुनौती दी कि हमें लोग क़ानूनों को भङ्ग करने वाली औरतें हैं' इसलिए हमें पकड़कर जेल भेज दो। किन्तु चतुर अफ़सर ने उनकी बातें न मानीं और बड़ी कठिनाई से अपना पिण्ड छुड़ाया। फ़यर्ली कोलरी के मज़दूर मैजिस्ट्रेट के सामने खड़े किए गए थे और मैजिस्ट्रेट ने उन्हें बहुत-कुछ ऊँच-नीच समझाया भी, पर वे काम पर लौटने को राज़ी न हुए, उलटा जेल जाने की इच्छा प्रकट की। अगले सप्ताह में इससे भी अधिक चित्ताकर्षक हलचल की आशङ्का है। इन आन्दोलनकारियों का विचार यह है कि नेटाल की समस्त खानों में हड़ताल की आग लगा दी जाय। विश्वास किया जाता है कि यह हड़ताल शीघ्र ही

देश-व्यापी हो जायगी तथा गन्ने की कोठी और चाय के बगान भी इसके असर से नहीं बच सकेंगे। यदि सरकार ने इस आन्दोलन को दबाने के लिए शीघ्र ही उचित कार्यवाही न की, तो नेटाल के उद्योग-धन्धों की बड़ी भारी हानि होने की सम्भावना है। वास्तव में यह आन्दोलन बड़ा ही खतरनाक है और न्यूकासिल के मुसलमानों के सिवाय अन्य हिन्दुस्तानी इससे सहानुभूति रखते हैं। हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों में इसकी लगन नहीं है, क्योंकि अधिकांश मुसलमान दुकानदार हैं और राजनीति में भाग लेना नहीं चाहते। उन्हें भय है कि ऐसा करने पर कहीं उनकी दुकान की सनद (लैसेन्स) न छीन जाय, जिसे वे जीवन से भी अधिक क़ीमती समझते हैं।"

न्यूकासिल-अस्पताल के व्यवस्थापकों ने आकर हमसे प्रार्थना की कि हिन्दुस्तानी नौकरों के हड़ताल कर देने से रोगियों को असीम कष्ट हो रहा है। इस पर हमें बड़ी दया आई। गोरों की क्रूरताएँ हमारे मानवी भावों को नष्ट करने में सफल न हो सकी थीं, अतएव हमने अस्पताल के नौकरों को तुरन्त काम पर लौट जाने की ताक़ीद की। इस पर अन्य धन्धे वाले गोरे भी तशरीफ़ लाए और चिकनी-चुपड़ी बातें बघारने लगे, किन्तु उनको साफ़ जवाब मिल गया कि हिन्दुस्तानी नौकर काम पर वापिस नहीं जा सकते। एक साहब बोले—डेखो, टुमारा गोवर्नमेण्ट से टकरार है। टुमको चाहिए, टुम सरकार का बिरोड करो। हम लोग टुमारा क्या बिगारा ? हम टुमारे भाई लोग को बहुट अच्छी टरह रखटा है, फिर टुम हमारी नुकशानी क्यों करटा है ?

मैंने उत्तर दिया—जनाब ! आप ही की ग़ुलामी करने के लिए सरकार ने इन मज़दूरों को शर्तबन्धी में बाँधकर हिन्दुस्तान से मँगाया। मज़ा तो यह कि यदि वे शर्तबन्धी की अवधि पूरी करके स्वतन्त्र होना चाहें, तो उन्हें तीन पाउण्ड टैक्स भरना पड़े; किन्तु अगर फिर वे आपके यहाँ शर्तबन्धी लिखा दें और जिन्दगी भर ग़ुलामी के पट्टे लिखाते रहें, तो उनसे सरकार कभी भी टैक्स का तकाज़ा न करेगी। इसका मतलब ? क्या सरकार और आपके समझौते से ही इस दास्य प्रथा का पोषण नहीं हो रहा है ?

ट्रान्सवाल की सत्याग्रही स्त्रियों ने फिर यहाँ बिना परवाने की फेरी फिरना शुरू किया। वे छोटे-बड़े सभी सरकारी अमलदारों के मकानों पर गश्त लगा आईं, पर किसी ने चूँ तक न की। तब उन्होंने अदालत के अहाते में बैठकर अपना व्यापार शुरू किया और 'यह चाहिए, वह चाहिए' की पुकार से सभी का ध्यान आकर्षित कर लिया। मैंने पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट मेकडानल्ड साहब से कहा कि आप इन स्त्रियों को पकड़ते क्यों नहीं ? इनके पास फेरी के लैसेन्स नहीं हैं और इससे क़ानून की मर्यादा नष्ट हो रही है। उन्होंने हँसकर जवाब दिया—इन स्त्रियों के लिए जेल में जगह नहीं है।

लाजरस-परिवार की कार्य-दक्षता के विषय में मैं कुछ लिख चुका हूँ, पर अब उनके कष्टपूर्ण कार्यों का क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया।

ज्यों-ज्यों हड़तालियों की संख्या बढ़ने लगी, त्यों-त्यों उनकी

कठिनाइयों में भी वृद्धि होती गई। सैकड़ों मनुष्यों के खान-पान का इन्तजाम करना कोई आसान काम नहीं था। धधकती हुई कोयले की आग पर बड़े-बड़े हण्डे चढ़ाए जाते, पुष्पकल चावल रींधा जाता या मकई की लपसी पकाई जाती, पर चूल्हे से उतरते ही सब ग़ायब ! एक दिन लाजरस महाशय ने लपसी पकाई। ज्यों ही वह पककर तैयार हुई, त्योंही हड़तालियों का जत्था उस पर टूट पड़ा। धक्का लगने पर चमचे की लपसी लाजरस के शरीर पर गिर पड़ी और कई जगह छाले पड़ गए। जब समय पर बच्चों को भोजन देना कठिन होने लगा, तब श्री० नायडू और मैंने बोरे लेकर दूकानदारों के दरवाजों पर धरना देना शुरू किया। उनसे डबल-रोटियाँ माँगकर लाते और औरत-बच्चों को नाश्ता-पानी करा देते। इस भिक्षावृत्ति में भी कितनी जीवनप्रद शक्ति थी; कितना सन्तोष था; कितना अनुराग था और कितनी मृदुलता थी; इसका पता तब लगता, जब नन्हे-नन्हे बच्चे उसकी सार्थकता सिद्ध करने के लिए ठुमुक-ठुमुक कर चलते और हँस-हँसकर गिर पड़ते। माना कि वे ग़रीबों के बच्चे थे, पर क्या परमात्मा और प्रकृति ने उन्हें अपनी विभूतियों से वञ्चित कर रक्खा था ? कदापि नहीं। उनका वह मृदु-हास्य और उनकी वह स्नेह-जनित सिसकियाँ उसीको शायद प्रभावित नहीं कर सकतीं, जो वास्तव में दयाहीन, भावहीन और हृदयहीन हो।'

सरकारी कोपाग्नि में सत्याग्रही आहुतियाँ
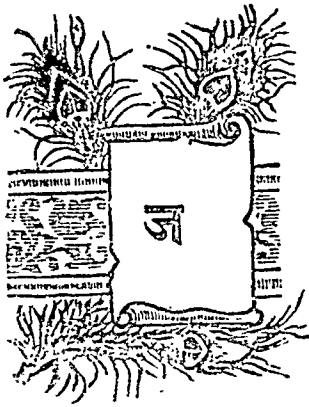
ब हमारा काम इतना बढ़ गया कि न दिन में चैन और न रात को नींद, तब महात्मा जी को तार दिया गया कि या तो वे स्वयं आएँ अथवा किसी अन्य अनुभवी सज्जन को भेजें। महात्मा जी के अनुरोध से १८ अक्टूबर को पोलक साहब न्यूकासिल पहुँचे। आज के मङ्गल-प्रभात में पोलक साहब का मुखारविन्द ऐसा खिला हुआ था कि उसपर कविता की कमनीयता बलि होती थी। उन्होंने आते ही मुझे बधाई दी और यह भी ताक़ीद की कि मुझे अब बन्दीघर में बसने के लिए उद्योग करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु हड़ताल का विस्तार और हड़तालियों को नियम और संयम में रखने का कार्य उससे अधिक महत्वपूर्ण है।

मैंने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा को शीश पर चढ़ाया और उन्हीं के साथ जल-पान करके शहर की ओर रवाना

हुआ। राह में पुलिसाध्यक्ष मेकडानल्ड साहब मिले। उनका 'बुलडॉग' सा चेहरा क्रोध से लाल हो गया था और भृकुटियाँ तनी हुई थीं। तड़पकर बोले—तुम्हारा नाम क्या है?

नाम बतलाने पर फिर भीम-गर्जना हुई—तुम्हारी ही खोज में निकला हूँ और तुम्हें गिरफ्तार करता हूँ। मेरे साथ शिवप्रसाद भी थे। मैंने कहा कि इनको भी पकड़ लीजिए, यह भी मेरे एक साथी हैं। इस पर शिवप्रसाद पकड़ लिए गए। थाने पर पहुँचकर मेकडानल्ड ने पूछा—अच्छा, अब बोलो, क्या इरादा है? मैंने उत्तर में निवेदन किया कि यदि आप मेरे ऊपर आज ही मामला चला सकें, तो मैं आपका बड़ा उपकार मानूँगा।

शनिवार का दिन था, दोपहर हो गया था, अदालत उठ चुकी थी और मैजिस्ट्रेट साहब घर चले गए थे, किन्तु पुलिस-अध्यक्ष के विशेष आग्रह से मैजिस्ट्रेट पुनः इजलास पर आ बैठे और खुली अदालत में मामले की कार्यवाही शुरू हुई। पहली बात तो यह हुई कि अभियुक्त के कटघरे में पहुँचते ही मैजिस्ट्रेट साहब ने मुझको इजाजत दी— टोपी उतार दो।

मैं—क्यों? टोपी क्यों उतारूँ? इस आज्ञा का आशय?

मैजिस्ट्रेट—तुम हिन्दू हो या मुसलमान?

मैं—मैं एक हिन्दू हूँ।

मैजिस्ट्रेट—सुनो, मुसलमानों को टोपी पहिनकर कचहरी में आने का हक़ है, पर हिन्दुओं को नहीं। इसलिए मेरी बात मानो और टोपी उतार लो।

मैं—यह मेरी देशी टोपी है और इसे पहिने हुए मैं अनेक अदालतों में जा चुका हूँ, पर आज से पहले ऐसी विचित्र बात कभी सुनने में नहीं आई।

मैजिस्ट्रेट—ख़ैर, मैं हुक्म देता हूँ कि टोपी उतार लो।

मैं—इस अनुचित आज्ञा को मैं नहीं मानता और साफ़ कहता हूँ कि टोपी नहीं उतारूँगा।

इस वाद-विवाद में इतनी ही कुशल हुई कि पुलिस वालों ने वल-प्रयोग करना उचित नहीं समझा और मेरी टोपी सिर पर रह गई। तदनन्तर मामले की सुनवाई शुरू हुई। मैंने अपने संक्षिप्त बयान में कहा कि माननीय गोखले को वचन देकर भी यूनियन का मन्त्रि-मण्डल उससे मुकर गया, इसलिए हमने यह आन्दोलन आरम्भ किया है और जब तक तीन पाउण्ड वाला कर रद न हो जायगा, तब तक हम इस आन्दोलन से एक इञ्च भी पीछे नहीं हटेंगे। इसके बाद पुलिस वालों की गवाहियाँ हुईं। उन्होंने उन्हीं सब घटनाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया, जो न्यूकासिल में उन दिनों घट रही थीं, अर्थात् इनके उद्योग से शहर में हड़ताल हो गई है। सैकड़ों आदमी बेकार हो गए हैं। दो दिन से शहर का पाख़ाना नहीं उठा—भङ्गियों ने भी हड़ताल बोल दी है इत्यादि।

सब कुछ सुनकर मैजिस्ट्रेट साहब ने अपना अलिखित फ़ैसला सुनाया, जो दुष्कल्पनाओं, विषाक्त भावों और धमकियों से भरा हुआ था। आपने फ़र्माया—तुमने सरकार के साथ विद्रोह, गोरे नागरिकों के साथ शत्रुता और हिन्दुस्तानी मज़दूरों के साथ

विश्वासघात किया है। तुम सरकार का विरोध करने निकले थे, पर अब इस हड़ताल से तुम्हारे विरोध की धारा दूसरी ओर बहने लगी है। तुम्हारा वर्त्तमान तरीक़ा नैतिक दृष्टि से पापपूर्ण, घृणित और भयावह है। तुम्हारे बहकावे में आकर कितने ग़रीब आदमियों ने काम-धन्धा छोड़ दिया है और आवारे की तरह न्यूकासिल की सड़कों पर भटकते फिरते हैं—उनके बाल-बच्चे दाने-दाने को तरसते हैं। क्या यही तुम्हारा धर्म है? इस अक्षम्य अपराध के लिए तुम्हें भारी से भारी दण्ड देना चाहिए, किन्तु मैं दयापूर्वक पाँच पाउण्ड जुर्माना या तीन मास कड़ी क़ैद का दण्ड देता हूँ।

मैंने प्रार्थना की—न्यायनिधे! इस समय दया को अपने पास ही रहने दीजिए—मेरे प्रति उसका अपव्यय करने की आवश्यकता नहीं है और कृपाकर कठोर से कठोर दण्ड देकर क़ानून की रक्षा कीजिए। मेरा सिद्धान्त जुर्माना भरकर छूटने की अपेक्षा कारागृह में कष्ट उठाने की ही मुझे आज्ञा देता है।

पुलिस ने मुझको और शिवप्रसाद को वहाँ से ज्यों ही हटाया, त्यों ही गुलाबदास और रघुवर भी आ पहुँचे। उन्होंने पुलिसाध्यक्ष से अपनी गिरफ़्तारी के लिए प्रार्थना की और हर्ष की बात है कि उनकी प्रार्थना स्वीकृत हो गई; किन्तु आज ही मामला चलाने से इन्कार करके इनको हाजत में भेज दिया गया। मैजिस्ट्रेट साहब इजलास छोड़कर चले गए। कचहरी से बाहर निकलते ही पोलक साहब और श्री० थम्बी नायडू मिले और उन्होंने मेरी सफलता पर बधाई दी।

शिवप्रसाद और मैं न्यूकासिल की जेल में लाए गए। इस जेल का कुछ परिचय दिया जा चुका है। हमारा नाम-धाम और पता-ठिकाना लिखा गया और दस उँगलियों की छाप ली गई। कपड़े बदलकर क़ैद के कपड़े पहिनाए गए। जाँघिया, कुर्ता और कोट मिला, टोपी मिली लखनवी। बहुत खोजने पर मेरे पाँव के योग्य जूते मिले। इस पोशाक से मेरा वेश बदल गया और मैं पूरा क़ैदी बन गया। जेल में एक रात मैं खटमलों से सताया जा चुका था, इसलिए मैंने जेलर से फ़र्याद की कि कोठरियों में खटमलों का अखण्ड साम्राज्य है, अतएव रात को मुझे बड़ा कष्ट होगा।

जेलर—मैंने मेरीत्सबर्ग से खटमल-विनाशिनी औषधि मँगवाई है और यह शिकायत शीघ्र ही दूर कर दी जायगी।

मैं—तब तक क्या मुझे खटमलों से अपना रक्त चुसवाना होगा?

जेलर—नहीं जी, मैं आपकी कोठरी ख़ूब साफ़ करवा देता हूँ। आपको कोई तकलीफ़ न होने पाएगी।

मैं—यह तो ठीक है, पर अन्य क़ैदियों के लिए आप क्या इन्तज़ाम करेंगे? जेल के क़ायदे के अनुसार एक भी खटमल मिलने पर जेलर को इत्तिला देना चाहिए और इस शिकायत को तत्काल दूर करना जेलर का अनिवार्य कर्त्तव्य है। यहाँ तो असंख्य खटमलों की प्राणघातक प्रभुता है, उसपर आप वज्र-हृदय बनकर निश्चिन्त बैठे हुए हैं। यदि आपका कर्त्तव्य विस्मृति के अन्धकार में डूब

गया है, तो मुझे जेल के डाइरेक्टर को पत्र लिखने की आज्ञा दीजिए।

जेलर—अजी, तुम मुझे इतना तङ्ग क्यों करते हो ? मैं कल-परसों तक तुम्हें किसी दूसरी जेल में भेज दूँगा।

शनिवार होने के कारण आज दिन-दुपहरिया क़ैदियों को काम से छुट्टी मिल गई थी और वे अपनी-अपनी कोठरियों में आराम कर रहे थे। मुझे देखकर उनके हृदय में प्रेम की पवित्र सरिता उमड़ पड़ी और वे कहने लगे कि आपके आने से हम लोगों का उत्साह दूना हो गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनमें अधिकांश क़ैदी थे, जो हड़ताल करने के अपराध में दण्ड पाए हुए थे। मैंने कहा—भाइयो ! तुम्हें यहाँ भेजकर मैं भला बाहर कैसे रह सकता ? अब तक विवशता यह थी कि मुझे यहाँ आने का सौभाग्य ही नहीं मिलता था। आज अवसर पाते ही मैं तुमसे आ मिला। पर देखना जवानो ! यहाँ के कष्टों से घबड़ाकर माता का दूध मत लजाना। सब कुछ सहते हुए भी अपने प्रण पर अटल रहना, और उस दिन को लाने में सहायक होना, जिस दिन कि चारों दिशाएँ तुम्हारे जय-जयकार से गूँज उठें।

हमें भी नियमानुसार क़ैद की एक कोठरी में बन्द कर दिया गया। कोठरी बहुत गन्दी थी, उसमें ऐसी बदबू आ रही थी कि प्रभु की पनाह। एक छोटी सी खिड़की से क्षीण प्रकाश और शुद्ध वायु आने की गुञ्जायश थी। शाम के वक़्त सब क़ैदियों को मकई की लपसी के साथ डबल रोटी भी मिली। लेकिन मुझको केवल

लपसी ही दी गई। पूछने पर मालूम हुआ कि मैं बहुत विलम्ब से आया, इसलिए मुझे रोटी नहीं मिल सकती। मैंने लपसी लेने से इन्कार किया और उस रात को उपवास ही करना उचित समझा। अगला दिन रविवार होने के कारण उसी गन्दी कोठरी में दिनभर सड़ना पड़ा। मुझे यह अनुभव हो गया कि सेवा-मार्ग के पथिकों को कष्ट के काँटे बहुत तङ्ग किया करते हैं, और कभी-कभी अटल व्रतधारियों के मानस-मयङ्क पर भी दुश्चिन्ताओं और दुष्कल्पनाओं का ग्रहण लग जाता है, किन्तु इस अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर मनुष्य सच्चा सोना बनकर अपने उज्ज्वल आलोक से संसार को आलोकित करने लगता है

सोमवार को सब क़ैदी क़तारबन्द खड़े किए गए। सबकी तलाशी हुई। मेरी जेब से भगवद्गीता निकल आई। गीता क्या थी, मानो कोई भयङ्कर हथियार था। वार्डर ने मुझे पकड़कर जेलर के सामने पेश किया। जेलर को समझाने पर मुझे गीता रखने की इजाज़त मिल गई। इसके बाद क़ैदियों को भिन्न-भिन्न कामों पर भेजा गया। मुझे जेलर की फुलवारी में काम मिला। निगरानी के लिए एक हबशी सिपाही नियुक्त हुआ। उस दिन शहर के बहुतेरे नर-नारी उस राह से गुज़रने लगे। निकट आकर बातचीत करने की स्वतन्त्रता तो थी नहीं, अतएव वे दूर ही से मेरी ओर निहारते और आशीर्वाद देकर लौट जाते। कई स्त्रियों को आँसू पोंछते हुए देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उन देवियों से मेरी केवल चन्द दिन की जान-पहचान थी। मैंने देखा पवित्र

प्रेम कितना उज्ज्वल, कितना अलौकिक, कितना उदार और कितना हृदय-स्पर्शी होता है। उसके निकट अविचार, विकार, मलिनता, भीरुता, निष्ठुरता और स्वार्थ-बुद्धि का निर्वाह कहाँ? मैंने मस्तक झुकाकर प्रेम-देवता के चरणों पर श्रद्धाञ्जलि चढ़ाई।

दिन कटा—साँझ हुई। काम से छुट्टी मिली। जेल में वापिस आए। कुछ खान-पान हुआ। अभी जरा आराम भी करने नहीं पाए थे कि सबको इकट्ठा होने का हुक्म हुआ। पंक्ति-बद्ध खड़े होने पर हाथों में हथकड़ियाँ डाल दी गईं। अपने साबिक़ कपड़ों के थैले टाँगने पड़े और स्टेशन को 'क्किक मार्च' (Quick march) करना पड़ा। पैरों की थपथपाहट और हथकड़ियों की झङ्कार पर मधुर राग-रागिनियों को ईर्ष्या होती थी। ख़ैर, स्टेशन पहुँचकर हम लोग एक ओर खड़े किए गए। ठीक इसी वक़्त पोलक साहब आ मिले और बोले—घबड़ाना मत! श्रीमती भवानीदयाल और बच्चा कुशलपूर्वक है। मैंने मज़ाक़ से कहा—मैं तब तक कुशल नहीं समझता, जब तक कि वे भी जेल में न पहुँच जायँ। इस पर पोलक साहब मुस्कराकर हट गए। गाड़ी आने पर हमें एक ही डिब्बे में ठूसकर ताला लगा दिया गया। पहरेदार भी साथ ही बैठे। यदि खिड़की से हवा आने की सुविधा और रात की शीतलता न होती, तो कलकत्ता की मन-गढ़न्त काल-कोठरी का यहाँ सच्चा रूप प्रकट हो जाता। प्रातः हमारी गाड़ी मेरीत्सबर्ग पहुँच गई।

जिस दिन हम लोग मेरीत्सबर्ग पहुँचे, उसी दिन (२१ अक्टूबर को) हमारे दल की ग्यारह स्त्रियाँ भी गिरफ्तार हो गईं। इस

समय तक हड़ताल की आग डेनहौसर, डण्डी, ग्लङ्को और लेडिस्मीथ तक पहुँच चुकी थी, और लगभग ढाई हज़ार मनुष्य हड़ताल में शामिल हो चुके थे। सरकार की कोपाग्नि प्रदीप्त हो उठी और जिन स्त्रियों को .फ्री स्टेट, ट्रान्सवाल और नेटाल की सीमाओं में बेक़ानूनी प्रवेश पर भी रोक-टोक नहीं की गई और बिना लैसेन्स के फेरी करने पर भी क़ानून को कुछ समय के लिए ताक़ पर रख दिया गया था, अन्त में विवश होकर उन स्त्रियों को पकड़ना ही पड़ा। इनकी गिरफ़्तारी विजय का आशाजनक पैग़ाम थी।

इन ग्यारह स्त्रियों को न्यूकासिल के मैजिस्ट्रेट के सामने उपस्थित किया गया। पोलक साहब भी अदालत आ पहुँचे। पाठक! क्या आप यह जानना चाहते हैं कि इन महिलाओं पर क्या दोषारोपण किया गया! स्त्रियों की मान-रक्षा सब धर्मों का प्रधान अङ्ग और समस्त क़ानूनी ग्रन्थों का अग्र-पृष्ठ है और अङ्गरेज़ लोग इस पर यथेष्ट घमण्ड भी करते हैं, किन्तु न्यूकासिल के अङ्गरेज अधिकारियों ने इस विश्वानुमोदित सभ्यता को समाधि में सुलाकर अपनी नीचता के नग्न-रूप से सबको दङ्ग कर दिया। इन देश-भक्त नारियों पर दोषारोपण हुआ—बेकार और शकदार आचार (Idle, disorderly or suspicious persons)।

धिक है क्रोध तुझे! तेरा उन्मत्त स्वरूप कितना वीभत्स है, कितना अहङ्कार और दर्पपूर्ण है? न तुझमें संयम है, न नियम का प्रतिबन्ध; न पाप का भय और न परिताप की चिन्ता। तू

जिसके सिर पर सवार होता है, उसे निरा पागल ही बनाकर छोड़ता है। यदि ऐसा न होता तो कहाँ वे नारी-गगन के उज्ज्वल तारे, त्याग की साक्षात् साधनाएँ और वीर-रस की सजीव प्रतिमाएँ और कहाँ उन पर लगाई हुई ये लम्पटतापूर्ण निर्लज्ज लाञ्छनाएँ!! सच पूछिए तो देवियों को इसकी पर्वाह भी क्या थी, जबकि वे सत्य के सिंहासन पर शोभायमान थीं, साहस सामने करबद्ध खड़ा था, त्याग चँवर हिलाता था, सेवा के वरदायी हाथ सिर पर थे; और कृष्ण के गीता-गान की, मुहम्मद की मस्त तान की और ईसा के पवित्र बलिदान की कथाएँ उनके कानों में गूँज रही थीं।

इन स्त्रियों ने मैजिस्ट्रेट के सामने बयान देते हुए कहा कि जब तक तीन पाउण्ड कर रद करने की उद्घोषणा न हो जाय, तब तक मजदूरों को हड़ताल पर दृढ़ रहने के लिए हम बराबर उत्तेजित और उत्साहित करती रहेंगी। मैजिस्ट्रेट साहब के क्रोध की प्रज्ज्वलित अग्नि-शिखा में देवियों का यह वक्तव्य घृताहुति का काम कर गया। उन्हें न कानून का, न शिष्टाचार का और न अपनी पद-मर्यादा का भान रहा। उनके लोचन-युगल लाल-लाल हो गए; नासिका से उष्ण निःश्वास निकलने लगा और ललाट पर भीषण रोष की रेखाएँ झलकने लगीं। न्यायासन को कलङ्कित करने वाला यह अङ्गरेज़ मैजिस्ट्रेट प्रत्येक महिला को तीन-तीन मास कठिन कारागार का दण्ड सुनाते हुए अपनी जबान को क़ाबू में न रख सका और निर्लज्ज भाँड़ की तरह बोल बैठा—मुझे आशा है कि तुम्हारे कहने से हड़ताल करने वाले मजदूर फिर लौटकर आएँगे

और तुम्हारे ऊपर बदला चुका देंगे। इस अपमानजनक और लज्जापूर्ण टीका की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं। पाठक मैजिस्ट्रेट का मनोगत भाव समझ गए होंगे। यहाँ इतना ही कहना काफी है कि इस नीचतापूर्ण उद्‌गार से भारतीयों में बड़ा क्रोध, उत्तेजना और असन्तोष फैला। उसी दिन एक विराट् सभा में इस नीच न्यायाधीश के अनर्गल अपशब्द का तीव्र प्रतिवाद किया गया, और इसकी सूचना न्याय-सचिव (Minister of Justice) को दी गई। अन्ततः देवियों ने मङ्गलमय भगवान् का नाम लेकर बन्दी-घर में प्रवेश किया।

सरकार जिसे अपमानित और तिरस्कृत करती है, जनता उसी को सम्मानित और पुरस्कृत करना अपना कर्त्तव्य समझती है। इसमें चाहे कुछ भेद हो, पर है यह सनातन विधान! जिन स्त्रियों को सरकार ने लाञ्छित करने की चेष्टा की, उन्हीं की 'इण्डियन ओपिनियन' ने अपने 'शाबाश औरतो' शीर्षक अग्र-लेख में भूरि-भूरि प्रशंसा की और दक्षिण अफ्रिका, इङ्गलैण्ड और भारतवर्ष के सभी मुख्य-मुख्य अखबारों में इस नारी-मण्डल का चित्र प्रकाशित हुआ।
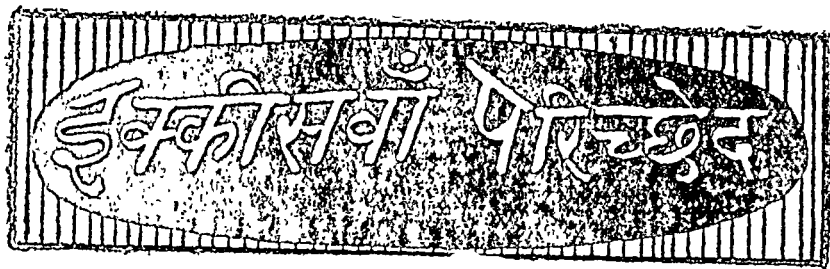
बन्दी-जीवन और अनशन-व्रत
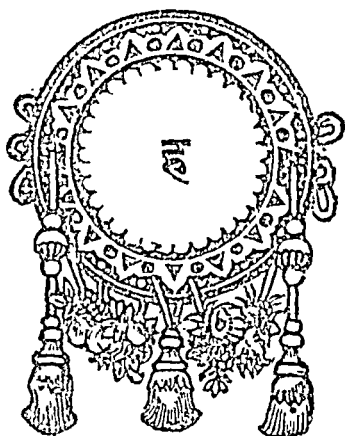
म लोग स्टेशन से फ़ौजी ढङ्ग से 'मार्च' करते हुए मेरीत्सबर्ग की जेल में पहुँचे। सच पूछो तो यहीं से मेरा सच्चा बन्दी-जीवन प्रारम्भ हुआ। चीफ़ वार्डर ने मेरे पास से गीता छीन ली और डपटकर कहा—तुम्हारे जैसे आन्दोलनकारियों के लिए यह गीता-पाठ का नहीं, प्रत्युत अपने कर्मों का फल भोगने का स्थान है। कपड़े-लत्ते बदले गए, नाम-धाम की फिर दुहरौनी हुई, सिर के बाल मूँड़े गए और मूँछ पर भी कतरनी फिर गई। अब चलो स्नान-गृह में, कपड़े उतारो और नग्न स्नान करो। यहाँ लज्जा और सङ्कोच का बाँध टूट गया और जेल का योग-क्षेम पूरा करना पड़ा। दूसरे दिन हम 'हार्ड लेबर-यार्ड' (Hard labour-yard) में काम करने गए। नाम तो था 'कठोर काम का अहाता' पर वास्तव में काम बहुत

साधारण था । एक सप्ताह के बाद पत्थर फोड़ने का सख़्त काम मिला ।

मैं प्रातः तीन बजे निद्रा को विदा कर देता और ईश्वर का ध्यान लगाता । ५ बजे जेल का पहला घण्टा बजने पर अपना बिस्तर चौतह कर तैयार हो जाता । जब कोठरी का दरवाज़ा खुलता, तब मल-मूत्र का बर्तन उठाकर पाख़ाने में फेंक आता । वहाँ से स्नान-गृह में जाकर हाथ-मुँह धोता और पाकशाला से कलेवा लेकर कोठरी में वापिस आ जाता । ६ बजे दूसरा घण्टा बजने पर कोठरी से निकलकर बाहर खड़ा हो जाता । जेल का गवर्नर आकर दर्शन देता और इसके बाद अपने काम पर चला जाता । ठीक ७ बजे काम शुरू हो जाता । १२ बजे छुट्टी होती, तलाशी के बाद भोजन मिलता, एक बजे फिर काम पर हाज़िर । ५ बजे छुट्टी के बाद फिर नङ्गाझोरी, स्नानागार में नग्न-स्नान और भोजन लेकर कोठरी में प्रवेश । भोजनानन्तर कुछ समय तक देश-काल और धर्म की चर्चा । अन्त में निद्रा महारानी की गोद में विश्राम । यही मेरी दिनचर्या थी ।

भारतीय क़ैदियों को प्रातः कलेवा के लिए ८ आउन्स मकई का नमकीन हलवा (फ़ारीज), दुपहरिया को ८ आउन्स भात, ४ आउन्स बिन्स की दाल और २ आउन्स तरकारी, शाम को ६ आउन्स डबल रोटी और २ आउन्स मकई की लपसी (पू-पू) देने की व्यवस्था है । फ़ारीज और पू-पू ख़ासकर हबशियों का खाना है । छः मास या उससे अधिक की सज़ा पाए हुए क़ैदियों को सप्ताह में तीन

बार एक-एक आउन्स घी और शाम को पू-पू के बदले थोड़ी सी काफ़ी मिलती है। रविवार को ४ आउन्स मांस देने का नियम है; किन्तु जो निरामिषहारी हैं, उन्हें मसाला डालकर पकाई हुई ८ आउन्स बिन्स की दाल मिल जाती है। हबशियों और भारतीयों के भोजन में यही अन्तर है कि दोपहर को दाल-भात-तरकारी की जगह हबशियों को उबाले हुए मकई के दाने पर सन्तोष करना पड़ता है। गोरे क़ैदियों का भोजन इससे नितान्त भिन्न है। उन्हें रोज़ाना डबल रोटी, मांस, शोरवा, शाक इत्यादि अप-टू-डेट भोजन दिया जाता है। जेल के गवर्नर से पूछने पर मालूम हुआ कि भारतीय कैदियों के भोजन का ढङ्ग निश्चित करने में भारत-सरकार से भी सम्मति ली गई है। नहीं कह सकता कि इस कथन में कहाँ तक सत्यता है, किन्तु यदि इसमें कुछ भी सत्यांश हो, तो यह अवश्य आश्चर्यजनक बात है कि भारत-सरकार ने भारतीय क़ैदियों के लिए हबशियों का भोजन फ़ारीज और पू-पू कैसे और क्यों स्वीकार किया।

भारतीय क़ैदियों के पहिनने के लिए जाँघिया, कुर्ता, कोट और जोड़ा जूता मिलता है, और गाँधी-टोपी के अनुरूप टोपी। गर्मी में दो और जाड़े के मौसम में तीन कम्बल मिलते हैं। वर्षा-ऋतु में बाहर काम करने वाले क़ैदियों को ओवर-कोट भी मिल जाता है। किसी-किसी जेल में काठ का तख़्ता या चटाई और बलिश्त भी मिलता है। लम्बी मियाद के क़ैदी को जाँघिया की जगह पतलून दिया जाता है। अच्छे आचरण के क़ैदी के कोट पर 'जी० सी०'

(Good Conduct) या सितारे (Star) का चिह्न बना रहता है। साधारण क़ैदियों की जेब में क़ैद का टिकिट पड़ा रहता है, जिसपर क़ैदी का नाम, उसका अपराध और दण्ड की अवधि अङ्कित रहती है। गोरे क़ैदियों को सोने के लिए खाट, गद्दा, कम्बल और चादर तथा पहिनने के लिए कोट, कमीज़, पैन्ट, हैट, बूट और मोज़े मिलते हैं। श्वेत और श्याम में अन्तर होना ही चाहिए।

मेरीत्सबर्ग के बन्दीघर में हमारे लिए सबसे बड़ी सुविधा यह थी कि हमारी पार्टी कोठरियों के अन्दर नहीं की गई थी। बन्दीघर के दुमञ्जिले पर दोनों ओर कोठरियाँ थीं और बीच में खुला हुआ रास्ता। कोठरियों में हबशी क़ैदी बन्द किए जाते थे और रास्ते पर हमारे दल के तीस मनुष्यों का डेरा था। पाठक यह न समझ लें कि हमारे साथ कोई रियायत की गई थी। असली बात तो यह है कि जेल में कोठरियों की कमी थी, इसीलिए हमें रास्ते पर ठहरा दिया गया था। पर इसे हम अपना परम सौभाग्य ही समझते थे। बड़ा आनन्द आता, सब लोग इकट्ठे रहते, नाना प्रकार की बातें होतीं। कोई हँसता, कोई मजाक करता, कोई गाता, कोई गप्पें लड़ाता। कभी-कभी जब किसी विषय पर लोग उत्तेजित हो कर स्पीच झाड़ने लगते, तब तो बड़ा शोर-गुल मच जाता। अचानक गवर्नर साहब आ धमकते और जैसे स्कूल के बच्चों को डरवाने के लिए मास्टर लोग मेज़ पर छड़ी पटपटाते हैं, वैसे ही गवर्नर साहब भी अपनी छड़ी पटपटा कर पूछते—इतना हल्ला-गुल्ला क्यों? उस समय इतनी निस्तब्धता छा जाती, मानो सबके सब सुषुप्त

अवस्था में पड़े हुए हैं, किन्तु गवर्नर के कूच करते ही फिर हँसी की वही लहर, बातों की वही बहार और गाने की वही रागिनी। खूब चहल-पहल रहता।

पहले तो मुझे फ़ारीज और पू-पू खाने में बड़ी दिक़्क़त होती थी, लेकिन धीरे-धीरे आदत पड़ जाने पर थोड़ा-थोड़ा खाने लगा। खाता क्या था, भूख के मारे ठूँस-ठासकर गले के नीचे उतार लेता था। हमने जेल के गवर्नर से कई बार घी के लिए याचना की, क्योंकि हमें जो भोजन मिलता, उसमें माँड़ी (Starchy) के सिवाय चिकनाई का कुछ भी अंश नहीं होता था। किन्तु बार-बार यही उत्तर मिलता गया कि तीन मास के क़ैदियों को घी नहीं दिया जा सकता। जब हमने देखा कि याचना-प्रार्थना सब व्यर्थ है, तब अनशन-व्रत धारण करने का विचार किया गया।

तारीख़ १० नवम्बर सोमवार को हम लोग ४० क़ैदियों ने इस प्रतिज्ञा पर अनशन-व्रत प्रारम्भ किया कि जब तक घी न मिलेगा, अन्न ग्रहण न करेंगे। गवर्नर ने आकर उपवास का कारण पूछा और बतलाने पर कहा—चाहे जो कुछ हो, पर घी नहीं मिल सकता। आज हमें पत्थर तोड़ने के काम पर जोता गया और वार्डर को तक़ीद कर दी गई कि हमसे खूब सख़्त काम लिया जाय। दोपहर को भोजन लेने से हमने इन्कार किया और शाम को फिर वही नकार। उस व्रतधारी जत्थे में से जेलर ने छः आदमियों को—प्राज्ञजी देसाई, सुरेन्द्रराय मेढ़, गोकुलदास गाँधी, मणिलाल गाँधी, रावजी भाई पटेल और मुझको छाँटकर

अलग किया और हमारा यह चुना हुआ दल बन्दी-घर के 'असगेनी' विभाग में बन्द किया गया। इस विभाग में भयङ्कर खूनी, जबरदस्त डाकू और पक्के बदमाश रक्खे जाते हैं और अब हम लोग भी इसी श्रेणी के मान लिए गए। इधर तो हम लोग जेल के खूनी-विभाग के मेहमान बने और उधर गवर्नर साहब ने अवशेष व्रतधारियों को डराना और धमकाना शुरू किया। क़ैद की मियाद बढ़ने और काल-कोठरी की हवा खाने के भय से २० व्रत-धारियों ने प्रतिज्ञा भङ्ग कर दी, और जो बचे वे अन्त तक अपने व्रत पर अटल रहे। हाँ, यहाँ यह भी कह देना जरूरी है कि हमारे दल की ग्यारह स्त्रियाँ भी न्यूकासिल से यहाँ की जेल में आ गई थीं और माता कस्तूरीबाई, श्रीमती मणिलाल डॉक्टर, श्रीमती छगनलाल गाँधी, श्रीमती मगनलाल गाँधी, श्रीमती शेख़ महताब और श्रीमती हनीफ़ा बीबी पहले से ही यहाँ विद्यमान थीं। अतएव जब उन देवियों को अनशन-व्रत का संवाद मिला, तो उन्होंने भी अन्न ग्रहण करना छोड़ दिया।

मङ्गलवार को हमारे दल के एक-एक व्यक्ति को एक-एक पिंजरे में बन्द किया गया। इस पिंजरे में लोहे की छड़ें लगी हुई थीं और अन्दर धरा हुआ था पत्थर का ढेर, हथौड़ा और टीन के कलसे में पीने के लिए पानी मैंने सोचा, चलो ठीक ही हुआ, हम लोग क़ैद के पक्षी हैं, यह नाम आज सार्थक हो गया। जाँच करने पर मालूम हुआ कि बदमाश क़ैदियों के लिए यह पिंजरा काम में लाया जाता है। इसमें भी क्या हर्ज, क्योंकि हम

लोगों से अधिक बदमाश और कौन हो सकता है, जो उपवास करके खुद ही कष्ट उठाते और सरकारी खर्च में बचाव करते हैं। इस सद्गति के पश्चात् वार्डर का यह हुक्म हुआ—आँखों पर झँझरी-तार का चश्मा चढ़ा लो, अन्यथा हथौड़ा चलाने पर पत्थर के छोटे-छोटे कण उड़कर नेत्रों की मरम्मत कर देंगे। अब तो और भी बन गया ? मुझे तेली के बैल की वह अवस्था याद आई, जिसकी आँखों में पट्टी बाँधकर कोल्हू में जोता जाता है।

कठिन मेहनत के बाद दुपहरिया को छुट्टी मिली। कोठरी में बैठाकर भोजन की थालियाँ सामने रख दी गईं। मेरी जीभ तो चटपटाने लगी, पर बीच में प्रतिज्ञा की दीवार खड़ी थी और उसे लाँघ जाना वास्तव में अत्यन्त ही साहस और कठिन कार्य था। निदान बेचारे गवर्नर साहब पधारे और इस प्रकार उपदेश देने लगे—देखो, यह बन्दी-घर है, और यहाँ क़ानून के अनुसार जो कुछ भोजन मिले, उसी पर सन्तोष कर लेना चाहिए। घी का मिलना असम्भव है, फिर उसके लिए यह अमानुषीय आन्दोलन क्यों ? क्या तुम्हें उन कच्ची उमर के युवकों पर ज़रा भी दया नहीं आती, जो तुम्हारे दुष्ट उपदेश से भूखे छटपटा रहे हैं ? क्या तुम इतने विवेकहीन और हृदयहीन हो ? हमने उत्तर में केवल यही कहा—इस सदुपदेश के लिए आपको शतशः साधुवाद; परन्तु खेद है कि हम उसे शिरोधार्य करने में असमर्थ हैं। आपको इतना बतला देना आवश्यक है कि हमने किसी को अन्न-त्याग के लिए उत्तेजित नहीं किया, और जो युवक अन्न छोड़े बैठे हैं, वे हमारे

बहकाने से नहीं, किन्तु घी के लिए अड़े हुए हैं। गवर्नर साहब नाराज़ होकर चले गए।

शाम को मैजिस्ट्रेट साहब आए। उनके इजलास में हम लोग एक-एक करके खड़े किए गए। मैं ज्यों ही कठघरे में पहुँचा, मैजिस्ट्रेट साहब ने पहला प्रश्न पूछा—तुम अन्न क्यों नहीं खाते?

मैं—घी के लिए साहब?

मैजिस्ट्रेट—जेल-क़ानून के अनुसार छः मास से कम मियाद की सजा पाए हुए क़ैदियों को घी दिया जाना वर्जित है और यह बात गवर्नर साहब ने तुम्हें समझा दी होगी।

मैं—सब कुछ सुन चुका हूँ। साधारण क़ैदियों के लिए ऐसा ही नियम होगा, पर हम तो राजनीतिक कैदी हैं, अतएव हमारे साथ यह एक विशेषता ही सही।

मैजिस्ट्रेट—ऐसा नहीं हो सकता। क्या तुमने जेल को अपना घर समझ लिया है? आज घी माँगते हो, कल दूध माँगोगे, परसों फल और नरसों कुछ और ही चीज़ की माँग पेश करोगे। तुम्हारी माँग उन बच्चों की सी है, जो आकाश का चाँद माँगा करते हैं। तुम भूल कर रहे हो और तुम्हें पछताना पड़ेगा।

मैं—बहुत अच्छा साहब! यदि मैं भूल कर रहा हूँ, तो मेरी भूल से किसी दूसरे की हानि नहीं है, मैं .खुद अपनी हानि कर रहा हूँ—भूख की ज्वाला सह रहा हूँ।

मैजिस्ट्रेट—पर यह भला कब तक?

मैं—जब तक प्राण रहे तब तक।

मैजिस्ट्रेट—समझा, पर यह तुम गाँठ बाँध लो कि तुम्हारे मर जाने की न हमें पर्वाह है और न चिन्ता। यहाँ मुर्दे दफ़नाने के लिए काफ़ी ज़मीन है।

इस प्रकार त्रास दिखाकर मैजिस्ट्रेट साहब तो चले गए और हम लोग अपने उपवास पर अटल रहे। आज मेरे बदन का बल बहुत क्षीण हो गया था। एक तो पेट में क्षुधा का ज्वालामुखी धधक रहा था और उसपर पत्थर तोड़ने का कठोर काम; सो भी बिना दम लिए! जहाँ हथौड़े की आवाज़ ज़रा भी धीमी पड़ती तहाँ वार्डर के मुख से फूलों की वृष्टि होने लगती। यह सत्य है कि आयर्लैंण्ड के प्रसिद्ध देशभक्त मेकस्विनी ने ६५ दिनों तक और भारत के पण्डित रामरक्षा ने ९० दिनों तक अनशन व्रत का पालन किया था; पर मुझमें न वह शौर्य था, न वह धैर्य्य; न वह साहस और न वह सन्तोष। सबसे भारी दोष तो यह था कि मैं उस समय उपवास का महत्व ही नहीं समझता था और मुझे यही विश्वास था कि उपवास से हानि के सिवाय कुछ भी लाभ नहीं होता। उपवास में शारीरिक बल की अपेक्षा मानसिक बल की अधिक आवश्यकता होती है, पर इसका मुझमें सर्वथा अभाव ही था। अतः दो ही दिन हथौड़ा चलाने से मैं बेदम हो गया। १०५ डिग्री ज्वर चढ़ आया और कोठरी में रात-भर बेसुध पड़ा रहा।

बुधवार के सबेरे सेक्शन वार्डर (Section Warder) ने आकर

जब कोठरी का दरवाजा खोला, तब मुझे बेहोश पड़ा पाया। कुछ हबशी क़ैदी बुलाए गए और मुझे टाँगकर अस्पताल पहुँचाया गया। वहाँ स्वच्छ वायु के सेवन से कुछ चेतना हुई। थोड़ी ही देर के बाद शिवप्रसाद और शिवपूजन गिरते-पड़ते वहाँ पहुँचे और उनके पीछे रामदास गाँधी और रेवाशङ्कर सोढा भी। फिर तो क्रमशः उपवास के रोगियों का आगमन प्रारम्भ हो गया। कोई मार्ग में मूर्च्छित हो गिर पड़ा और कोई काम पर पहुँचकर; दस बजने से पहले इन रोगियों से अस्पताल का एक कमरा भर गया। डॉक्टर साहब ने आकर सबकी नाड़ी देखी और फिर पुचकार कर कहा—तुमको भूख के सिवाय और कोई रोग नहीं है। तुम लोग खाना खा लो, नहीं तो मर जाओगे। तुम्हें तो सिर्फ़ घी चाहिए न, हम तुम्हें घी के साथ दूध और डबल रोटी भी दिला देते हैं। हम लोग ऐसे अबोध तो थे नहीं, जो डॉक्टर साहब की चालाकी न समझ पाते। हमने कहा—डॉक्टर साहब! यहाँ आपकी माया बेकार होगी। जब तक खुले तौर पर यह घोषित न कर दिया जाय कि समस्त सत्याग्रही बन्दियों को प्रतिदिन घी मिलेगा, तब तक मर जाना भला, लेकिन मुँह में अन्न का एक दाना भी डालना हराम है। डॉक्टर साहब अधिक करते ही क्या? देख-भालकर चले गए।

इस उपवास की खबर जेल की दीवारें चीरकर बाहर भी पहुँच गई, और इससे हिन्दुस्तानियों में बड़ी चिन्ता और सनसनी फैली। सरकारी मन्त्रियों के पास तार पर तार पहुँचने लगे। इधर

जेल के अधिकारी भी निश्चिन्त नहीं थे और वे सरकार को सारी परिस्थिति से सूचित कर रहे थे। परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए। तीसरे दिन शाम को समस्त व्रतधारियों को पंक्ति-बद्ध खड़ाकर यह पैग़ाम सुनाया गया—इस विषय पर सरकारी आज्ञा आ गई और कल से प्रत्येक सत्याग्रही क़ैदी को एक आउन्स घी मिलने लगेगा, इसलिए अब तुम खाना शुरू करो। व्रत सफल हुआ और सबने खाना स्वीकार किया, किन्तु दूसरे दिन घी मिला—'कलकत्ता वाला'। यह घी सत्याग्रहियों को पसन्द न आया और उन्होंने आपत्ति की। इस बार गवर्नर ने तन जाना उचित न समझा और हमारे एक क़ैदी साथी को बाज़ार भेजकर 'पोरबन्दर का घी' मँगवा दिया।

घी मिल जाने पर और लोगों ने तो खाना शुरू किया, किन्तु मैं बहुत निर्बल हो गया था और जेल के साधारण भोजन का एक कौर भी गले के नीचे नहीं उतर सकता था। अतएव मुझे अस्पताल में रहने की आज्ञा हुई और मामूली खाने के साथ सेर भर दूध भी मिलने लगा। उसी समय वयोवृद्ध बद्री बीमार होकर अस्पताल आए। डॉक्टर ने उन्हें देखा और निरोग कहकर काम पर लौटा दिया। दूसरे दिन वे फिर आए और डॉक्टर की फटकार सुनकर चले गए। तीसरे दिन मित्रों की प्रेरणा से फिर पहुँचे। इस बार मैंने उनके समीप जाकर इस आवागमन का कारण पूछा। उनकी आँखों में आँसू भर आए और उन्होंने बड़े दुख से कहा—मैं बीमार हूँ। मेरे पेट में असह्य पीड़ा है। वैद्यों के आदेशानुसार मैं

घर पर केवल दूध-भात खाता था, पर यहाँ जेल के भोजन ने मेरी अँतड़ियों को बिलकुल ख़राब कर दिया है, उसपर डॉक्टर का यह ठपका कि तुम बीमारी का बहाना बनाते हो मुझे बहुत अखरता है। आज दोस्तों के दबाव से अन्तिम बार आया हूँ। यदि आज मेरे स्वास्थ्य पर ध्यान न दिया गया, तो चाहे मर भले ही जाऊँ, पर इस डॉक्टर के निकट फिर न आऊँगा। मैंने कहा—आप ठहरिए और डॉक्टर को आने दीजिए। आज मैं उससे बात करूँगा। डॉक्टर के आने पर मैंने बद्रीराम की अवस्था पर ध्यान देने के लिए बलपूर्वक अनुरोध किया। हर्ष की बात है कि मेरी वकालत काम कर गई और बद्रीराम अस्पताल में दाख़िल कर लिए गए।

एक सप्ताह तक तो मैं अस्पताल का मेहमान बना रहा और दूध-रोटी पर हाथ साफ़ करता रहा। जब बदन में कुछ बल आ गया, तब खेत पर काम करने को निकला। जेल के पास ही साग-भाजी पैदा करने के लिए एक बहुत बड़ा खेत था और उसमें कुछ क़ैदी काम किया करते थे। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य बड़ा ही सुहावना था। खेत की सीमा पर एक छोटी सी नदी बहती थी उसी के पानी से क्यारियाँ सींची जाती थीं। तरह-तरह के साग-पात की हरियाली ऐसी लुभावनी थी, मानो धरती पर हरा फ़र्श बिछा हुआ है। खेत के किनारे-किनारे छोटे-बड़े वृक्ष लगे हुए थे और ललित लताएँ फैली हुई थीं। हमारे इस नवीन दल में केवल दस मनुष्य थे और वे सब के सब सत्याग्रही नवयुवक थे। किसी की मसें भींग रही थीं और किसी की आयु तो बिलकुल कच्ची थी।

हमारे दल के सरदार का नाम बिहारी था। यह एक पुराना क़ैदी था और अपनी औरत की हत्या करके बन्दी-घर में विहार करने आया था।

नदी के अरार बहुत ऊँचे थे। खेत पर पहुँचते ही मैं उसकी आड़ में जा बैठता। वहाँ बाहर का कोई न कोई आदमी रोज़ मिलता और वह मेरे लिए अख़बार और सिगरेट अवश्य लाता, कभी-कभी मिष्टान्न भी आ जाता। सिगरेट तो मैं अकेला ही पीता। हाँ, माँगने पर एकाध टुकड़ा हबशी सिपाही को भी दे देता, किन्तु मिष्टान्न का समभाग सबको वितरण करता। इस महाप्रसाद को पाकर सबके चेहरे खिल जाते। परन्तु हमारे दल में एक ऐसा भी युवक था, जो बाहर से आई हुई चीज़ें तथा खेत से मूली-गाजर उखाड़ कर खाने से परहेज़ करता था और वह था महात्मा जी का तृतीय पुत्र रामदास। वह कहता—सरकार से हमें जो कुछ खाने का मिलता है, उसी पर सन्तोष करना चाहिए; किन्तु दूसरे कोई, यहाँ तक कि महात्मा जी के आश्रम के अन्य विद्यार्थी भी, इस नियम के क़ायल न थे। रेवाशङ्कर, मुनस्वामी, सुबैया इत्यादि के मुँह तो मूली-गाजर पेरने के कोल्हू बने हुए थे। यह भी ख़्याल नहीं था कि यदि गोरा-वार्डर आकर जवाब तलब करे तो क्या गति होगी ? बेचारा बिहारी तो उस कुञ्ज में सत्याग्रही युवकों की मधुर तान सुनकर तन की सुध भी खो बैठा था और वह हबशी सिपाही अचल पाषाण की भाँति जहाँ बैठा दिया जाता, वहीं बैठा-बैठा कौतुक देखा करता। वह अपने आसन से तभी

हिलता, जब उसे सिगरेट पीने की चाट लगती। रहा गोरा-वार्डर, सो वह कभी हमारे पास आता ही नहीं था। उसका स्वभाव कुछ भक्की था, इसलिए वह गश्त लगाते समय दूर ही से झुककर सलामी दागता और कहता—मैं जानता हूँ कि तुम बड़े साहब लोग कैसा काम कर रहे हो, उसे देखकर मेरी आँखें फूट जायँगी, इसलिए मैं वहाँ आना नहीं चाहता।

यद्यपि रामदास जेल के नियम पालने में बड़े चुस्त थे, तो भी अख़बार की ख़बर सुनने का लोभ त्यागना उनके लिए भी कठिन था। जब मैं अरार की आड़ से अख़बार पढ़कर निकलता, तब सभी युवक मेरे इर्द-गिर्द आ बैठते और बाहर के समाचार सुने बिना उठने का नाम न लेते। शाम को खेत से बिदा होते समय मैं अपना पढ़ा हुआ अख़बार हबशी सिपाही के हवाले कर कह देता कि इसे अमुक नम्बर की कोठरी में फेंक देना। वहाँ कुछ मित्र उसे पढ़कर सवेरे मल-मूत्र के बर्तन के साथ पाखाने में डाल आते। यद्यपि मैं जानता था कि जेल में आकर मिठाई खाना, सिगरेट पीना और अख़बार पढ़ना क़ानूनी अपराध है, तो भी यदि न मिले न सही, पर मिल जाने पर इन चीज़ों को छोड़ देने में असमर्थ था। जेल के नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करना किसी बिरले ही महापुरुष का काम होता है, किन्तु मैं तो महापुरुषों के चरणारविन्द के समीप भी बैठने योग्य नहीं था, फिर मुझमें इतनी निर्बलता पाई जाय तो आश्चर्य ही क्या है? मैंने तो यह भी देखा कि जो पक्के सत्याग्रही थे और जिन्हें सचाई की सनद भी मिल चुकी थी, वे भी

मेरे भेजे हुए अख़बार बड़ी ख़ुशी से पढ़ लिया करते थे, यद्यपि यह भी क़ानूनी जुर्म है। महान् त्यागी और वयोवृद्ध, देश-भक्त, श्रद्धेय पारसी रुस्तम जी जेल में जब-जब मुझसे मिले, तब-तब उन्होंने अपनी टोपी उतार कर मेरे सिर पर धर दी और मेरी टोपी अपने सिर पर। काका रुस्तम जी दर्ज़ीख़ाने में काम करते थे; वहाँ टोपियों का बाज़ार ही लगा रहता था। अतएव हमारे सिर पर मैली टोपी देखकर उनका वात्सल्य उमड़ आता और टोपी की अदला-बदली करते समय वह यह भूल ही जाते कि इस विषय में जेल का नियम क्या है ?

हमारे जत्थे में केवल युवक ही युवक थे, इसलिए इनमें कभी-कभी वाक्-युद्ध भी हो जाता। एक दिन मुनस्वामी बोला—रामदास जो जेल भोग रहा है, वह अपने मन से नहीं, किन्तु अपने पिता (महात्मा जी) के दबाव से। इस व्यङ्ग से रामदास मर्माहत हो गया और बोला—मैं सब कुछ सह सकता हूँ, पर पिता पर निराधार लाञ्छन नहीं। यद्यपि मेरी अवस्था सोलह वर्ष की ही है, तो भी मैं अपने कर्त्तव्य को समझने लगा हूँ। मैंने मुनस्वामी को फटकारा और बीच-बचाव कर दिया। इसी बीच में हमारे दो भाई—सोनपाल और रत्नपाल जुर्माने भर दिए जाने के कारण छूट गए। यद्यपि इसमें उनकी कोई निर्बलता नहीं थी, बाहर के मित्रों ने जुर्माने भर दिए थे, फिर सरकार उन्हें जेल के अन्दर रखती ही क्यों ? तो भी कमज़ोर-दिल जवानों पर इसका बुरा असर पड़ा। दो-चार मद्रासी युवक भी छूट जाने के लिए छटपटाने लगे, किन्तु

दैवयोग से उसी समय मेरीत्सबर्ग में हड़ताल का झण्डा उड़ने लगा। सड़कों पर हड़तालियों के समूह गीत गाते, बाजे बजाते और वक्तृता झाड़ते दृष्टिगोचर होने लगे। कहना व्यर्थ है कि इस रण-भेरी का आवाज़ से निर्बल हृदयों में भी वीर-रस का सञ्चार हो आया।

मेरीत्सबर्ग में हड़ताल का बिगुल बजते ही, दो ही दिन के अन्दर जेलख़ाना क़ैदियों से भर गया। कोठरियों में जगह नहीं रही, बरामदे में क़ैदी टिकाए गए, पुस्तकालय क़ैदियों से परिपूर्ण हो गया और गिरजाघर में भी एक इञ्च ज़मीन ख़ाली नहीं बची। इस परिस्थिति में हमारा वह प्रमोद-भवन हाथ से निकल गया। वहाँ नवागत क़ैदियों का डेरा पड़ा और गुलाबदास, शिवप्रसाद तथा मुझको एक छोटी सी कोठरी में बन्द कर दिया गया। मुझे तो यह एकान्तवास उतना नहीं अखरा, किन्तु बेचारा गुलाबदास व्याकुल हो गया। अब तक वह तीस क़ैदियों के साथ खुली जगह में गुल-गपाड़े का मज़ा चखता था, किन्तु आज इस अँधेरी कोठरी में बन्द होते ही वह पागल बन बैठा और कहने लगा—मुझे शीघ्र इस कोठरी से बाहर निकालो, नहीं तो मैं चिल्लाना शुरू करूँगा। मैंने समझाया—चुपचाप पड़े रहो। अगर हल्ला करोगे तो काल-कोठरी में जाकर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

मेरीत्सबर्ग में हड़ताल क्या हुई, मानो हमारा बना-बनाया घर उजड़ गया और दरबन में वे दिन देखने पड़े, जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

कारावास या नरकवास ?

रीख़ २८ नवम्बर को मेरीत्सवर्ग से १०० सत्याग्रही-क़ैदियों को दरबन के लिए प्रस्थान करना पड़ा। इनमें एक मैं भी था। हमारे दल की ग्यारह स्त्रियों को भी, जो उस समय मेरीत्सबर्ग की जेल में थीं, दरबन जाने की आज्ञा मिली। स्टेशन पहुँचने पर दूर ही से उनके दर्शन हुए। दण्ड पाने के बाद यह पहला ही अवसर था, जबकि मुझे अपनी पत्नी और पुत्र को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। कारावास के कारण इस क्षणिक मिलन में भी कितनी मोहमयी ममता थी, कितना प्रेमानुराग था और कितनी बड़ी विवशता थी ? एक-दूसरे को देखते हुए भी—समीप होते हुए भी न मिल सकते थे और न बातचीत ही कर सकते थे। हम दोनों क़ैदी थे। हाथ तो हथकड़ी से बँधे ही थे, पर मुँह पर भी ताला लगा हुआ था। केवल नेत्र स्वतन्त्र थे, और वे अपने कर्त्तव्य से न चूके !!

हम लोग रेलगाड़ी के ख़ास-ख़ास डिब्बे में बैठाए गए, और मेरीत्सबर्ग को प्रणाम कर बिदा हुए। हाथों में हथकड़ियाँ मढ़ दी गई थीं, किन्तु मेरी कलाई इतनी पतली थी कि हथकड़ी से अपना हाथ खींचकर मैं आराम से बैठ गया। बेचारे पहरेदार ने मेरी इस ढिठाई पर मन ही मन न जाने क्या सोचा होगा, किन्तु प्रकट-रूप से इतना ही बोला—स्टशन आने पर हथकड़ी पहिन लिया करो। इसमें मेरा कोई एतराज़ नहीं था, जब स्टेशन आता उसमें हाथ घुसेड लेता और गाड़ी खुलते ही फिर निकाल लेता। समस्त स्टेशनों पर "हिप-हिप हुर्रे" और "वन्देमातरम" की हर्ष-ध्वनि होती गई, किन्तु दरबन पहुँचते ही सब आनन्द किरकिरा हो गया।

दोपहर को गाड़ी दरबन-स्टशन पर पहुँची। वहाँ से चलकर हम लोगों ने सेन्ट्रल-जेल में प्रवेश किया। अब तो यह निश्चय करना कठिन हो गया कि यह बन्दी-घर है या यमराज का मूर्तिमान् नरक-कुण्ड ? गोरे-पहरेदार इतने निष्ठुर, इतने कठोर और इतने क्रूर थे कि बात-बात में गाली बकना और कुछ बोल देने पर लात-घूँसे चलाना उनके बाएँ हाथ का खेल था। उनकी नृशंसता और अत्याचार-प्रियता इतनी बढ़ी हुई थी कि मनुष्यता का मानो दम उखड़ रहा था। हबशी सिपाहियों की बात ही न पूछिए। इन ग़ुलामों की आत्मा इतनी पतित हो गई थी कि केवल गोरे-अफ़सर के इशारे पर ये क्या नहीं कर सकते थे ? इनमें न सहृदयता थी, न मनुष्यता और न उचित-अनुचित का कुछ विचार। गोरे-पहरेदार

हमें 'कुली' कहकर पुकारते थे, फिर भला ये हबशी 'मकूला' कहने से क्यों बाज़ आते ?

ख़ैर, हृदय थामकर आगे की कथा सुनिए। पहिनने के जो कपड़े मिले, वे इतने मैले-कुचैले और गन्दे थे कि बदबू से साँस लेना कठिन हो गया। खाना ऐसा ख़राब मिला कि उसको खाने में शायद कुत्ते भी परहेज़ करते और सूँघकर छोड़ देते। कम्बल मिला केवल एक ही; उसी को चाहे ओढ़ो, चाहे बिछाओ और चाहे सिरहाने रक्खो। तीन-तीन क़ैदी को एक-एक कोठरी में बन्द किया गया। जब मैं मानसिक वेदना से व्याकुल होकर महाप्रभु की प्रार्थना करने लगा, तब गोरा-सिपाही उछलकर दरवाज़े पर पहुँचा और डपट कर बोला—चुप रह कुली-कुत्ता ! नहीं तो चूतड़ पर लातें लगेंगी। उस समय मेरे हृदय से एक आर्त्तनाद, एक करुण-ध्वनि और एक गहरी उसास निकल पड़ी, और मुझे अङ्गरेज़ी का यह पद्य याद आया :—

Stone-walls do not a prison make,
Nor iron-bars a cage,
Minds innocent and quite take
That for hermitage,

अर्थात् :—

पत्थर की भित्तियों से कारा-भवन न बनता !
लोहे के सींख़चों से पिंजरा नहीं है सजता !!

निर्दोष आत्मा को कारा नहीं अखरता !

शान्ति वहीं है मिलती, मन लीन तप में रहता !!

इसी पद्य को रटते-रटते मैं सो गया। अगले दिन इस दुर्व्यवहार से अत्यन्त खिन्न होकर कुछ सत्याग्रहियों ने अनशन-व्रत का अनुष्ठान किया। जेल के गवर्नर डीन साहब का हृदय वज्र से भी कठोर धातु का बना हुआ था, अतएव व्रतधारियों पर अमानुषिक अत्याचार प्रारम्भ हो गया। भाई प्रागजी देसाई एक सुशिक्षित और प्रतिष्ठित सत्याग्रही थे, उन पर एक हबशी-कुत्ता छोड़ दिया गया। प्रागजी को वह दुष्ट खेला-खेलाकर आक्रमण करने लगा। लगातार लातों, घूँसों और कोड़ों की मार खाते-खाते जब वह वीर मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़ा, तब वह नृशंस निशाचार उनकी टाँगें पकड़कर कँकरीली ज़मीन पर इधर से उधर खूब ही घसीटने लगा, जिससे प्रागजी के बदन से खून के फव्वारे फूट निकले। प्रागजी के अधमरा हो जाने पर ही उस पिशाच की छाती ठण्ढी हुई। वे कई दिनों तक अस्पताल में शारीरिक यातनाएँ भोगते रहे। दरबन की कचहरी में उस नराधम पर मामला भी चला, पर क्या उसे कोई दण्ड मिला या वह काम से मौक़ूफ़ किया गया ? न-न, कहीं कुछ न हुआ। वह अङ्गरेजी न्याय से निर्दोष सिद्ध हुआ और बेदाग़ छूट गया।

रघुवर को एक पहरेदार ने एक अहाते से दूसरे में चलने को कहा। रघुवर चल तो दिया, लेकिन दौड़ न सका। भूख से निर्बल

हो गया था, और पैर उठाए नहीं उठते थे। यह बेअदबी नहीं थी तो और क्या ? पहरेदार ने कूदकर उसकी पीठ पर दो लात जमाई और गर्दन पकड़कर जमीन पर पटक दिया। जब रघुवर ने उठकर पूछा कि यह किस अपराध का दण्ड है, तब वह पकड़कर गवर्नर के सामने खड़ा किया गया। वहाँ से नादिरशाही हुक्म हुआ कि इस दुष्ट को काल-कोठरी में बन्द कर दो। खाने को असली खुराक का आधा दो और वह भी दिनभर में केवल दो बार। भात-पानी के सिवाय साग-पात या दाल कुछ मत दो। बेचारा रघुवर आठ दिन में सूखकर काँटा हो गया, गाल पिचक गए और सूरत डरावनी हो गई। रेवाशङ्कर जब भूख से अचेत होकर गिर पड़ा, तब उसे अस्पताल में लाकर जबरदस्ती अण्डा पिलाया गया। उसका चिल्लाना, घिघियाना, धर्म की दुहाई देना और छटपटाना सब व्यर्थ हुआ !!

पाखाने में बहुत से क़ैदी एक साथ ही बैठा दिए जाते, और जहाँ वे बैठे नहीं कि 'उठो-उठो' की पुकार मच जाती। एक दिन ज्यों ही मैं पाख़ाने पर सँभल कर बैठा, त्योंही हबशी-सिपाही ने कहा—अरे मकूला ! जल्दी कर।

मैंने जवाब दिया—अभी तो आया हूँ। बस, वह दाँत किटकिटाते हुए आया और मुझे पाखाने पर ही ढकेल दिया। मैंने उठकर पूछा—यह तुमने क्या किया ? इसके जवाब में एक दूसरे हबशी-गुलाम ने मेरा गला धर दबाया। साँस रुक जाने से प्राण अब-तब करने लगे और जब मैंने गोरे-वार्डर से इस बात की

शिकायत की, तो आँख तरेर कर उत्तर मिला—अपना कल्याण चाहो तो सीधे कोठरी में चले जाओ और अगर मुँह खोलोगे, तो बदले में जूते खाओगे। क्या करता, विवश था; अपना रास्ता नापा। मैजिस्ट्रेट साहब से फ़र्याद करने पर आश्वासन मिला कि इस घटना की जरूर जाँच होगी। हाँ, जाँच तो अवश्य होगी और वह होगी ईश्वर के दरबार में, किन्तु वहाँ तो कोई जाँच नहीं हुई।

इस बार व्रतधारियों ने पाँच दिवस उपवास किया और नाना प्रकार के अत्याचार सहे। मैंने पहले दो दिन और अन्त में एक दिन अन्न नहीं खाया। बहुत निर्बल हो जाने के कारण ही मुझे ऐसा करना पड़ा। जब अत्याचार करते-करते नृशंस नराधमों को कुछ थकावट मालूम हुई, तब कहीं पाँचवें दिन गवर्नर डीन साहब के दिल के किसी कोने में मानवी-भाव का कुछ अंश दिखाई पड़ा। इसका एक सबल कारण यह भी था कि उनकी कीर्ति-कथा देशव्यापी हो गई थी, और सभाओं के मञ्च से तथा पत्र-सम्पादकों की मेज़ से निन्दा की वृष्टि होने लगी थी। गवर्नर साहब लज्जित और विवश होकर सत्याग्रहियों के पास आए और इस शर्त पर सुलह हुई कि हमारी सब शिकायतें दूर कर दी जायँगी।

यद्यपि हमारी छोटी-मोटी शिकायतें दूर हो गईं, तो भी अपमान और अनादर का सिलसिला जारी रहा और गोरों का 'कुली' तथा हबशियों का 'मकूला' कहना न छूटा। जब गवर्नर

के पास इस बात की शिकायत की गई, तो उन्होंने शब्द-कोष निकाल कर 'कुली' शब्द की सामयिक और स्वानुकूल व्याख्या कर दी। आपने फ़रमाया—'कुली' का अर्थ है 'मज़दूर' (Labour) और तुम्हें चूँकि सख्त मज़दूरी (Hard Labour) के साथ क़ैद की सज़ा मिली है, इसलिए कुली कहना कुछ अनुचित तो नहीं है। हवशी लोग उसी का अपभ्रंश 'मकूला' कहते हैं। इसमें चिढ़ने की कौन सी बात है? पुस्तक माँगने पर श्रीमान् ने कहा—हम किसी काले क़ैदी को अङ्गरेज़ी की पुस्तक नहीं देते।

गवर्नर की इस उद्दण्डता पर पुनः अशान्ति मची—फिर असन्तोष फैला और इस बार केवल प्रागजी देसाई, सुरेन्द्रराय मेढ और मणीलाल गाँधी ने अनशन-व्रत प्रारम्भ किया। छः दिवस इन वीरों ने अखण्ड उपवास किया, और इनकी कष्ट-सहिष्णुता से पाशविक शक्ति भी थर्रा उठी। प्रागजी की देह एक तो यों ही हवशी-सिपाही के डण्डों की मार से चूर-चूर हो गई था, उसपर यह उग्र तपस्या! वे जीवन और मृत्यु की मध्य-रेखा पर पहुँच गए और उठाकर अस्पताल में पहुँचाए गए। इस बार गवर्नर और जेल के नेत्र-पट खुल गए और उन्होंने आकर न केवल खेद ही प्रकट किया, बल्कि क्षमा भी माँगी।

अनुभव से यह बात सिद्ध है कि ग़ुलाम-जाति के लोग जितने क्रूर होते हैं, उतने ही कायर भी। जो हवशी-सिपाही शेर बने हुए थे, परिस्थिति में परिवर्त्तन होते ही वे निरे सियार बन गए। 'मकूला' की जगह 'बाबा' कहने लगे, और ज़रा धमका देने पर

ख़ुशामद के पुतले बन जाते। वे आश्चर्य के साथ कहते—ऐसे क़ैदी हमने कभी नहीं देखे। ये क़ैदी हैं या क़ैद के साहब ? गोरे-पहरेदार भी नम्र और सुशील बन गए। उनके स्वभाव से दुर्जनता की दुर्गन्धि दूर हो गई।

मैं अब तक जेल के अन्दर ही काम किया करता था, किन्तु एक दिन मैं बाहर की अवस्था देखने के लिए अन्य क़ैदियों के साथ निकल पड़ा। अमगेनी की पहाड़ी पर पत्थर तोड़ने का काम जारी था, और क़ैदियों का एक जत्था नित्य ही रेलगाड़ी पर बैठकर वहाँ जाता था। मैं भी इस जत्थे के साथ अमगेनी पहुँचा। एक गाड़ी पत्थर लादने का ठेका मिला। अन्य मजबूत क़ैदियों ने तो अपने ठेके पूरे कर लिए, पर मेरी गाड़ी आधी भी न भरी। विवश होकर पहरेदारों ने दूसरे क़ैदियों से मेरी गाड़ी भरवाई। मध्याह्न में खाने को केवल आठ आउन्स भात मिला, उसके साथ दाल, तरकारी और नमक तक नदारद। भात भी रात का रँधा हुआ था, इसलिए उसमें बदबू आती थी। फोड़ना तो पत्थर और खाना सूखा भात ! यह दुरवस्था मुझे असह्य प्रतीत हुई, और मैंने काम से लौटकर जेलर से शिकायत की। उत्तर मिला—दिन का बकाया दाल और साग इस वक़्त मिल जायगा। मैंने दृढ़तापूर्वक कहा—इससे तो अच्छा यही होता कि क़ैदियों को तीनों वक़्त का भोजन एक साथ ही दे दिया जाय। समय भी बच जायगा और अमलदारों को आसानी भी होगी। फल यह हुआ कि दूसरे दिन मुझे बाहर जाने से रोक लिया गया।

मैं जेल के 'हार्ड लेबर-यार्ड' में काम करता था। इस विभाग में चटाई, फ़र्श और रस्से बनाए जाते थे। यहाँ का सरदार रामसरोज नाम का एक क़ैदी था। यह टोङ्गाट का रहने वाला शिक्षित हिन्दुस्तानी था और एक जाली चैक के फेर में पड़कर यह कष्ट भोग रहा था। रामसरोज को महर्षि दयानन्द और आर्य-समाज के सिद्धान्त जानने की बड़ी इच्छा थी, इसलिए वह सारा दिन मुझसे इस विषय पर बातचीत किया करता। मुझे भी इस धर्म-चर्चा में बड़ा आनन्द आता, अतएव रामसरोज से मेरी घनिष्ठता बढ़ने लगी।

मैंने जेल के पुस्तकालय से बाइबिल भी माँग ली थी, उसे मैं ध्यानपूर्वक पढ़ता। जब तक कोठरी में उजियाला रहता, तब तक मेरा मन बाइबिल के बीहड़ वन में पड़े हुए कुछ फूलों को चुनकर माला पिरोया करता। भूतों की भयानक लीला से मेरा चित्त भयभीत हो उठता और पापों से मुक्ति पाने की इच्छा ही नहीं थी। अतएव मैं केवल 'पर्वत पर ईसा के प्रवचन' में ही रमा रहता और उसी को बार-बार रटा करता। इसमें मुझे विचार की बहुत-कुछ सामग्री मिल जाती। मैं सोचता, गोरे लोग ईसा के अनुयायी होने का दावा तो रखते हैं, पर क्या उसके एक उपदेश पर भी चलते हैं? कहाँ दया और क्षमा की विमल धारा और कहाँ नृशंसता का नग्न-नृत्य! कहाँ गिरे हुए मनुष्यों को उठाने के ऊँचे भाव और कहाँ स्वार्थ और प्रभुता के लिए मनुष्य-जाति को दासत्व-शृङ्खला में बाँधने की चेष्टा! दोनों में कितना अन्तर और कितना भेद है?

महाप्रभु के महाराज्य और शैतान के साम्राज्य में जो अन्तर है, वही भेद क्या बाइबिल की शिक्षा और वर्त्तमान गोराङ्ग-नीति में नहीं पाया जाता ? वास्तव में गोरे लोग ईसा मसीह के मङ्गलमय उपदेश को नहीं मानते, उनका तो श्वेताङ्ग श्रेष्ठ-धर्म (White-race Supremacy Religion) में अखण्ड विश्वास है।

रामदास गाँधी मेरी ही कोठरी में रहते थे। उन्हें वीरों की अमर-गाथा सुनने की बड़ी रुचि थी, अतएव कभी महाराणा प्रताप के वनवास की; कभी गुरु गोविन्दसिंह के बच्चों के बलिदान की; कभी छत्रपति शिवाजी की शूरता की; कभी नवाब सिराजुद्दौला के जीवन की अन्तिम झलक की और कभी महर्षि दयानन्द के दिग्विजय की कथा सुनाकर रामदास को मैं सन्तुष्ट और प्रसन्न रखता। जब कभी मुझे आलस्य आ जाता, तब भी वे कुछ न कुछ कहलाए बिना न छोड़ते!

अब तक कुछ सत्याग्रही युवक मेरे साथ ही रहते थे और उनके मधुर सहवास से मेरा बन्दी-जीवन सचमुच स्वर्गीय जीवन बना हुआ था, किन्तु अचानक जेल के गवर्नर के सिर पर इन युवकों के सुधार की सनक सवार हुई। उन्हें मुझसे विद्रोही युवक के पास इन कोमल-हृदय युवकों को रहने देना बड़ा भयावह जान पड़ा, और उन्होंने सब युवकों को, उन्हींके भावी जीवन के कल्याण की चिन्ता से, वहाँ से हटाकर मुझे एकान्तवास की आज्ञा दी। इस बार का अकेलापन मुझे अच्छा ही जान पड़ा, ज्ञान-ध्यान के लिए यथेष्ट समय मिल जाता, किन्तु अधिक दिनों

तक मैं इस शान्ति का उपभोग न कर सका। जेल के अनुपयोगी भोजन ने मेरे स्वास्थ्य को स्थिर रहने न दिया और अतिसार का प्रबल आक्रमण हो गया। प्रतिक्षण आँव-ख़ून का पतन और उस पर चढ़ा १०५ डिग्री बुख़ार! ता० २५ दिसम्बर—क्रिसमस के दिन मैं चिन्ताजनक स्थिति में अस्पताल पहुँचा और कई दिनों तक अचेत पड़ा रहा। पश्चात् थोड़ा-थोड़ा दूध पीने लगा और शरीर में जब कुछ शक्ति आ गई, तब डॉक्टर ने मुझे ५ पिण्ट दूध, ४ आउन्स मज़ीना, ४ आउन्स औट मील, ४ आउन्स साबूदाना, ४ आउन्स चीनी और १० आउन्स चाय मिलने की व्यवस्था कर दी। जेल के नियमानुसार अपना भोजन किसी दूसरे को देना अपराध है, पर मैं इतना भोजन क्या करता? मेरे साथ जो अभागे अस्पताल में पड़े हुए थे और जिनको दूध भी नहीं मिलता था, उन्हीं को मैं अपनी ख़ुराक खिला दिया करता। जेल का नियम-भङ्ग यदि अपराध था, तो उन रोग-पीड़ित क़ैदियों का आशीर्वाद भी कुछ कम पुण्य न था।

एक दिन बहिन राजदेवी और भाई कुञ्जबिहारीसिंह मुझसे मिलने आए। सिंह जी तो प्रसन्नतापूर्वक मिल-जुलकर और घर-बाहर के सब समाचार सुनाकर बिदा हुए, किन्तु जब बहिन से मिलने गया, तब तो बड़ा ही करुण-काण्ड उपस्थित हुआ। एक तो मेरा अस्थि-पिञ्जर यों ही प्रदर्शन योग्य था, और ऊपर से रोग ने उसकी उन्नति में कोई कोर-कसर नहीं की थी। अतएव ज्यों ही मैंने लोहे की कड़ियों से बने हुए मिलन-मन्दिर के द्वार में

प्रवेश किया, त्यों ही बहिन का धैर्य जाता रहा और वह बालक की भाँति बिलख-बिलख कर रोने लगीं! उन अश्रु-विन्दुओं में अकृत्रिम स्नेह का कितना प्रदीप्त प्रकाश था और उस प्रकाश में भ्रातृत्व की कैसी मनोहर झलक, यह कवि-कल्पना की वस्तु है। मैं तो इतना ही कहकर सन्तोष करूँगा कि भाई-बहिन वास्तव में एक ही आत्मा के दो आलोक हैं; एक ही हृदय के दो भाग हैं; एक ही शरीर की दो आँखें हैं; एक ही वृक्ष के दो फल हैं और हैं एक ही फल के दो बीज। अस्तु, मैं लिख चुका हूँ कि बहिन के आत्म-संयम का बाँध टूट गया, फिर मेरी वाणी में इतना बल कहाँ कि मैं उसे बाँध सकूँ! मिलन का समय भी हो गया और पुनर्मिलन की आशा लेकर हम एक-दूसरे से बिदा हुए।

जिस समय मैं अस्पताल में था, उसी समय वृद्ध हरबतसिंह के दर्शन हुए। उनकी अवस्था ७० वर्ष से अधिक थी; शरीर जरा-जीर्ण हो गया था और बाल पककर बिलकुल सफ़ेद। तीस साल इन्होंने नेटाल में मजदूरी की थी, और इस वृद्धावस्था में एक छोटे से खेत पर निर्वाह करते थे। जब हड़ताल का जोश फैला, तब हरबतसिंह अपने को रोक न सके और गिरफ़्तार होकर जेल में पहुँच गए। वॉल्करस्ट की जेल में महात्मा जी से मुलाक़ात हुई। महात्मा जी ने इनकी अवस्था का ख़याल करके पूछा—आपने इस ठेठ बुढ़ापे में जेल आना क्यों पसन्द किया?

वृद्ध ने उत्तर दिया—जब आप सब और स्त्रियाँ तक जेल में हैं, तब मैं जेल से बाहर रहकर क्या करूँ?

महात्मा जी ने फिर पूछा—पर भाई, आपका शरीर जेल में छूट जाय तो ?

वृद्ध ने प्रत्युत्तर में कहा—छूटेगा तो छूटने दो। मैं बूढ़ा हूँ। मेरे जीने से क्या फ़ायदा है ?

यह बात सत्य सिद्ध हुई और मेरे सामने ही अस्पताल में हरबतसिंह का शरीर छूट गया। उनका शव गाड़ दिया गया था, किन्तु नेताओं के उद्योग से वह फिर उखाड़ा गया और हिन्दू-धर्म की रीत्यनुसार दाहकर्म हुआ। जीवनभर मिहनत-मज़दूरी करने वाले एक अशिक्षित और साधारण मनुष्य ने अन्त समय देश-सेवा की बलि-वेदी पर चढ़कर वह अक्षय यश उपार्जित किया, जो असाधारण शिक्षा-सम्पन्न सज्जनों या लक्ष्मी के बड़े-बड़े लालों को भी नहीं प्राप्त होता। वह एक अज्ञात कुल में उत्पन्न हुआ था, उसके जीवन की घटनाएँ विस्मृति की वस्तु थीं। वह एक दिन खाट पर पड़े-पड़े अवश्य मरता और उसके दो-चार मित्रों के सिवाय और कौन उसे जानता, किन्तु सत्याग्रह के महायज्ञ में अपने प्राणों की आहुति देकर वह इतिहास में अमर स्थान पा गया। महात्मा जी ने उसका गुणानुवाद किया; पोलक, पियर्सन और श्लेशीन जैसे मनुष्य उसके शव के साथ गए और दक्षिण अफ्रिका की अनेक सभाओं ने उसके भस्मावशेष पर फूलों की मालाएँ चढ़ाईं। सच है, देश-सेवा-रूपी पारस के स्पर्श से लोह-रूपी साधारण मनुष्य भी कुन्दन-कञ्चन बन जाता है।

अस्पताल से निकलकर मैं पुनः अपनी शान्ति-कुटी में आ

पहुँचा। कुछ-कुछ हलका काम भी करने लगा, किन्तु उसी समय जेल वालों ने एक और भी तुम्बाफेरी की। हम लोग केवल दस मनुष्यों को रखकर शेष सब सत्याग्रहियों को पोइण्ट की जेल में भेज दिया गया। वहाँ उन बेचारों पर मनमाने अत्याचार किए गए !!
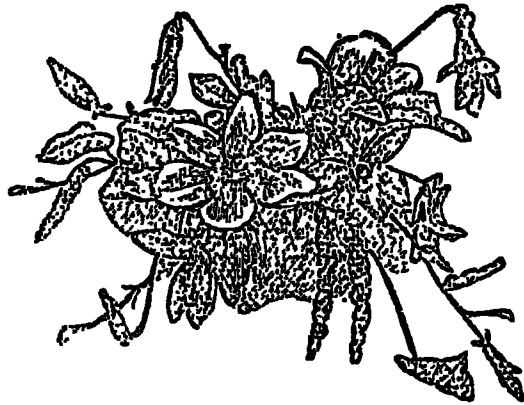
बन्दीगृह से मुक्ति
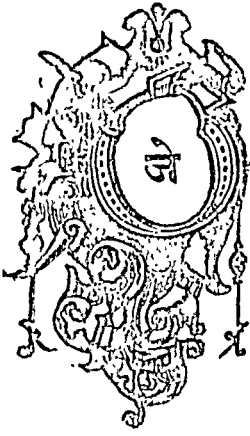
जेल को कोई स्वर्ग कहता है और कोई नरक, किन्तु मेरे समय में जेल वास्तव में स्वर्ग-नरक का सङ्गम बन गई थी। जेल के इतिहास में कभी-कभी ऐसा समय आ जाता है, जबकि वह नरक-कुण्ड देश-भक्तों के पाद-पद्मों से पावन होता है। ऐसे तो कुकर्मों के प्रायश्चित्त करने के लिए ही कारागार की सृष्टि हुई है। बन्दी-घर में एक से एक बढ़कर बदमाशों का बसेरा है। मनुष्य-जाति के चुने हुए अधम-जीव वहाँ इकट्ठे होते हैं। यद्यपि उनके अपराधों की अलग-अलग व्याख्या की जा सकती है, किन्तु उनके रहन-सहन में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। सुशील और सच्चरित्र मनुष्य भी किसी कारणवश जेल में पहुँच जाने पर पुराने दागियों के कुसङ्ग से दुश्चरित्र और दुरात्मा बन जाता है। उनका सारा समय वाहियात बातें, गाली-गलौज और लड़ाई-टण्टे में नष्ट

होता है। सख्त मनाही और कठोर दण्ड का विधान होने पर भी वे तम्बाकू लुका-छिपाकर जेल के अन्दर लाने से नहीं हिचकते। इसलिये उनको नङ्गाझोरी के वक्त सचमुच नङ्गा कर दिया जाता है, और उनके वस्त्र का प्रत्येक अंश बड़े ग़ौर से देखा जाता है। यहाँ तक कि उनके मुख और चूतड़ के छिद्र भी देखे जाते हैं, क्योंकि कितने क़ैदी वहीं तम्बाकू दबाए हुए पकड़े जा चुके हैं। पहरेदारों की प्रकृति में जो अमानुषिकता का अंश पाया जाता है, उसका एक कारण इन क़ैदियों का सहवास भी जान पड़ता है। इस दण्ड-गृह में भी कई क़ैदी अस्वाभाविक कुकर्म के अपराध में पकड़े जाकर काल-कोठरी में भेजे जाते हैं।

अस्पताल में मैंने अनेक क़ैदी-रोगियों का चरित्र पढ़ा। एक क़ैदी ने काम से ऊबकर अपना पाँव काट लिया और वर्षों अस्पताल में पड़ा रहा। मरहम-पट्टी से अगर घाव भरने लगता, तो वह उसे खोदकर फिर ताज़ा कर देता। मेरे पूछने पर उसने कहा—अच्छा होकर क्या होगा? फिर वही कठिन काम करना पड़ेगा और फिर पहरेदारों की वही घुड़कियाँ सहनी पड़ेंगी। मियाद लम्बी है, अस्पताल में ही पड़ा रहना अच्छा है। एक और क़ैदी साबुन खा-खा कर सदा के लिए अस्पताल के योग्य हो गया था। सुना कि एक क़ैदी ने तो बड़ा ही साहस का काम कर डाला था। वह काँच पीसकर पी गया और बीमार होकर अस्पताल पहुँचा। डॉक्टर ने बहुत उद्योग करके उसे जिलाया और काम के योग्य बना दिया, किन्तु उसने फिर काँच का शर्बत पिया और सदा के लिए बन्धन से छूट गया।

बन्दी का उद्देश्य तो यह है कि मनुष्य-चरित्र की त्रुटियों को दूर किया जाय, परन्तु वर्त्तमान युग की व्यवस्था तो ऐसी है कि क़ैदी और पहरेदार मनुष्यता से भी हाथ धो बैठते हैं।

ख़ैर, किसी तरह तीन मास की अवधि पूरी करके १७ जनवरी १९१४ को मैं जेल से छूट गया। इन तीन महीने में मैंने तीन जेलें देखीं। अवधि की अवस्था के अनुसार न्यूकासिल में उसका जन्म, मेरीत्सबर्ग में यौवन और दरबन में बुढ़ापा तथा अन्त हुआ। जेल-क़ानून के अनुसार क़ैदी को १० बजे रिहाई की जाती है, लेकिन मुझे बड़े सबेरे कपड़े बदलने की इजाज़त मिल गई। सनातन नियमानुसार डॉक्टर साहब का अन्तिम दर्शन कर लेना अनिवार्यतः आवश्यक था, किन्तु मेरे लिए वह भी दुर्लभ हो गया। मुझे साबिक़ कपड़े पहिनाकर दफ़्तर में लाया गया! वहाँ जेलर ने पूछा—क्यों जी, तुम फिर जेल आओगे?

मैंने उत्तर दिया—तीन पाउन्ड का टैक्स रद न होने तक बार-बार। बस, मुझसे कहा गया कि आप अब यहाँ से सिधारिए। मैं जेल से बाहर हो गया—बन्धन से मुक्त हो गया। फाटक पर केवल बाल-सखा लक्खू महाराज और श्री० भानुप्रकाश महाराज को खड़े पाया। अभी नौ ही बजे थे! दोनों दोस्तों के साथ चल पड़ा। रास्ते में अन्य मित्रों का समूह मिला। वहाँ से काका जी (पारसी रुस्तम जी) के मकान पर पहुँचा और तीन मास के पश्चात् काका जी के प्रेम-रस के साथ-साथ मिष्टान्न और षट्रस व्यञ्जन खा-पीकर छक गया।

छूट आने पर मुझे यह मालूम हुआ कि मेरे जेल जाने के बाद ही न्यूकासिल से चार हजार मजदूरों का जत्था लेकर महात्मा जी ने ट्रान्सवाल में प्रवेश किया और मार्ग में पकड़े जाकर एक साल के लिए कारागार में भेजे गए। उनके बाद पोलक साहब और केलनबेक साहब ने क्रमशः पकड़े जाकर तीन-तीन मास क़ैद की सजा पाई। जो मजदूर ट्रान्सवाल की सीमा पार कर चुके थे, उन सबको भी गिरफ्तार किया गया और वे सब अदालत से यथायोग्य दण्डित हुए। खानों के जिन-जिन बारकों में वे रहते थे, उन सबों को जेलखाना बना दिया गया और दण्डित हड़तालियों को वहीं रखकर खानों में काम कराया जाने लगा। इससे हड़ताल दबी नहीं, किन्तु इतनी भड़की कि समुद्र के उत्तर और दक्षिण तीरवर्ती तथा मध्यवर्ती समस्त कोठियों, खानों, बगानों, सरकारी विभागों इत्यादि के लगभग २५ हजार मजदूर काम छोड़ बैठे। सलवन, सूरभाई और पचियापन अत्याचारियों की गोली के शिकार बने। ट्रान्सवाल की और भी आठ स्त्रियों ने कारागार को पावन किया। माननीय गोखले ने खान-पान और आराम की चिन्ता छोड़कर लाखों रुपए उगाहे और हड़तालियों के सहायतार्थ एक बड़ी रक़म भेजी। नेटाल के कई केन्द्रों में हड़तालियों के बाल-बच्चों को रसद बाँटने की व्यवस्था हुई। हजारों अत्याचार होने पर भी हड़ताल दिनोंदिन बढ़ती ही गई और तब कहीं जाकर सरकार की आँखें खुलीं। जाँच-कमीशन नियुक्त हुआ। महात्मा गाँधी, श्री० पोलक और मि० केलनबेक कमीशन के समक्ष साक्षी देने और सन्धि की शर्तें तय

करने के लिए छोड़ दिए गए। अन्य क़ैदियों को छोड़ देने के लिए भी बातचीत हो रही थी। कहना व्यर्थ है कि इन समाचारों से मुझे आशातीत आनन्द हुआ।

मेरे छूटने के बाद चौथे दिन (२० जनवरी को) ट्रान्सवाल की ग्यारह स्त्रियाँ छूटने वाली थीं। उनके आगत-स्वागत के लिए दरबन के भारतीयों में उमङ्ग की लहरें उठ रही थीं, किन्तु ठीक उसी समय गोरे-मजदूरों की हड़ताल हो गई थी और देश भर में फ़ौजी क़ानून जारी था। पोलक साहब के अथक परिश्रम करने पर भी जुलूस का प्रबन्ध न हो सका और बहुत थोड़े आदमियों को जेल के फाटक पर जाने की इजाज़त मिली। साढ़े नौ बजे केवल तीन ही स्त्रियों को रिहाई मिली और शेष ८ स्त्रियाँ जेल में ही रोक ली गईं। इमिग्रेशन-अमलदार की ओर से उन्हें वर्जित-प्रवासी (Prohibited immigrants) होने का नोटिस दिया गया और यह भी ताक़ीद कर दी गई कि यदि वे नियमित अवधि के अन्दर अपील न करेंगी, तो उन्हें देश-निर्वासन का दण्ड मिलेगा।

जेलर मुझे पहचानता ही था। वह मेरे समीप आकर बोला—मैं क्या करूँ? मेरा कोई अख़्तियार नहीं है। इस मामले में इमिग्रेशन-अमलदार का निर्णय ही सर्वोपरि है। यदि आप उनसे मिलकर अपनी पत्नी की रिहाई का कुछ इन्तज़ाम कर सकते हों, तो अवश्य कीजिए। पोलक साहब से पूछने पर उन्होंने भी यही सम्मति दी। अतएव मैं इमिग्रेशन-ऑफ़िस पहुँचा और प्रधान अमलदार से मिलने की इच्छा प्रकट की। जल-सिपाही

(Water-police) के मुखियों ने पूछा—तुम कौन हो और किस-लिए मिलना चाहते हो ?

मैं—मैं एक सत्याग्रही हूँ और और मेरी पत्नी जेल में रोक ली गई है, इसी विषय पर प्रधान अमलदार से कुछ बातचीत करनी है।

पुलिस वाले—तुम्हारा नाम क्या है ?

मैं—मेरा नाम है भवानीदयाल।

पुलिस वाले—अच्छा महाशय ! भले तुम हाथ लगे। तुम्हारी स्त्री तो वर्जित प्रवासी है ही, लेकिन तुम भी इस जुर्म से बरी नहीं हो। गृह-सचिव की आज्ञा होने पर भी तुम यहाँ से रफ़ूचक्कर हो गए थे और अब आए हो अधिकार का दावा करने ! अच्छा बैठो, और अपने को हिरासत में समझो। अमलदार के आने पर तुम्हारे लिए भी देश-निर्वासन की व्यवस्था हो जायगी।

यह सुनकर मैं तो सन्न हो गया और पोलक साहब को सूचना दे दी कि आया तो था पत्नी को छुड़ाने, किन्तु यहाँ खुद ही गिरफ़्तार हो बैठा हूँ—चला था। नमाज़ बख़्शने, गले पड़ गया है रोज़ा ! घण्टाभर मुजरिम बनकर बैठने के बाद प्रधान अमलदार डीक साहब आए और सारी कथा सुनकर उन्होंने अपने विभाग के अनुचित बर्ताव पर खेद प्रकट किया और मेरी स्त्री को कारामुक्त करने के लिए टेलीफ़ोन द्वारा जेलर को सूचना दे दी। यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि इतने दिनों के बाद आज इमिग्रेशन-अमलदार ने मेरे विवाह को विधि-सङ्गत स्वीकार कर लिया।

लगभग ११ बजे मेरी पत्नी जेल से छूटी और इसके घड़ीभर बाद शेष स्त्रियाँ भी छूट आईं। पोलक साहब ने इनकी रिहाई के लिए बहुत उद्योग करके गृह-सचिव से विशेष आज्ञा प्राप्त की थी।

अच्छा पाठक! अब चलिए काका जी (पारसी रुस्तम जी) के फ़िल्ड स्ट्रीट के मकान पर, जो उस समय सत्याग्रहियों का मिलन-मन्दिर बना हुआ था। काका जी की बैठक में दरबन के अनेक माननीय विद्वान्, प्रतिष्ठित धनाढ्य और पूजनीय नेता बैठे हुए थे, और लगभग दो सौ नारी-रत्नों की झलक से सभा-मण्डप प्रकाशमान हो रहा था। किन-किन के नाम लें और किनको छोड़ दें; तो भी पूज्य माता कस्तूरीबाई, श्रीमती पोलक, पार्लामेण्ट के स्पीकर की बहिन कुमारी मेल्टीनो, कुमारी श्लेशीन, कुमारी वेस्ट, श्रीमती मणिलाल डॉक्टर इत्यादि का नाम न लेना अनुचित ही होगा। दरबन के प्रसिद्ध गायक श्री० शेख़ महताब के सामयिक गान से लोगों में उमङ्ग और प्रेम की लहरें उठने लगीं। इसके बाद स्वागत-सूचक व्याख्यानों का सिलसिला जारी हुआ। पोलक साहब का मधुर भाषण सुनकर श्रोतागण मुग्ध हो गए; केलनबेक साहब के व्याख्यान से सबकी हृदय-तन्त्रियाँ हिल उठीं; पादरी बेली साहब ने स्वीकार किया कि इसी आन्दोलन में मुझे ईसा मसीह की शिक्षाओं की छटा दिखाई दी। काका जी के भाषण की तो बात ही न पूछिए, हृदय प्रेम से इतना सराबोर था कि मुँह से बराबर बात ही नहीं निकलती थी। कुमारी मेल्टीनो और कुमारी वेस्ट के भाषण स्त्री-जाति के पथ-प्रदर्शक थे। इमाम अब्दुलक़ादिर बावाजीर,

श्री० अम्बाराम महाराज, श्री० सी० वी० पिल्ले, श्रीमती पोलक, श्रीमती लारेन्स, श्रीमती माणिक पत्तर, कुमारी मुडली इत्यादि के व्याख्यान समयोचित और प्रसङ्गानुकूल थे।

इसके बाद सभा-समितियों की बारी आई। नेटाल-इण्डियन एसोसियेशन और नेटाल-इण्डियन वीमैन्स एसोसियेशन की ओर से इन सत्याग्रही महिलाओं को पुष्प-हार पहिनाया गया। फिर ट्रान्सवाल क्यों पीछे रहता, जो सत्याग्रह का अद्य-प्रवर्त्तक होने का दावा रखता है। अतएव ट्रान्सवाल ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन और ट्रान्सवाल इण्डियन वीमैन्स एसोसियेशन ने इस रस्म की नवीन आवृत्ति कर दी। काका जी का जरथोस्ती अञ्जुमन तो ऐसे कामों में अग्रस्थान लेने वाला ही ठहरा। प्रिटोरिया की ब्रिटिश-इण्डियन कमेटी, तामिल बैनीफिट सोसायटी और अञ्जुमन इस्लाम की ओर से बधाई-सूचक तार आए। दरबन की तामिल महाजन-सभा और हिन्दू-वीमैन्स सभा तथा साउथ-कोस्ट इण्डियन कमेटी की ओर से प्रीति-भोजों की व्यवस्था की गई। कुछ दिनों तक सभाओं में जाने और भोज खाने का खूब मजा आया, किन्तु इन आनन्दोत्सवों में मेरे लिए दुःख की एक झलक भी थी और वह यह कि जगरानी जी की देह जेल में इतनी टूट गई थी कि उन्हें देखकर दया आती थी !!
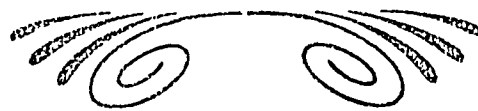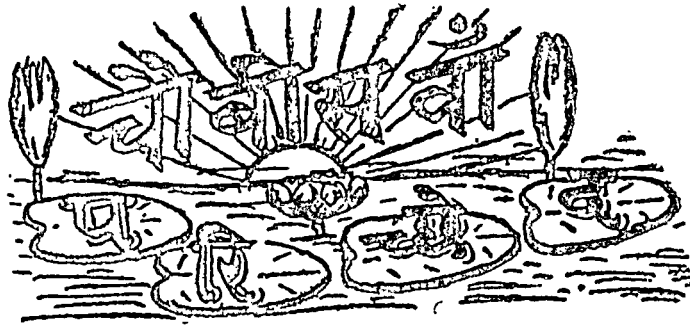
'इण्डियन ओपिनियन' के सम्पादकीय विभाग में

रामुक्त होने के पश्चात् प्रिटोरिया से मुझे महात्मा जी का एक पत्र मिला, जिसमें यह आदेश था—तुम पिनिक्स में जाकर रहो और 'इण्डियन ओपिनियन' के हिन्दी-अंश का सम्पादन करो। मैं चाहता भी यही था, यद्यपि मुझमें कुछ भी योग्यता न थी, तो भी इस कला में रुचि अवश्य थी। मैं वहीं से पटना के 'आर्यवर्त्त' मासिक पत्र को लेख भेजा करता था और पत्र के आवरण-पृष्ठ पर सहकारी-सम्पादक की जगह अपना नाम छपा हुआ देखकर गौरव का अनुभव करता था। मैं थोड़ा-बहुत लिख-पढ़ लेने की योग्यता को ही सम्पादक बनने के लिए पर्याप्त समझता था। उस समय मुझे यह नहीं मालूम था कि सम्पादक कहलाने मात्र से कोई स्वर्ग की सीढ़ी पर नहीं चढ़ जाता, बल्कि

इस पद की प्रतिष्ठा और सार्थकता तभी होती है, जब उसके लेख सर्व-साधारण के लिए विचार की वस्तु बन जायँ। अस्तु, मैं सम्पादक बनकर इस आशा और विश्वास से पिनिक्स पहुँचा कि अब जनता को अपने हिन्दी-लेखों की छटा दिखाकर चकित कर दूँगा, लेकिन वहाँ जाने पर मेरी इस उल्टी मति की गति बदल गई। चला तो था जनता को शिक्षा देने, किन्तु वहाँ के अनुभवों ने बतलाया कि मैं अभी शिक्षार्थी होने योग्य भी नहीं हूँ। इस पत्र के सम्पादन और प्रकाशन-विभाग में कैसे-कैसे दिग्गज दिमाग़ काम करते थे, उनका संक्षिप्त वर्णन किए बिना पाठक हमारे कथन की सचाई का ठीक अनुभव न कर सकेंगे।

'इण्डियन ओपिनियन' के सम्पादकों और प्रकाशकों के गुरु थे महात्मा गाँधी। महात्मा जी पत्र में स्वयं बहुत-कुछ लिखा करते थे। इस बार तो जेल से छूटकर आने पर उनके रहन-सहन में अमूल्य परिवर्त्तन हो गया था। जब अपने निर्दोष बन्धुओं के मारे जाने का समाचार इन महापुरुष को मिला, तो इनका साधु-हृदय दया, करुणा और शोक से भर आया। अब तक दिन में जो दो बार फलाहार करते थे, सो अब शरीर-रक्षा के अभिप्राय से केवल एक बार अल्पाहार करने का निश्चय कर लिया। कुश-काँटे से बचाने के लिए पैर में सिर्फ़ चप्पल पहना करते थे, उसे भी त्यागकर महात्मा जी ने नङ्गे पैरों चलने का व्रत अङ्गीकार किया। शरीर पर केवल एक धोती और एक मिर्जई उन्होंने धारण की और हाथ में एक लम्बी लाठी। उनका यह दिव्य-रूप और साधु-

वृत्ति को देखकर मेरे मन और मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा, और हृदय के एक-एक तार श्रद्धा और भक्ति के स्पर्श से बज उठे। ऐसे महापुरुष की संरक्षकता और निरीक्षणता में काम करना कितने सौभाग्य की बात है, उसे लिखकर बतलाने की आवश्यकता नहीं।

'इण्डियन ओपिनियन' के प्रधान सम्पादक थे श्री० हेनरी सोलमन लियन पोलक। इस पुस्तक में पोलक साहब का अनेक बार जिक्र आया है। पोलक साहब का जन्म डोभर में हुआ था। इनके पिता इङ्गलैण्ड में एक सम्मानित और प्रतिष्ठित यहूदी (Jew) थे। विलायत में शिक्षा प्राप्त करके पोलक साहब दक्षिण अफ्रिका आए। आपका स्वास्थ्य बिगड़ चला था, अतएव जोहन्सबर्ग के जलवायु का बखान सुनकर ही यहाँ आपका आगमन हुआ। आप 'ट्रान्सवाल क्रिटिक' के उप-सम्पादक नियुक्त हुए और इस पत्र का बड़ी योग्यता से सम्पादन करने लगे। आपके हृदय में धर्म के लिए एक ख़ास जगह थी, अतएव आपने टॉल्स्टाय और रस्किन की अनेक कृतियाँ देखीं। इससे आपकी प्रवृत्ति सत्य की ओर झुकी और सेवा-धर्म की श्रेष्ठता में विश्वास जम गया। दैवयोग से महात्मा जी से साक्षात् हो गया। बस, आप 'क्रिटिक' को छोड़कर 'इण्डियन ओपिनियन' के सम्पादक बन गए। इसके बाद आपने क़ानूनी ज्ञान प्राप्त करके ट्रान्सवाल में वकालत पास की और विवाह भी कर लिया। आपको पत्नी मिली अपने अनुरूप ही। उनका दिल भी काले-गोरे के भेद-भाव से बिलकुल साफ़ था। आप ट्रान्सवाल के भारतीयों की दुःख-कहानी सुनाने के लिए भारत

और इङ्गलैण्ड भी गए। आपने 'दक्षिण अफ्रिका के हिन्दुस्तानी—साम्राज्य के अन्दर गुलाम और उनके साथ होनेवाले वर्ताव' (The Indians of South Africa : Helots within the Empire and How they are treated) नाम की एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी, जिससे सत्याग्रह को बड़ी सहायता मिली। केवल भाषण और लेखन से ही नहीं, किन्तु इस बार जेल जाकर आपने यह भी सिद्ध कर दिया कि सत्य के लिए आप सब कुछ सह सकते हैं। आप अङ्गरेजी के गम्भीर, विचारशील, धुरन्धर और सिद्धहस्त लेखक हैं। यद्यपि आप फिनिक्स में रहते नहीं थे, तो भी पत्र-सम्पादन और नीति-नियन्त्रण का भार आप ही के ऊपर था।

मैनेजर मि० ए० एच० वेस्ट साहब थे। आप आश्रम में बाल बच्चे सहित रहते भी थे। पहले आप जोहन्सबर्ग के एक छापेखाना में हिस्सेदार थे, किन्तु महात्मा जी से परिचय होने पर सन् १९०४ ई० में आपने 'इण्डियन ओपिनियन' की सेवा स्वीकार की। वहीं से आप विलायत जाकर अपना विवाह भी कर लाए थे। श्रीमती वेस्ट भी बड़ी सुशीला और मृदु-भाषिणी महिला थीं। वेस्ट साहब की बहिन कुमारी एडा वेस्ट (देवी बहिन) की कीर्ति-कथा क्या कहें ? बच्चों को खिलाना, उनको पढ़ाना, प्रेस में टाइप बैठाना, घरों में झाड़ू देना, पुस्तकों की व्यवस्था करना और जो कुछ काम आ पड़े, उसे प्रसन्नतापूर्वक करने को प्रस्तुत रहना आप ही के योग्य था। कुमारी वेस्ट ब्रह्मचारिणी थीं, किन्तु मातृत्व के सम्पूर्ण सद्गुण उनमें शोभा पा रहे थे। वेस्ट की

बुढ़िया सास भी मिलनसार थीं। उनका नाम ही 'ग्रैनी' (दादी) पड़ गया था। इस वृद्धावस्था में भी वे सीने-पिरोने के काम में लगी रहती थीं। वेस्ट साहब दस पाउण्ड मासिक वेतन पर 'इण्डियन-ओपिनियन' में आए थे, किन्तु पिनिक्स के प्रवासी (Settlers) बन जाने पर केवल ३ पाउण्ड में निर्वाह कर रहे थे।

महात्मा जी के चचेरे भाई श्री० छगनलाल गाँधी और श्री० मगनलाल गाँधी सपरिवार आश्रम के अद्य-प्रवासी थे। एक गुजराती अंश के सम्पादक थे और दूसरे थे 'इण्डियन ओपिनियन' के संयुक्त प्रकाशक। पहले ये दोनों भाई नेटाल में व्यापार करते थे, किन्तु जब महात्मा जी ने पिनिक्स-आश्रम की बुनियाद डाली, तभी से यहाँ आकर रहने लगे। छगनलाल जी हाल ही में कारावास भी भोग आए थे, किन्तु मगनलाल जी को 'इण्डियन ओपिनियन' के कार्य-भार के कारण जेल जाने का अवसर न मिला। तो भी आपने उस सङ्कट की घड़ी में पत्र-द्वारा जनता की जो सेवा की, उसकी जितनी सराहना की जाय, थोड़ी है। इन दोनों भाइयों की वीर स्त्रियाँ भी माता कस्तूरीबाई के साथ जेल काट आई थीं, और ये दोनों देवियाँ गम्भीर और मितभाषी थीं। बड़े भाई की देश-भक्ति तथा साहित्य-प्रेम और छोटे भाई की कार्य-दक्षता तथा उत्साह प्रशंसनीय था।

इमाम अब्दुलक़ादिर बाबाजीर ट्रान्सवाल से यहीं आ बसे थे। आप ट्रान्सवाल अहमदिया इस्लामिक सोसायटी के सभापति थे और वहाँ आपकी अच्छी इज़्ज़त थी, लेकिन दुनियाबी कोलाहलों

से ऊबकर शान्तिमय जीवन व्यतीत करने के लिए आप आश्रम में आ गए थे। इनके परिवार में केवल दो प्राणी थे, एक तो इनकी वृद्धा पत्नी और दूसरी इनकी युवती पुत्री। आप सदा प्रसन्न रहते और सबसे प्रेमपूर्वक मिलते थे। आप भी 'इण्डियन ओपिनियन' के मुद्रण में योग देते थे।

उस समय भाई प्रागजी देसाई भी आश्रम में थे। आप में कष्ट सहने का विलक्षण साहस था और आपने जेल में जो वीरोचित साहस दिखाया, उसका दिग्दर्शन किसी पिछले अध्याय में हो चुका है। गुर्जर-साहित्य में आपकी अभिरुचि थी और सत्याग्रह पर आपने कई महत्वपूर्ण गल्प लिखे थे। अङ्गरेज़ी भी आप अच्छी जानते थे। आप गुजराती-अंश के सम्पादन में सहायता देते थे।

डॉक्टर मणिलाल बार-एट-लॉ को आज भारतवर्ष में कौन नहीं जानता। वे मोरिशस और फ़ीजी की घटनाओं के कारण बहुत प्रसिद्ध हो चुके हैं। इनकी धर्मपत्नी श्रीमती जयकुँवारीदेवी उस समय आश्रम में ही थीं। आप रङ्गून के प्रख्यात डॉक्टर जगजीवन प्राणजीवन महता की पुत्री हैं और आपको अङ्गरेज़ी तथा गुजराती की अच्छी शिक्षा मिली है। आप अध्यापन के अतिरिक्त 'इण्डियन ओपिनियन' के मुद्रण में भी मदद दिया करती थीं।

अन्त में, किन्तु सबसे अधिक, श्रद्धा के साथ जिनका नाम लेना है, वे थीं श्रीमाता कस्तूरीबाई। आपकी वात्सल्यता के प्रभाव से आश्रम स्वर्गीय विभूतियों का केन्द्र बना हुआ था। यद्यपि आपके

तीन पुत्र—मणिलाल, रामदास और देवदास साथ ही थे, किन्तु अन्य बालकों पर आपका उनसे रत्तीभर भी कम स्नेह न था। सबसे मीठी बोली बोलना, दूसरे के दुख से दुखित होना और आश्रम-वासियों पर प्रेम-वारि बरसाते रहना आपका सहज स्वभाव था। आपके मुख पर सरलता की जो शान्ति व्याप रही थी, नयनों से करुणा की जो रस-धारा बह रही थी और हृदय से दया के जो भाव उत्थित हो रहे थे, उससे यही प्रतीत होता कि शान्ति, करुणा, दया की मानो आप सजीव प्रतिमा हैं।

उन नवयुवकों का अलग-अलग परिचय देने की आवश्यकता नहीं, जो आश्रम के विद्यार्थी थे और जो देश, जाति और धर्म के लिए कारा-कष्ट तक भोग आए थे। उनकी यौवन-सुलभ-चञ्चलता ने वहाँ के जीवन को और भी मधुर बना दिया था। वातावरण इतना विशुद्ध था कि हृदय में कुविचारों का अङ्कुर भी नहीं उगने पाता था। महात्मा गाँधी जैसे महापुरुष, माता कस्तूरीबाई जैसी महान् देवी, पोलक जैसे विचारशील विद्वान्, वेस्ट-परिवार जैसे सर्वस्व-त्यागी, छगनलाल और मगनलाल जैसे अनुभवी कार्यदक्ष, प्रागजी जैसे साहसी देशभक्त, इमाम साहब जैसे मिलनसार, जयकुँवारी देवी जैसी विदुषी जिस आश्रम में बसते हों, उसे देखकर एक बार इतिहास-कथित तपोवन का स्मरण हो आना क्या स्वाभाविक नहीं है?

जिस 'इण्डियन ओपिनियन' के सम्पादकीय विभाग में काम करने के वास्ते मैं गया था, उसका यहाँ थोड़ा सा पूर्व वृत्तान्त बता

देना अप्रासङ्गिक न होगा। सन् १९०३ ई० में श्री० वी० मदनजीत ने इस पत्र की नींव डाली थी, किन्तु वे कुशल पत्रकार नहीं थे, इसलिए साल ही भर में ऐसी घटी लगी कि पत्र बन्द हो जाने की नौबत आ गई। अतएव महात्मा जी ने अपनी जेब से दो सहस्र मोहर (पाउण्ड) लगाकर पत्र को सँभाल लिया, क्योंकि पत्र के बिना मोह-निद्रा में पड़े हुए भारतीयों को जगाना असम्भव था। पहले यह पत्र दरबन से प्रकाशित होता था; किन्तु जब फिनिक्स में महात्मा जी का आश्रम बन गया, तब पत्र का मुद्रण और प्रकाशन भी यहीं से प्रारम्भ हुआ। श्री० मनसुखलाल नाजर इसके अवैतनिक सम्पादक बने। आप बड़े उत्साही और योग्य विद्वान् थे। नाजर महाशय को मैं बचपन से पहचानता था और वे भी मुझे बहुत प्यार करते थे। खेद की बात है कि नाजर साहब की अकाल मृत्यु हो गई। उनके बाद मि० हर्बर्ट किचन सम्पादक हुए। कुछ दिनों तक पादरी जोजफ डोक ने भी सम्पादन किया, और अब वर्षों से पोलक साहब इसके सम्पादक थे। 'इण्डियन ओपिनियन' दक्षिण अफ्रिका के इतिहास का एक आकर्षक अध्याय है और दक्षिण अफ्रिका का सर्वाङ्ग पूर्ण इतिहास 'इण्डियन-ओपिनियन' की फाइलों में सुरक्षित है।

अच्छा, अब मेरी रामकहानी सुनिए। मैं फिनिक्स आकर सम्पादकीय सिंहासन पर आसीन हुआ। कुछ लड़के मुझे 'एडीटर साहब' कहा करते, लेकिन न मालूम वे आदर के लिए ऐसा कहते अथवा व्यङ्ग करने की उमङ्ग में। पर मैं तो फूले

नहीं समाता था, क्योंकि एक इतिहास-प्रसिद्ध पत्र का सम्पादक बन बैठा था। सब लोग टाइप बैठाया करते, लेकिन मैं अपनी सम्पादकीय कुर्सी से हिलना-डोलना पसन्द न करता। मैं भला टाइप में हाथ क्यों लगाऊँ, क्योंकि मैं तो सम्पादक ठहरा। अब लोग प्रातः चार बजे उठ जाया करते, किन्तु मैं सोकर उठता ठीक छः बजे; क्योंकि सम्पादन के लिए मग़ज़ को पूरा विश्राम देना बहुत ज़रूरी था। जब पत्र-मुद्रण का दिन आता, तब सब लोग पारापारी 'सिलेण्डर मशीन' पर अपनी ताक़त अजमाया करते, उस समय चाहे शर्म से कहो या सङ्कोच से, मैं भी पत्र भाँजने (Folding) में लग जाता। एकाध सप्ताह तो मेरी सम्पादकी ख़ूब रौनक़ पर रही, लेकिन दैवयोग से एक दिन महात्मा जी मेरी मेज़ के पास आ पहुँचे और केवल इतना ही कहकर चले गए—तुमको थोड़ा-थोड़ा टाइप बैठाने का काम भी सीखना चाहिए। बस, उसी दिन से मेरी आधी सम्पादकी ग़ायब हो गई। सुबह से दोपहर तक एडीटर रहता और उसके बाद कम्पोज़ीटर बनना पड़ता। एक दिन 'सिलेण्डर मशीन' के चक्कर में भी आ फँसा। मशीन बहुत बड़ी थी, इतनी बड़ी कि कई पृष्ठ एक साथ ही दोनों ओर छप जाते। उसको घुमाने के लिए एक और यन्त्र था, जो तेल की ताक़त से चलता था, किन्तु महात्मा जी ने उस यन्त्र को पेन्शन दे दी थी। उसकी आवश्यकता भी क्या थी, जबकि महात्मा जी स्वयं घड़ी सामने रखकर मशीन को घड़ीभर घुमाने का व्रत ले चुके थे। अस्तु, मुद्रण के दिन मैं नियमानुसार पत्र भाँजने में जुट गया।

महात्मा जी एक युवक के साथ मशीन घुमा रहे थे। जब युवक का समय हो गया, तब महात्मा जी ने पुकारा—भवानीदयाल। मैं अपना नाम सुनकर भी मानो न सुना और अपनी धुन में मस्त रहा। अन्य युवक मेरा आदर करते ही थे, अतएव उनमें से एक दौड़ गया, किन्तु महात्मा जी मुझे कहाँ छोड़ने वाले थे? उन्होंने युवक को फ़ौरन से पेश्तर वापिस किया और दुबारा मुझे पुकारा। मैं समझ गया कि अब पिण्ड नहीं छूट सकता। इसलिए अपना सनातन धन्धा छोड़कर महात्मा जी के साथ मशीन घुमाने लगा। मेरी साँसों ने पाँच मिनिट में ही टका सा जवाब दे दिया। महात्मा जी से मेरी अवस्था छिपी नहीं रही और उन्होंने पूछा—थक गए न?

"नहीं, अभी तो नहीं थका हूँ" कहकर मैं अपनी वीरता का बखान तो कर गया, किन्तु हृदय ही जानता था कि उसकी क्या गति हो रही थी। मेरी वीरता का अनुचित उद्गार सुनकर भी महात्मा जी को दया आ ही गई और उन्होंने मेरी रिहाई कर दी। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में मैंने एडीटर, कम्पोज़ीटर और लेबरर की त्रिवेणी में स्नानकर अपने मिथ्याभिमान को धो बहाया।

उधर रोग के आक्रमण से जगरानी का शरीर दिनोंदिन क्षीण ही होता गया। महात्मा जी उन्हें दरबन से उठा लाए। उठा इसलिए लाए कि उनमें चलने-फिरने की शक्ति नहीं थी। फिनिक्स तक तो वे रेलगाड़ी पर आईं और स्टेशन से उन्हें एक छोटी सी हाथ-गाड़ी (Hand-cart) पर बैठाया गया। उस समय मेरी हैरानी की हद नहीं रही, जब मैंने महात्मा जी को ख़ुद ही

गाड़ी खींचते हुए देखा। मैं लपककर उनके पास पहुँचा और बड़ी नम्रता से बोला—आप यह कर क्या रहे हैं, जबकि हम सब यहाँ मौजूद हैं ?

साधु-हृदय से उत्तर निकला—कर रहा हूँ अपना कर्त्तव्य ! जब मैं थक जाऊँ तब तुम लोग आ जाना।

महात्मा जी से अब क्या कहता ? जगरानी से धृष्टता-पूर्वक बोला—क्यों जी, क्या तुम तीन मील भी पैदल नहीं चल सकती हो ? महात्मा जी से गाड़ी खिचवाना मानो पाप की गठरी बाँधना है। उनकी आँखों से टपाटप आँसू टपकने लगे और वे अधीर होकर बोलीं—मुझमें तो उठने-बैठने की भी शक्ति नहीं रह गई है। यदि मैं दिनभर में भी आश्रम पहुँच सकती, तो क्या मैं एक क्षण भी इस अवस्था को सहन कर सकती थी ? मैं ख़ुद लज्जा से गड़ी जा रही हूँ, किन्तु क्या करूँ, बड़ी विवशता है। आश्रम पहुँचने पर महात्मा जी ने अपना वही रामबाण मिट्टी का पट्टा बाँधना शुरू किया और फल यह हुआ कि सात-आठ दिन में जगरानी चलने-फिरने योग्य हो गईं। उनकी बीमारी के वक़्त बच्चे को माता कस्तूरीबाई सँभाल रही थीं। बच्चा भी उनसे ख़ूब ही हिला-मिला हुआ था और परिचय भी कुछ पुराना था। मेरीत्सबर्ग की जेल में ही बच्चे को माता कस्तूरीबाई की गोद में खेलने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका था, अतएव अपनी माता की रुग्णावस्था में उससे भी अधिक स्नेहपूर्ण आश्रय पाकर वह तनिक भी कष्ट का अनुभव न कर सका।

जिन लोगों ने महात्मा जी के स्वभाव का अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि शिशुओं पर महात्मा जी का कितना स्नेह-अनुराग है। इसलिए मेरे बच्चे—रामदत्त को भी महात्मा जी से प्रीति पैदा करने में देर न लगी। एक दिन की बात सुनिए—अनेक प्रतिष्ठित और राजनीतिज्ञ योरोपियन आए हुए थे और महात्मा जी से वर्त्तमान समस्या पर गम्भीर वार्त्तालाप हो रहा था। ठीक उसी समय रामदत्त कहा ठोकर खाकर गिर पड़ा और उसे चोट आ गई। फिर तो रामदत्त ने न आव देखा न ताव; न पिता के पास आया, न माता के पास गया—सीधे महात्मा जी के कमरे में पहुँचा और उनसे लिपटकर रोने लगा। विचार-सभा बाल-रुदन से गूँज उठी। महात्मा जी ने चट बच्चे को गोद में उठा लिया और कमरे में टहलना शुरू किया। बच्चा चुप हो गया और महात्मा जी उसी प्रकार टहलते हुए विचार-सभा में योग देने लगे। अहा! कितना विशाल हृदय और उसमें वात्सलयता की कैसी अलौकिक आभा? यदि मैं होता तो महत्व के ऐसे वार्तालाप के समय बच्चे का कान पकड़कर जरूर बाहर निकाल देता और ऊपर से उसके संरक्षकों को भी दो-चार खरी-खोटी सुनाता, किन्तु महापुरुषों की छोटी-छोटी बातों में भी महानता का आभास पाया जाता है। गङ्गा और गड़ही में जो अन्तर है, क्या वही विशाल और क्षुद्र हृदय के मध्य में नहीं है?

तारीख़ ५ फ़रवरी को भारत-सरकार के प्रतिनिधि सर बेञ्जमन रॉबर्टसन और उनके प्राइवेट सेक्रेटरी मि० स्लेटर आश्रम

में पधारने वाले थे । यह साहब मध्यप्रदेश के चीफ़ कमिश्नर थे और कमीशन के सामने साक्षी देने के लिए भारत-सरकार की ओर से भेजे गए थे । उनके साथ एक बङ्गाली सलाहकार भी थे, जिनका नाम रायसाहब सरकार था । सरकार महोदय से तो मैं कई बार मिल चुका था, किन्तु आज ख़ुद सर साहब से मिलने का अवसर था ।

आश्रम के समस्त प्रवासी बेञ्जमन साहब के आगत-स्वागत के लिए स्टेशन पर गए, किन्तु मैं जान-बूझकर नहीं गया । जब महात्मा जी ने मुझे देखा तो पूछा—तुम स्टेशन क्यों नहीं गए ?

मैं बोला—इसलिए कि आप नहीं गए ।

"मैं नहीं जा सका तो नहीं सही, लेकिन तुमको तो जाना ही चाहिए था" यह आदेश मिला ।

"अच्छा जाता हूँ" कहकर मैं स्टेशन की ओर रवाना हुआ । बीच रास्ते में सर और सेक्रेटरी को आते देखा । न मोटर थी न टमटम, सर साहब ऊँची-नीची ऊबड़-खाबड़ सड़क पर पैदल ही चले आ रहे थे । पोलक साहब उनके साथ थे, और सब लोग पीछे थे । पोलक साहब ने सर साहब को मेरा परिचय दिया, जिसका तात्कालिक फल हस्त-मिलाप (Shake hand) के रूप में प्रकट हुआ । मार्ग में पोलक साहब ने मुझ पर बीती हुई क़ानूनी-विपत्ति की सारी कहानी कह सुनाई । सर साहब जब आश्रम में पहुँचे, तो महात्मा जी को फ़ुर्सत नहीं थी—वे नन्हे-नन्हे बच्चों को जेवना जिमा रहे थे । इसलिए आपने सर साहब के

आदर-सत्कार का भार पोलक साहब को दे दिया। आश्रम का दरस-परस करके जब सर साहब बिदा होने लगे, तब बड़ी कठिनाई से महात्मा जी उनसे मिलने का समय निकाल सके। इसका मुख्य कारण यह था कि महात्मा जी किसी के लिए भी अपने दैनिक कार्य-क्रम में कोई अन्तर आने देना उचित नहीं समझते थे।

आश्रम में खाने को वही सब वस्तुएँ मिलती थीं, जिनका ज़िक्र एक बार हो चुका है। कोई सलोना अन्न खाता और कोई अलोना। मैं तो सलोने का ही सेवक था। महात्मा जी के छोटे पुत्र देवदास ने एक बार प्रण किया कि मैं सात दिन नमक नहीं खाऊँगा। इस व्रत के चौथे दिन पाकशाला में षट्रस भोजन देखकर उसका चित्त डिग गया और वह व्रत-भङ्ग करने पर उद्यत हो गया, किन्तु देवदास की प्रार्थना महात्मा जी के सम्मुख स्वाभाविक रूप से अस्वीकृत हुई। बालक ने खाना छोड़कर रोना शुरू किया और भोजन की मेज़ से उठ गया। इधर महात्मा जी ने प्रतिज्ञा की—जब तक देवदास अपने व्रत पर अटल रहने का प्रण न करेगा और ख़ुद आकर मुझसे यह नहीं कहेगा कि बापू जी तुम खाओ और मैं भी अलोना भोजन करता हूँ, तब तक मैं अनशन-व्रत करूँगा। एक ओर बाल-हठ और दूसरी ओर पिता की प्रतिज्ञा। बालक ने हठ पकड़कर दोपहर को नहीं खाया और न पिता से खाने का अनुरोध किया—दोनों भूखे रहे। देवदास को बहुत समझाया गया, पर वह बाल-हठ से नहीं हटा। शाम को सत्याग्रह की जय हुई। बालक बहुत नम्र होकर पिता के पास

पहुँचा और बोला—बापू जी ! मैं अलोना खाऊँगा। अब आप भी खाइए ! तब पिता-पुत्र ने एक साथ बैठकर भोजन किया। किसी को शारीरिक यन्त्रणा देना महात्मा जी के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

एक दिन कुछ लड़कों ने दरबन से नमकीन भुजिया और मिठाई मँगवाई और आपस में बाँटकर खा गए। सबको यह ताक़ीद कर दी गई कि महात्मा जी के कानों तक यह बात न पहुँचने पाए। कहते लज्जा आती है कि इस षड्यन्त्र का नेता एक ऐसा व्यक्ति था, जो बालकों को शिक्षा देने के कार्य पर नियुक्त था। अन्त में भण्डा फूटा और भण्डा फोड़ने वाला देवदास के सिवाय दूसरा कोई नहीं था। वह ख़ुद भी इस गुप्त-भोज में शामिल था, पर सत्य को छिपा रखना उसके लिए कठिन हो गया। उसने महात्मा जी से सब बातें कह दीं। शाम को सभा जुटी। सब लोग यथास्थान आ बैठे। महात्मा जी ने पारापारी सब से पूछना शुरू किया, लेकिन सबके सब नकार गए और ख़बर देने वाले को झूठा साबित करने लगे। उस समय महात्मा जी का मुख प्रदीप्त हो उठा और लोचन-युगल से सत्य की लपटें निकलने लगीं। उन्होंने कहा—ख़बर देने वाला तो झूठा नहीं है, किन्तु मुझमें ही सचाई की कमी है। यदि ऐसा न होता, तो मेरे सामने सत्य कहने में तुम्हें यह सङ्कोच ही क्यों होता ? इतना कहकर महात्मा जी अपने गालों पर दनादन तमाचे लगाने लगे। आह ! उस समय ऐसा मालूम हुआ कि मानो पृथ्वी फटना ही चाहती है और सब

के सब रसातल पहुँचने ही वाले हैं। सत्य का स्वरूप प्रकट हो गया। बालकों ने अपराध स्वीकार किया और प्रायश्चित्त के लिए व्यवस्था माँगी।

जेल में तो मैं नग्न-स्नान करता ही था, किन्तु आश्रम में भी उसी नियम का पालन करना पड़ा। प्रेस के पास ही एक कुँआ था, वहीं पर स्नान के लिए युवकों का जमाव हुआ करता। सबके सब वस्त्र उतारकर नग्न हो जाते और क्रमागत स्नान करते। मेरे सङ्कोच का बाँध तो जेल में ही टूट गया था, अतएव यहाँ युवकों से जल भरवाकर मैं ख़ूब ही नहाता। तब से मुझे नग्न-स्नान की ऐसी आदत पड़ गई कि आज तक नहीं छूटी। केवल इतना अन्तर पड़ा है कि अब मैं आम तौर से नहीं, प्रत्युत घर बन्द करके एकान्त में नहा लिया करता हूँ। सुनते हैं कि हिन्दू-शास्त्रों में नग्न-स्नान का निषेध है। चाहे जो कुछ हो, किन्तु मुझे तो नग्न-स्नान से यह लाभ अवश्य है कि शरीर के समस्त अङ्गों को धोने का सुभीता मिल जाता है।
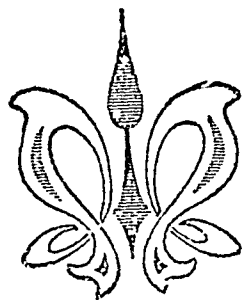
साधु एण्ड्रयूज़ का प्रथम दर्शन
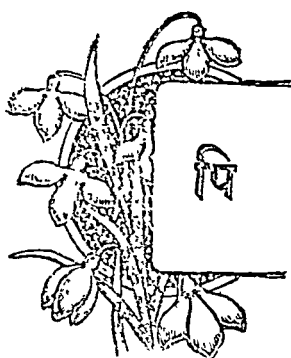
फिनिक्स-आश्रम में ही मुझे पहले-पहल सत्य-शील साधु एण्ड्रयूज़ के दर्शन हुए। पहली झाँकी में ही उनके प्रति मेरी श्रद्धा उत्पन्न हो गई। उनके मुख-मण्डल पर मुझे एक ऐसी आभा दिखाई पड़ी, जिस पर उनके हृदय के सारे भाव अङ्कित थे। उनका तेजस्वी रूप देखकर मैं मुग्ध हो गया। एण्ड्रयूज़ साहब एक धोती और एक कुर्ता पहिने हुए थे। उनको बार-बार देखने पर भी मेरा जी नहीं अघाता था, और मुझे यह निश्चय हो गया कि यह एक साधारण पादरी नहीं, किन्तु कोई महापुरुष है। मुझे जान पड़ा कि इस शरीर में जो महान् आत्मा विराज रही है, वह निर्बलों का बल, निर्धनों का धन, अनाथों का आश्रय, मजदूरों का त्राता, दासता का दुश्मन और मनुष्यता की विलक्षण शक्ति है। यह अङ्गरेज़-साधु मानो हिरण्यकश्यप के कुल में प्रह्लाद है, और

इसके हृदय पर बुद्ध की अहिंसा और संयम का, कृष्ण के प्रेम और धैर्य का और ईसा की दया और क्षमा का अद्भुत संयोग हुआ है। मैंने इस साधु-पुरुष की चरण-धूलि को सिर पर चढ़ाकर अपना जीवन धन्य माना। यद्यपि एण्ड्र्यूज़ साहब का विस्तृत जीवन-वृत्तान्त हिन्दी में छप चुका है, तो भी इस अध्याय में उनके जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं का दिग्दर्शन कराए बिना लेखनी आगे बढ़ने से इन्कार करती है।

मि० चार्ल्स फ्रीयर एण्ड्र्यूज़ का जन्म १२ फ़रवरी १८७१ ई० को विलायत के कारलाइल नामक नगर में हुआ था। आप अपने माता-पिता की चतुर्थ सन्तान हैं। आपके चार भाई और छः बहिन दो बहिनों ने अपना विवाह न्यूज़ीलैण्ड में किया है और वहीं रहती हैं। अन्तरात्मा की आवाज़ सुनकर आपके पितामह ने, पिता ने और स्वयं आपने भी अपने सनातन सम्प्रदाय को छोड़ दिया। छः वर्ष की अवस्था में आप इतने बीमार पड़े कि छः मास खाट से उठ न सके। बड़े-बड़े यत्न करने पर आप आरोग्य तो हुए, लेकिन शरीर बहुत निर्बल हो गया। पढ़ने-लिखने की आपको ऐसी धुन थी कि तन्दुरुस्ती का ख़याल करके माता जी को रोकना पड़ता। पिता धनवान् नहीं थे, तो भी खाने-पीने का कोई कष्ट न था, किन्तु आप की दस साल की अवस्था में एक बड़ी दुर्घटना हो गई। आपकी माता के नाम से कुछ सम्पत्ति थी, उसका मुख्य ट्रस्टी जुआरी निकला, उसने सट्टा खेलकर सारा धन फूँक डाला। जब बैङ्क-मैनेजर से दुर्घटना की सूचना मिली, तो आपके पिता के दिल पर

कड़ी चोट लगी। कुछ लोगों की यह सलाह थी कि उस दुष्ट पर मामला चलाया जाय, किन्तु मुक़दमा दायर करना तो दूर रहा, पिता ने महाप्रभु से प्रार्थना की—हे नाथ! मेरे मित्र ने जो अपराध किया है, एतदर्थ अपनी दया और करुणा से उसे क्षमा कीजिए। इस घटना का परिणाम यह हुआ कि एण्ड्रूज़-परिवार बहुत निर्धन हो गया। बच्चों को भी सूखी रोटी पर दिन काटने पड़े।

नौ वर्ष की आयु तक हमारे एण्ड्रूज़ साहब को घर पर ही शिक्षा मिली, इसके बाद आप पाठशाला में भर्ती हुए। दर्जे में आप सबसे छोटे थे, लेकिन लिखने-पढ़ने में सबसे तेज़। पहले आप बर्मिङ्हम के किङ्ग-एडवर्ड-स्कूल में दाख़िल हुए। वहाँ आपकी फ़ीस माफ़ हो गई और एक पाउण्ड मासिक छात्र-वृत्ति भी मिलने लगी। कॉलेज में प्रवेश करने पर आपको चार वर्ष तक ५० पाउण्ड सालाना छात्र-वृत्ति मिलती रही। विश्वविद्यालय में आपकी प्रतिभा देखकर वार्षिक ८० पाउण्ड छात्र-वृत्ति देने की व्यवस्था हुई। इन वृत्तियों से आपकी शिक्षा का ख़र्च चल गया। लैटिन और ग्रीक भाषा में आपको कविता करने की कामना थी और साहित्य-सेवा की अभिलाषा। विद्यार्थी लोग एक मासिक पत्र निकालते थे, आप उसके सहकारी सम्पादक बन गए। क्रिकेट के भी आप अच्छे खिलाड़ी निकले। पैम्ब्रोक कॉलेज में पढ़ते समय आपके धार्मिक विचारों में परिवर्त्तन प्रारम्भ हुआ और बहुत-कुछ सोच-विचारकर आपने बाइबिल को निर्भ्रान्त मानना छोड़ दिया। सन् १८९५ ई० में जब आप अन्तिम परीक्षा के लिए तैयारी कर

रहे थे, उस समय पिता जी के आर्विंगाइण्ट-सम्प्रदाय पर से आपका विश्वास उठ गया, और आपने यह साफ़ कह दिया। फल यह हुआ कि आप बहिष्कृत किए गए। केम्ब्रीज विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा में आप उत्तीर्ण हुए और इस महान् संस्था के सदस्य भी चुने गए।

विद्यार्थी-जीवन समाप्त करके आपने लगभग चार साल तक सेण्डरलैण्ड और वालवर्थ के दीन-दुखियों की सेवा की। पहले स्थान पर आपने सेवक के तथा दूसरे स्थान पर धर्म-प्रचारक के रूप में काम किया। उन दिनों विलायत में मजदूरों को प्रति सप्ताह २५ शिलिङ्ग वेतन मिलता था और इसी छोटी रक़म पर उनका और उनके बाल-बच्चे का बहुत दुःख से निर्वाह होता था। एण्ड्र्यूज साहब ने मजदूरों की यह दशा देखकर केवल १० शिलिङ्ग पर अपनी गुजर करना शुरू किया। इससे आपको कभी-कभी आध पेट खाना मिलता और कभी-कभी भूखे पेट सो जाना पड़ता। आप जैसे प्रतिभाशाली विद्वान् के सामने ऋद्धि-सिद्धि हाथ बाँधे खड़ी थीं, किन्तु आपको तो निर्धनावस्था का अनुभव करना था। आपके साधु-जीवन से वहाँ के मजदूरों को बड़ी शान्ति मिली। जब आपकी तन्दुरुस्ती बहुत बिगड़ चली, तब विवश होकर आपको केम्ब्रीज में नौकरी करनी पड़ी। यहाँ के पुस्तकालय में आपको अध्ययन का अच्छा अवसर मिला।

बचपन ही में आपको हिन्दुस्तान से प्रेम हो गया था। आप प्रायः माता से कहा करते—माँ ! मैं हिन्दुस्तान जाऊँगा।

माँ भी कहा करतीं—चार्ली, तुम किसी न किसी दिन ज़रूर वहाँ जाओगे। अब बाल्यावस्था का विचार निश्चय के रूप में प्रकट हुआ और भारत-दर्शन के लिए माता से आशीर्वाद लेने आप बर्निङ्ग-हम गए। माता को इस विछोह से बड़ी वेदना हुई। आप हित-नाते और कुटुम्बियों के सिवाय बालबर्थ के उन ग़रीब मज़दूरों से भी जाकर मिले, जिनके साथ कई वर्ष रहकर आपने निर्धन जीवन की जानकारी प्राप्त की थी। वहाँ के लोग अपढ़ गँवार थे और भारत के विषय में विलक्षण विचार रखते थे। एक बुढ़िया ने कहा—"एण्ड्रयूज़ भैया! मैंने सुना है कि हिन्दुस्तान के लोग ऐसे हिंसक हैं कि मनुष्यों को खा जाते हैं। मैं ईश्वर से निशि-वासर प्रार्थना करती रहूँगी कि तुम्हें वे खा न जायँ। यह सुनकर एण्ड्रयूज़ साहब हँस पड़े और जब आपने उस बुढ़िया माई को समझाया कि हिन्दू-लोग किसी प्रकार का मांस छूते तक नहीं, तब कहीं उसे सन्तोष हुआ।

सन् १९०४ ई० में एण्ड्रयूज़ साहब हिन्दुस्तान पहुँचे और देहली के सेण्ट स्टीफ़न्स कॉलेज में प्रोफ़ेसर हो गए। उस समय कॉलेज के प्रिन्सिपल साहब विलायत चले गए थे और सञ्चालकों की यह इच्छा थी कि उनकी जगह एण्ड्रयूज़ साहब नियुक्त किए जायँ, किन्तु आपने दृढ़ता से निवेदन किया—इस कॉलेज में श्री० सुशीलकुमार रुद्र बहुत दिनों से शिक्षक हैं, इसलिए इस पद के वे ही सर्वथा योग्य हैं।

विशप साहब ने कहा—कुछ पर्वाह नहीं कि आप नए आदमी

हैं; किन्तु हैं तो आप अङ्गरेज; और हमारे कॉलेज का प्रिन्सिपल अङ्गरेज ही होना चाहिए। इस विचार का आपने तीव्र प्रतिवाद किया और साफ़ कह दिया कि यदि रुद्र जी प्रिन्सिपल न बनाए गए, तो मैं अपने पद से इस्तीफ़ा दे दूँगा। फल यह हुआ कि संचालकों को विवश होकर रुद्र महाशय को प्रिन्सिपल बनाना ही पड़ा। आपको रुद्र जी की अधीनता में बड़ी प्रसन्नता थी।

एङ्ग्लो-इण्डियन मित्र आपको समझाया करते—भले ही आप मिश्नरी हैं, किन्तु पहले आपको अङ्गरेज बनना पड़ेगा। यह मत भूलिए कि आप साहब हैं। हिन्दुस्तानी लोग हलकी श्रेणी के हैं, उनपर हम तलवार के ज़ोर से राज्य करते हैं। ऐसी बातें सुनकर आप मर्माहत हो जाते और जवाब में इतना ही कहते—हिन्दुस्तानियों से हमें दबना ही होगा, हमें चेष्टा करके उच्चता का घमण्ड छोड़ देना होगा और यदि हम ईसा के सच्चे भक्त हैं, तो हमें मनुष्य-जाति का सेवक बनना पड़ेगा।

गर्मी के दिनों में आप देहली से शिमला गए। वहाँ अङ्गरेजों के चरित्र देखकर आपको बड़ा खेद हुआ। मौलवी समशुद्दीन से आपने उर्दू जबान सीखी और कान में कुछ रोग हो जाने से डॉक्टरों की सलाह मानकर आप विलायत लौट गए। विलायत के एक बड़े डॉक्टर ने फ़रमाया—यदि आप अपने कान की कुशल चाहते हैं, तो अब हिन्दुस्तान हर्गिज़ न जाइए। किन्तु अपने कान की अपेक्षा भारत पर आपका अधिक अनुराग था, अतएव आप पुनः भारत लौट आए।

इस बार बिशप के अनुरोध से आप सनावर के फ़ौजी विद्यालय में प्रिन्सपल बनकर गए। वहाँ जिस मकान में आप रहते थे, उसी में एक बालिका-विद्यालय की गोराङ्ग-अध्यापिका भी रहती थी। आपने श्री० सुशीलकुमार रुद्र को अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दिया, और यह बात जब उस लेडी को मालूम हुई, तो उसने कहा—मैं किसी हिन्दुस्तानी के साथ एक मेज़ पर बैठकर खाना नहीं खा सकती। एण्ड्र्यूज़ साहब ने उसे बहुत समझाया, पर वह टस से मस न हुई। इस घटना से आपका चित्त इतना खिन्न हुआ कि आप उसी दम काम पर लात मारकर कूँच करने को तैयार हो गए, किन्तु रुद्र जी ने आपको बड़ी कठिनाई से रोका।

सन् १९०६ ई० में लाहौर के 'सिविल एण्ड मिलेटरी गज़ट' में शिक्षित हिन्दुस्तानियों के विरुद्ध अपमानसूचक लेखों का निकलना प्रारम्भ हुआ। यहाँ तक लिखा जाने लगा कि पढ़े-लिखे भारतीयों का होश ठिकाने लाने के लिए उनपर कोड़ों की मार पड़नी चाहिए। इन विषमय लेखों को पढ़कर एण्ड्र्यूज़ साहब शान्त न रह सके और आपने इनका युक्तिपूर्ण खण्डन करना शुरू किया। लोग आश्चर्य से पूछने लगे कि फ़ौजी विद्यालय से लिखने वाला यह अङ्गरेज कौन है ?

सन् १९०६ ई० में आप कलकत्ता-कॉङ्ग्रेस में शामिल हुए और वहाँ भारत के सर्वमान्य और सर्वोपरि नेताओं से मिले। इस विषय पर आपने अपने अनुभव पत्रों में भी छपवाए। इससे

आपके सिफ़री मित्र नाराज़ हुए बिना न रहे। दो बातें आपको बहुत अखरती थीं। एक तो कॉलेज का सरकार से सम्बन्ध और दूसरी कॉलेज में बाइबिल की अनिवार्य पढ़ाई। पञ्जाब विश्वविद्यालय के 'फ़ेलो' बनाने के लिए जो लोग नामज़द किए गए थे; उनमें एण्ड्रयूज़ साहब भी एक थे; किन्तु लाट साहब ने सूची से आपका नाम उड़ा दिया, क्योंकि भारतीयों से आपकी सहानुभूति थी।

जब लाला लाजपतराय को देश-निर्वासन का दण्ड मिला, तब आप ही की अध्यक्षता में कॉलेज-डिबेटिङ्ग सोसायटी की एक ख़ास बैठक हुई और उसमें सरकारी करतूत की निन्दा की गई। नतीजा यह हुआ कि आपको सरकार तथा मिशन वालों की ओर से डाट-डपट बतलाई गई, लेकिन जिस दिन लालाजी को रिहाई मिली, उस दिन विद्यार्थियों के पूछने पर आपने कॉलेज में दिवाली मनाने की आज्ञा दे दी। इस बात से गोराङ्ग-समाज में बड़ी सनसनी फैली। रिज़ले-सरक्युलर का भी आपने घोर विरोध किया। बलात् बाइबिल पढ़ाने के आप बड़े विरोधी थे और जब कोई लड़का ईसाई बनने की इच्छा प्रकट करता, तो आप उसे गीता पढ़ने की सम्मति देते। पादरी होते हुए भी एण्ड्रयूज़ साहब ने आज तक किसी को ईसाई नहीं बनाया।

गुरुकुल-काँगड़ी के संस्थापक श्री० स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज से मिलकर आपने अतीत भारत का गौरव जाना और देहली के मौलवी नज़ीरअहमद तथा मौलवी ज़क़ाउल्ला से आपने

इस्लामी सभ्यता का ज्ञान प्राप्त किया। श्री० स्टोक्स और साधु सुन्दरसिंह से भी आप मिले। स्टोक्स साहब से मिलकर आपने एक सभा भी क़ायम की, जिसका नाम था—ईसा का अनुकरण करने वाला भ्रातृ-समाज। रूस के त्यागी महात्मा टाल्स्टॉय के ग्रन्थों का आप पर बड़ा प्रभाव पड़ा। आपही की सम्मति से स्टोक्स साहब ने एक भारतीय रमणी से विधिवत् विवाह किया। उस समय अन्तर्जातीय विवाह के विषय पर एण्ड्रयूज़ साहब ने जो लेख लिखे थे, उससे विलायत के गोराङ्ग-मण्डल में भी बड़ी कोलाहल मच गई थी। सन् १९११ ई० में आपने 'भारतीय जाग्रति' नाम का एक विचारपूर्ण ग्रन्थ लिखा।

सन् १९१२ ई० में तन्दुरुस्ती बिगड़ जाने के [illegible] आप दूसरी बार विलायत गए। इस यात्रा में आपके साथ आचार्य रुद्र और लाल सुल्तानसिंह भी थे। इस बार विलायत में पहले-पहल आपकी महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भेंट हुई और उनके प्रति आपके हृदय में प्रगाढ़ भक्ति पैदा हुई। विलायत से लौटकर गर्मी की छुट्टी में डेढ़ मास आप महाकवि के शान्ति-निकेतन में रहे। वहीं पियर्सन साहब से आपका परिचय हुआ।

सन् १९१२ ई० के अन्त में लॉर्ड हार्डिञ्ज पर देहली में बम फेंका गया। कुछ अधिकारियों का यह विचार था कि जिस मकान से बम्ब गिरा है, उसे तोप से उड़ा दिया जाय, किन्तु जब एण्ड्रयूज़ साहब ने लाट साहब को यह बात सुनाई, तो उन्होंने इस विचार का प्रतिवाद किया। लाट साहब के आरोग्य होने पर जब लेडी

हार्डिञ्ज ने आपसे सलाह ली कि भारतीय महिलाओं की भेजी हुई भेंट को किस रूप में खर्च करना चाहिए, तो आपने कहा कि अस्पताल के बच्चों को, दीन-दुखियों को, लँगड़े-लूले तथा अन्धों को प्रेमोत्सव मनाने का अवसर दिया जाना चाहिए। इसी सलाह के अनुसार काम हुआ।

सन् १९१३ ई० के नवम्बर में आप देहली आए। उन दिनों दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह से माननीय गोखले बहुत चिन्तित थे। आप से उन्होंने सहायता के लिए याचना की और वहाँ जाने का अनुरोध किया। आप वहाँ से तुरन्त कलकत्ता जाकर लाट बिशप से मिले। उदार विशप ने इस काम के लिए एक हज़ार रुपए का चैक आपके नाम से काट दिया। शान्ति-निकेतन में गुरुदेव महाकवि रवीन्द्रनाथ से आज्ञा लेकर आप पुनः देहली में माननीय गोखले से मिले और मि० पियर्सन के साथ दक्षिण अफ्रिका को रवाना हो गए।

दरबन के बन्दरगाह पर अनेक प्रतिष्ठित भारतीयों के साथ श्री० पोलक से मुलाक़ात हुई। उनसे आपने पूछा—श्री० गाँधी कहाँ हैं?

महात्मा जी ने मुस्कराकर स्वयं कहा—मैं ही गाँधी हूँ। आपने झुककर महात्मा जी के चरण छुए। इस पर दरबन के अङ्गरेजी अख़बारों में बड़ी टीका-टिप्पणी हुई। एक पत्र ने लिखा—रेवरेण्ड महोदय ने झुककर अपनी उँगलियों से गाँधी के चरण-तल की धूल मली और फिर उन्होंने बड़ी श्रद्धा से उन उँगलियों

को सिर पर रगड़ा। इन व्यङ्गोक्तियों की आपको चिन्ता ही क्या थी?

कुछ दिन आप पिनिक्स-आश्रम में रहे और फिर महात्मा जी के साथ प्रिटोरिया गए। वहाँ जनरल स्मट्स और महात्मा जी से सन्धि की जो शर्तें तय हो रही थीं, उसमें आप मध्यस्थ थे। केप-टाउन में लॉर्ड ग्लैडस्टन के सभापतित्व में महाकवि रवीन्द्रनाथ के काव्य विषय पर आपने जो व्याख्यान दिया, उसका योरोपियन-समाज पर बड़ा अच्छा असर पड़ा था। इसी समय विलायत में आपकी पूज्या माता का देहान्त हो गया और उस समाचार से आपको बड़ा क्लेश हुआ।

अब आप इङ्गलैण्ड जाने को प्रस्तुत थे और वहाँ जाकर माननीय गोखले को समझौते की शर्तें बतलाने तथा पिता जी का दर्शन करने की अभिलाषा थी। इसके बाद आपने भारतीयों और प्रवासी भारतीयों की जो-जो सेवाएँ कीं, उनका वर्णन किसी अगले अध्याय के लिए छोड़ देना उचित जँचता है।

हाँ, यहाँ पियर्सन साहब का स्मरण न करना बड़ी कृतघ्नता होगी। यह अङ्गरेज़ नर-सिंह आज संसार में नहीं हैं, किन्तु उनकी अमर-कीर्ति संसार की स्थायी-सम्पत्ति है। पियर्सन साहब ने नेटाल-प्रवास के समय गन्ने की कोठियों, कोयले की खानों, चाय के बगानों, और जहाँ-जहाँ भारतीय मज़दूर थे, वहाँ-वहाँ पहुँचकर उनकी दशा की जाँच की और बहुत अच्छी रिपोर्ट तैयार की। आप बड़े उत्साही विद्वान् थे, हिन्दी नहीं जानते थे; किन्तु बङ्ग-भाषा पर

आपका पूरा अधिकार था। आप मुझसे जब मिलते तब आर्य-समाज की चर्चा अवश्य छेड़ते और खासकर गुरुकुल तथा कॉलेज-पार्टी के विषय पर बातें किया करते।

सत्याग्रह समाप्त होने पर एण्ड्रयूज़ साहब तो विलायत गए और पियर्सन साहब भारत लौट आए।

बिदाई
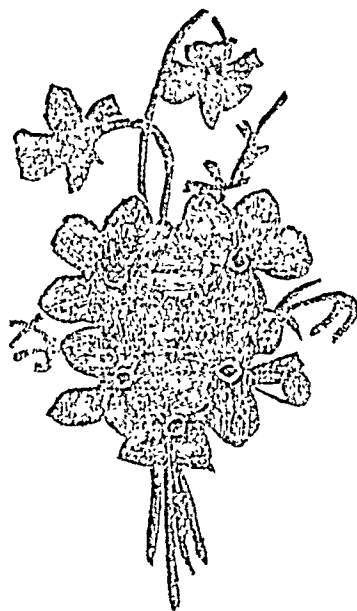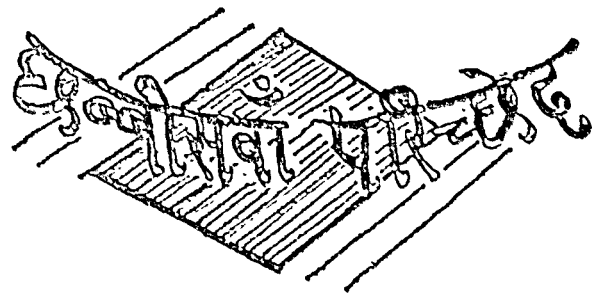
जब यह सर्वथा निश्चय हो गया कि महात्मा जी शीघ्र ही यहाँ से विलायत होकर मातृभूमि की गोद में चले जायँगे, तब मेरा चित्त भी पिनिक्स से उचट गया। महात्मा जी के वियोग का ध्यान कर वहाँ का जीवन नीरस और शुष्क प्रतीत होने लगा, और मैंने महात्मा जी से जर्मिस्टन लौट जाने की आज्ञा माँगी।

महात्मा जी—यहाँ का रूखा-सूखा खाना पसन्द नहीं आता है क्या ?

मैं—सचमुच भोजन तो बहुत फीका होता है, किन्तु आपके हाथ से परोसे जाने के कारण उसमें स्वादिष्टता आ जाती है। अब आप तो यहाँ से जा रहे हैं, फिर मैं यहाँ रहकर क्या करूँगा ?

महात्मा जी—मैं जा रहा हूँ तो क्या ? तुम यहाँ ख़ुशी से रह सकते हो।

मैं—मेरे जाने का एक कारण और भी है। आप तो जानते ही हैं कि इमिग्रेशन-मामले में बहुत ख़र्च पड़ जाने के कारण मैं कर्ज़दार हो गया हूँ और ऋण-मुक्त हुए बिना मेरा यहाँ रह जाना नैतिक दृष्टि से उचित न होगा। हाँ, आपका सत्सङ्ग बना रहता, तो इस कठिनाई को सहने में भी हर्ष ही होता।

महात्मा जी—अच्छा, तुम दोनों जाओ, पर रामदत्त को मेरे पास छोड़ जाओ। इसे मैं भारत ले जाऊँगा और अपने साथ रक्खूँगा।

जगरानी—यदि हममें मिथ्या ममता न होती, तो आपका सहवास इस बच्चे के लिए सौभाग्य की वस्तु होती, किन्तु इसके बिना हमारा जीवन आनन्दमय न रह सकेगा।

ख़ैर, महात्मा जी से आशीर्वाद लेकर अन्य अनेक सत्याग्रहियों के साथ मैं ट्रान्सवाल को प्रस्थान कर गया। वॉल्क्रस्ट पहुँचने पर फिर पास की झञ्झट पैदा हुई और हमें गाड़ी से उतार लिया गया। चौबीस घण्टे तक बाल-बच्चे सहित वहाँ शीतल समीर सेवन करना पड़ा। पोलक साहब और केलनबेक साहब के विशेष उद्योग और व्यक्तिगत जमानत पर इस बला से छुट्टी मिली और हम लोग सानन्द जर्मिस्टन पहुँचे। कारावास के पश्चात् छोटे भाई से मिलकर बड़ा आनन्द हुआ।

उस समय यूनियन-पार्लामेण्ट में इण्डियन रिलीफ़ ऐक्ट (Indian Relief Act) पास हो गया था, और महात्मा जी दक्षिण अफ्रिका से अन्तिम बिदाई ले रहे थे। नेटाल से बिदा

होकर १३ जुलाई सन् १९१४ ई० को महात्मा जी जोहन्सबर्ग पधारे। मैं जर्मिस्टन से ही उनके साथ गाड़ी में बैठ गया। जब शाम को साढ़े छः बजे जोहन्सबर्ग के पार्क स्टेशन पर पहुँचे, तो वहाँ ऐसी भीड़ लगी हुई थी, जैसी बहुत कम देखने में आती है। जान पड़ता था कि मनुष्यों का महासागर उमड़ा हुआ है। महात्मा जी और माता कस्तूरीबाई पुष्प-वृष्टि से ढँक गए। वहाँ से जुलूस निकला। सारा समूह प्रेम-मग्न था। जोहन्सबर्ग में महात्मा जी का यह अन्तिम आगमन है। तप और त्याग की यह पावन-प्रतिमा शीघ्र ही यहाँ से अन्तर्हित होने वाली है, यह सोचकर सबकी छाती फट रही थी, और दर्शन के लिए मनुष्य पर मनुष्य टूट रहे थे।

एक ओर तो यह करुणामय दृश्य था, और दूसरी ओर इसफ़ मियाँ तथा हबीब मोटन की पार्टी अपनी नीच-प्रवृत्ति की नङ्गी तसवीर दिखाती फिरती थी। महात्मा जी के शुभागमन से पूर्व ही विवेकहीन धर्मान्ध मुसलमानों में खूब जोश फैलाया गया था। 'हमदर्दइस्लाम' की बैठक में यहाँ तक कहा गया कि सारे हिन्दू काफ़िर हैं, उनसे जुदा रहने में ही मुसलमानों की ख़ैरियत है। काफ़िर को लीडर मानना गोया दोज़ख़ में जाने का रास्ता साफ़ करना है। कुछ दीनदार मुसलमान भी काफ़िरों से मिले हुए हैं, उनको भी काफ़िर होने का फ़तवा दे देना चाहिए। गाँधी ने सरकार से यह सुलह की है कि क़ानून से एक मर्द की एक ही बीवी जायज़ समझी जाय। इससे हमारे मज़हब पर बड़ा

हमला हुआ है, क्योंकि हमारे क़ुरान शरीफ़ में चार बीबियाँ तक करने की इजाज़त है। हम गाँधी के किए हुए इक़रारनामे को क़ुबूल नहीं कर सकते। यहाँ यह न कहना मुसलमान-जाति के प्रति अन्याय होगा कि श्री० काछलिया इत्यादि अधिकांश समझदार मुसलमान इन पागलों के प्रलाप से सहमत न थे।

महात्मा जी और माता कस्तूरीबाई बग्घी पर सवार थे। बग्घी धीरे-धीरे जा रही थी, और उसके चारों ओर मनुष्य चींटी की चाल चल रहे थे। मैं और श्री० लालबहादुर सिंह फ़ुट-पाथ पर जा रहे थे। हमारे समीप ही से एक मुसलमान ने महात्मा जी को लक्ष्य करके सड़ा अण्डा फेंका, वह जाकर पहिए पर फूट गया। दूसरा अण्डा बग्घी के अन्दर पहुँच गया। अब यह दृश्य हमसे अधिक देखा न गया। सिंह जी ने झपटकर उसकी गर्दन पकड़ ली, और फ़ुट-पाथ पर दे मारा। ऊपर से मैंने उसके मुखारविन्द पर दो-तीन लातें रसीद कीं। हुल्लड़ मच गया, हम लोग चलते बने, उस भीड़ में कौन किसको देखता है। मुसलमानों में बड़ी उत्तेजना फैली और वे मारपीट पर तुल गए, किन्तु इधर भी कौन डरने वाला था? हबीब मोटन की बदहवासी पर बड़ी हँसी आई। वह मानो एक ही कौर में अपने विरोधियों को निगल जाना चाहता था।

उसी रात को ८ बजे बायस्कोप-हॉल में सभा हुई। हिन्दू और मुसलमानों का भारी जमघट हुआ। दङ्गे की भी आशङ्का थी। महात्मा जी उठे और राह की घटना का जिक्र करते हुए बोले—

"सुनने में आया है कि रास्ते में कुछ भाई मुझे मारने पर उतारू

थे। उनसे मुझे एक शब्द भी नहीं कहना है, वे भले ही मुझे मारें—मैं मार खाने को तैयार हूँ; लेकिन जो भाई मेरी रक्षा की चिन्ता में थे, उन्हीं से मुझे कुछ निवेदन करना है। मीर आलम ने जब मुझे मारा था, तब मुझे मरना मञ्जूर नहीं था, इसलिए मैं नहीं मरा। यदि मैं मरना चाहूँगा, तो कोई मेरी रक्षा न कर सकेगा। मैं विलायत जा रहा हूँ। यदि मेरा जहाज़ सागर की मँझधार में डूब जाय, तो मेरे रक्षक लोग क्या करेंगे? क्या ईश्वर से लड़ेंगे कि तुमने गाँधी को क्यों छीन लिया। इसलिए मेरे भाइयो! यदि कोई मुझे मारता है, तो उसे मारने दो; पर तुम बदला लेने का ख़्याल मत करो।"

हमने यह उपदेश बड़े ध्यान से सुन लिया, परन्तु यह हिम्मत न पड़ी कि जाकर महात्मा जी से साफ़ कह दें कि हम लोग कोई महापुरुष नहीं है, जो ऐसे अवसर पर आत्म-संयम से काम ले सकें। यदि कोई दुरात्मा किसी सत्पुरुष का अपमान करने की चेष्टा करता है, तो यह निस्सन्देह नीचता है; किन्तु यदि उसे यथोचित दण्ड देना भी नीच कर्म है, तो हम ऐसे दृश्य को देखने की अपेक्षा नीच बनकर रहना अधिक पसन्द करते हैं। पर इतना साहस कहाँ? यहाँ तो यह भय व्याप रहा था कि महात्मा जी को हमारा पता न लग जाय, अन्यथा फटकार पाए बिना छुटकारा कहाँ? यह सन्तोष अवश्य था कि महात्मा जी चाहे कुछ कहें, पर हमने उस शठ के साथ शठता करके कोई बुराई नहीं की है, और अगर महात्मा जी के कथनानुसार ऐसा करना पाप है, तो उसका फल भोगने में हमें ज़रा भी पश्चात्ताप न होगा।

महात्मा जी को जोहन्सबर्ग के मेसोनिक हॉल में विदाई का भोज दिया गया। उस ऐतिहासिक सभा की स्मृति आज भी हृदय में ज्यों की त्यों ताजी बनी हुई है। उस उत्सव में बड़े-बड़े योरोपियन पधारे थे, जिनमें हाईकोर्ट के जज डॉक्टर क्रौज, के० सी०, मि० एलैक्जैण्डर, एशियाटिक रजिस्ट्रार चिमनी साहब, पादरी फ़िलिप्स, पादरी हॉवर्ड, मि० पर्चेस, मि० मिलीन इत्यादि प्रथम-पंक्ति में विराज रहे थे। सभापति के आसन पर ऑनरेबल हुगविन्डुस सुशोभित थे। मुझे ख्याल है कि सबसे पहले अहमदिया इस्लामिक सोसायटी का तार पढ़ा गया, जिसमें लिखा था कि हम लोगों की इस सभा से जरा भी सहानुभूति नहीं है। इस पर 'शर्म-शर्म' की पुकार मच गई। माननीय गोखले का तार बड़ी हर्ष-ध्वनि से सुना गया था। कई योरोपियन सज्जनों के व्याख्यान हुए, सभी ने इस महापुरुष के जीवन की उच्चतम समालोचना की। इस महापुरुष ने वास्तव में ऐसा आदर्श-जीवन बिताया था कि आधुनिक सृष्टि में इसके जोड़े का कोई दूसरा पुरुष दृष्टिगोचर न होता था। जड़वादी पाश्चात्य जनता में रहकर पूर्व के इस साधु-पुरुष ने अपने त्यागी जीवन से, स्नेह से, निर्भयता से, शौर्य से और अपने देशवासियों की शुद्ध सेवा से सारे संसार को विस्मय में डाल रक्खा था। अतएव उस सभा में महात्मा जी की स्तुति में जो कुछ कहा गया, वह यथार्थ से बहुत कम था; किन्तु महात्मा जी का यह उत्तर वास्तव में उनकी महानता का ही द्योतक था—

"मेरी तथा मेरी पत्नी की सेवा, त्याग और अन्य अनेक

बातों के सम्बन्ध में अभी बहुत-कुछ कहा गया है। हमारे धर्म में—जिसे कि मैं समझता हूँ कि वह सब धर्मों से बढ़कर सच्चा धर्म है—कहा गया है कि जब किसी मनुष्य की प्रशंसा होती है, तब उसे उचित है कि वह वहाँ से हट जाय। यदि हट न सके तो अपने कान बन्द कर ले, और यदि वह इन दोनों में से कोई काम न कर सके, तो उसके सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाय उसको वह उस परमात्मा के चरणों में अर्पित कर दे, जो जगत् के प्रत्येक जीव और प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त है। मैं आशा करता हूँ कि मेरी स्त्री में तथा मुझमें इतना बल होगा कि आज सन्ध्या को जितनी बातें कही गई हैं वे सब हम प्रभु के चरणों में भेंट कर दें।"

इस उत्सव में महात्मा जी को ट्रान्सवाल के भिन्न-भिन्न नगरों और सभाओं की ओर से अनेक अभिनन्दन-पत्र अर्पण किए गए। जिन भाग्यवानों को अभिनन्दन-पत्र पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उनमें एक मैं भी था। जर्मिस्टन-निवासियों की ओर से मुझे यह प्रतिष्ठा मिली थी।

भोज का बखान क्या करूँ, वह अङ्गरेज़ी स्टाइल का बिलकुल अप-टु-डेट था। हाँ, शाकाहार के सिवाय आमिष या अण्डे के बने हुए पदार्थों का लेश भी नहीं था। रङ्ग-भेद हवा हो गया था और योरोपियन तथा भारतीय साथ-साथ बैठे हुए थे। मैं जिस मेज़ पर दख़ल जमाए बैठा था, उसी पर कुछ योरोपियन युवतियाँ भी विराज रही थीं। पास ही की मेज़ पर एक मद्रासी सज्जन आसन लगाए हुए थे। वे सूट-बूट से तो ख़ूब सजे थे, किन्तु मालूम पड़ता

है कि अङ्गरेज़ी ढङ्ग के भोज में शामिल होने का उनके लिए यह पहला ही मौक़ा था। नियमानुसार मेज़ पर तश्तरियों में फल सजाकर पहले ही से रख दिए जाते हैं, किन्तु वह खाया जाता है सबसे पीछे। हमारे मद्रासी मित्र शायद इस नियम से वाक़िफ़ न थे और आपने सोचा होगा कि ये फल महज़ दिखाने की ग़रज़ से तो नहीं—खाने ही के वास्ते रक्खे हुए हैं, अतएव आपने किसी दूसरे की पर्वाह किए बिना फलों में हाथ लगा ही तो दिया। इस नियम-विरुद्ध फलाहार से मेरे समीप बैठी हुई युवतियों के अधरों पर हँसी की रेखा झलकने लगी, किन्तु इतने ही से इस कौतुक का अन्त न हुआ; और भी एक गुल खिला। यदि मद्रासी महाशय फलाहार पर ही सन्तोष कर बैठते, तो प्रतिष्ठा बच जाती और सब लोग कदाचित् उन्हें विशुद्ध फलाहारी ही समझ लेते, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। जब थाली सामने आई और उसमें डबल रोटी और साग रख गया, तब आपने भी दूसरों की देखादेखी छुरी और काँटे उठा लिए, किन्तु ज्योंही काँटे से साग उठाकर आपने श्रीमुख में डालना चाहा, त्योंही वह बेहूदा काँटा मुँह में न जाकर ओठ में घुस पड़ा। अब देखो तमाशा! मुँह से ख़ून का फ़व्वारा निकल पड़ा। बेचारा भोज को प्रणाम कर वहाँ से भागा। मुझे तो हँसी भी आई और दुःख भी हुआ, किन्तु मेरे निकट बैठी हुई युवतियों की हँसी रोके न रुकी।

हाँ, यहाँ एक बहुत आवश्यक बात तो मैं भूल ही रहा हूँ। वह यह कि महात्मा जी के साथ केलनबेक साहब भी दक्षिण

अफ्रिका से विदा हो रहे थे, और उनका भी इस भोज-सभा में यथायोग्य आदर-सत्कार किया गया था। केलनबेक साहब का यहाँ थोड़ा सा परिचय दे देना आवश्यक है; क्योंकि वे फिर सार्वजनिक रङ्ग-मञ्च पर नहीं देख पड़ेंगे। आपका नाम है हर्मन केलनबेक। आप जर्मन हैं। आप बड़े अमीर आदमी थे, और ख़ूब ठाट-बाट से रहते थे; किन्तु जब से महात्मा जी का सत्सङ्ग हुआ, तब से आपका जीवन बदल गया। आपकी सादगी इतनी बढ़ गई कि आप मासिक केवल तीन पाउण्ड में गुज़र करने लगे। सत्याग्रह के समय आपने अपनी ग्यारह सौ बीघा ज़मीन कारावासियों के परिवार के रहने के लिए दे दी थी, और वही ज़मीन 'टाल्स्टॉय फ़ार्म' के नाम से प्रसिद्ध हुई। ट्रान्सवाल-प्रवास के समय महात्मा जी इसी स्थान पर रहा करते थे। केलनबेक साहब रूसी महात्मा टाल्स्टॉय के ग्रन्थों के परम प्रेमी और महात्मा गाँधी के श्रद्धालु भक्त थे। उनका हृदय बालक की भाँति कोमल और उनका निश्चय वज्र की भाँति कठोर था। महात्मा जी की शिक्षाओं को उन्होंने पूर्ण रूप से अपने जीवन में घटाया था, और हड़ताल के समय जेल भी भोग आए थे।

महात्मा जी की विद्यमानता में ही स्वर्गीया कुमारी बेलियमा के समाधि-शिला का उद्घाटन भी हुआ। यह बहिन केवल १७ वर्ष की थी, स्वभाव में भोलापन था और हृदय में असीम उत्साह! बेलियमा को हड़ताल के समय जेल की सज़ा हुई थी। जेल में ही इन पर घातक रोग का आक्रमण हुआ, और जेल से छूटने पर चन्द

दिन बाद ही देहान्त हो गया। जिस कन्या ने अपने जीवन की बलि देकर भारत की कीर्ति को दिगन्त-व्यापिनी बनाया, उसका उचित स्मारक वह समाधि-शिला कदापि नहीं कही जा सकती। हाँ, मित्रवर पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने इस वीर-कन्या की स्मृति में 'प्रवासी भारतवासी' नामक अद्वितीय ग्रन्थ लिखकर भारतीय हृदय का वास्तविक स्मारक खड़ा किया है।

इसी अवसर पर मीरआलम को मैंने पहले-पहल देखा, जिसने एक बार महात्मा जी पर अमानुषिक आक्रमण किया था; और जिसके चिह्न-स्वरूप महात्मा जी के अगले दाँत टूटे हुए हैं। इस पठान से महात्मा जी ऐसे प्रेम से मिले, मानो किसी अभिन्न-हृदयी मित्र से मिल रहे हैं।

जब तक महात्मा जी जोहन्सबर्ग में रहे, मैं भी घरबार की चिन्ता छोड़कर वहीं धुनी रमाए रहा और १८ जुलाई को महात्मा जी को ट्रान्सवाल से सदा के लिए बिदा कर रोता हुआ घर लौटा।

सोने की खान में मज़दूरी
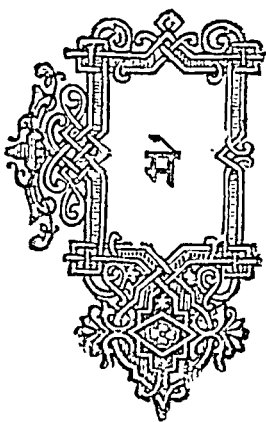
मेरे सिर पर अब नौकरी की चिन्ता सवार हुई कब तक बैठा रहता। कुछ न कुछ धन्धा तो करना ही चाहिए। यह तो मैंने निश्चय कर लिया था कि धोबी का धन्धा अब न करूँगा। इसलिए नहीं कि उससे मुझे घृणा हो गई थी, बल्कि इसलिए कि उस धन्धे में फँस जाने पर सार्वजनिक काम के लिए अवकाश ही नहीं मिलता था! ख़ैर, यत्न करने पर मुझे एक सोने की खान में नौकरी मिली। इस खान का नाम था 'रोसडीप गोल्ड माईन' और उसमें श्री० बन्धु गङ्गादीन नाम के एक हिन्दुस्तानी सरदार भी थे। उन्होंने मेरी नौकरी तो लगा दी, पर इस शर्त पर कि मैं जर्मिस्टन के हिन्दू-मन्दिर को, जो उस समय टूटा पड़ा था, बनाने के लिए पहले मास का वेतन दे दूँ।

मैंने यह सोचकर शर्त मान ली कि चलो इससे हिन्दुओं की एक स्मृति नष्ट होने से बच जायगी। मासिक वेतन पाँच गिनी था, मैंने यह रक़म मन्दिर के लिए दे दी, किन्तु खेद है कि मेरी आशा मृग-तृष्णा ही सिद्ध हुई। हिन्दुओं में जितने सिर हैं, उतने देवता हैं; और जितने देवता हैं, उतनी पूजन-विधि भी। मद्रासी और हिन्दुस्तानी आपस में लड़ पड़े। एक ठाकुर जी को मन्दिर में बैठाना चाहता था और दूसरा किसी सुब्रह्मणि बाबा को। सन्धि की कोई सूरत न निकली और चीज़ों का बँटवारा हो गया। मद्रासियों ने तो कुछ गाँठ से खर्चकर अलग मन्दिर खड़ा कर लिया, किन्तु हिन्दुस्तानियों के हिस्से में आई हुई चीज़ें पड़ी-पड़ी उनके नाम पर रोती ही रह गईं! धीरे-धीरे सब चीज़ें चोरों के घर की शोभा बनीं और देखने वाले देखते ही रह गए। मन्दिर बनाने के लिए जो पैसे माँगे गए थे और जिसमें मेरी भी बड़े परिश्रम से कमाई हुई पाँच गिनीं थीं, सो सब प्रधान जी के पेट में हज़म हो गए। प्रधान जी में ऐसी बुरी आदत थी कि वह पब्लिक-धन तथा अपनी बपौती में रत्तीभर भी अन्तर नहीं समझते थे। अस्तु—

मैं अपनी छाती मज़बूत कर खान में काम करने लगा। एक सप्ताह दिन में काम करना पड़ता और एक सप्ताह रात में। रोज़ाना नौ घण्टे की मशक़्क़त थी। ट्रान्सवाल का जाड़ा जगत्-विख्यात है। सबेरे ख़ूब गर्म कपड़े पहिनकर घर से निकलता, किन्तु खान पर पहुँचते-पहुँचते सारा शरीर सर्द हो जाता। काम पर और भी आफ़त आती—हर वक़्त हाथ पानी से सराबोर रहते।

उँगलियाँ सीधी न होतीं, और मालूम पड़ता कि गली जा रही हैं। मैं उस मेज़ (Sorting table) पर काम करता था, जहाँ पत्थरों का चुनाव होता था। मेज़ गोलाकार और चक्करदार थी, उसके एक सिरे पर पत्थरों की बड़ी-बड़ी चट्टानें ऊपर के खण्ड से गिरतीं, मुहाने पर पानी का फ़व्वारा छूटता और वह धुलकर हमारे सामने आतीं। हमारा काम था उन चट्टानों को उलट-पलटकर देखना और जिनमें सोने के सफ़ेद-सफ़ेद दाग़ हों, उनको छोड़कर बाक़ी बेकार पत्थर चुन-चुनकर अलग फेंकना। एक तो वैसे ही जाड़े का ज़ोर और उस पर शीतल जल का स्पर्श तथा बर्फ़ सी चट्टानों की मुठभेड़ वास्तव में छट्ठी का दूध याद दिलाती थी। हिन्दुस्तानी सरदार बन्धुराम की मुझ पर कृपा-दृष्टि थी, और वे बड़े साहब की नज़र बचाकर मुझे कुछ आराम करने का अवकाश दे दिया करते थे। रात के वक्त़ जो गोरा काम पर तैनात रहता, वह स्कॉटमैन था। बड़ा सहृदय और समझदार था। उससे मेरी खूब पटती। धीरे-धीरे वह मेरा मित्र बन गया और फिर रात की पारी में वह मुझसे काम न लेता। मेरे पास आ बैठता, कोई न कोई बात छेड़ देता और रातभर में तीन-चार प्याला चाय या कॉफ़ी पिलाकर दम लेता। हबशी लोग तो काम किया करते और हम लोग आग की अँगीठी के पास बैठकर रात बीतने की प्रतीक्षा। हाँ, आवश्य-कतानुसार बीच-बीच में हबशी मज़दूरों को डाँट-डपट बतला दी जाती। रात तो बड़े मज़े में कट जाती, किन्तु दिन के वक्त़ एक ठूँठा अङ्गरेज़ निगरानी पर रहता। इसमें अङ्गरेज़ों के सारे गुण

मौजूद थे। यह हबशियों से तो प्रेम करता, किन्तु हिन्दुस्तानियों से घृणा। यदि इसकी चलती, तो एक भी हिन्दुस्तानी वहाँ काम करने न पाता। हिन्दुस्तानियों का वेतन भी अधिक था और हबशियों का बहुत ही कम; किन्तु खान के मालिकों को विवश होकर हिन्दुस्तानियों को रखना ही पड़ा था, क्योंकि हबशियों की विचार-शक्ति पर उन्हें विश्वास न था, और यह भय था कि पत्थरों के चुनने में उनकी असावधानी से कम्पनी को बड़ी हानि होगी। इसलिए केवल पत्थर चुनने के काम पर एक दर्जन हिन्दुस्तानी रक्खे गए थे, शेष सब काम गोरों की निगरानी में हबशियों द्वारा ही होता था। अस्तु, ठूँठा साहब बड़े क्रूर स्वभाव का था और वह साधारणतः सभी हिन्दुस्तानियों और विशेषतः मुझपर दृष्टि रखता। एक दिन बात ही बात में उसे मेरे राजनीतिक विचार मालूम हो गए। बस, उसी दिन से मुझपर कड़ाई शुरू हो गई, लेकिन मैं भी अपना काम इस ख़ूबी से करता कि ठूँठे साहब को कुछ कहने का मौक़ा ही न मिलता।

सोने की खानों को देखकर साधारण मनुष्यों की बुद्धि चकरा जाती है। ज़मीन के अन्दर सुरङ्ग खोदी गई है; कुछ दूर जाकर मुख्य स्टेशन बना है। वहाँ से चतुर्दिक अनेक लाइनें निकली हैं, और उनके अनेक स्टेशन बने हुए हैं। इन लाइनों पर लोहे की पटरियाँ बिछी हुई हैं और उनपर छोटी-बड़ी गाड़ियाँ दौड़ती हैं। भूमि के भीतर अनेक प्रकार के यन्त्रों का जाल बिछा हुआ है। कुछ यन्त्र बिजली के बल से चलते हैं और कुछ हवा के

झोंकों से । अन्दर तो हवा होती नहीं, इसलिए एक बहुत बड़ी नली के द्वारा वह भीतर पहुँचाई जाती है । इस बड़ी नली से अनेक छोटी-छोटी नलियाँ निकली हुई हैं और वे आवश्यकता के अनुसार वायु वितरण करती हैं । इस पवन के प्रताप से यन्त्र चलते हैं, गाड़ियाँ दौड़ती हैं और डायनामाईट लगाने के लिए पत्थरों में छेनी से छेद भी बनाए जाते हैं । भूगर्भ में जहाँ-जहाँ मनुष्य काम करते हैं, वहाँ-वहाँ भी नलियों द्वारा हवा जाने की पूरी व्यवस्था है । गोरे लोग तो केवल यन्त्र-सम्बन्धी काम करते हैं, किन्तु मिहनत के सब काम हबशियों को करने पड़ते हैं । जब नीचे डायनामाईट से पत्थर टूटता है, तब वह गाड़ियों पर लादकर चुनाव की उस मेज़ पर भेजा जाता है, जहाँ कि मैं काम किया करता था । वहाँ पारखियों से पास होकर सुनहरे पत्थर फिर गाड़ियों पर लदकर दूसरी जगह जाते हैं । वहाँ उसे कूटने के लिए बड़े-बड़े बेलन बने हुए हैं और उन बेलनों की चोट से ऐसी आवाज़ निकलती है कि कान नहीं दिए जाते । जब चट्टानों का चूर्ण बन जाता है, तब वह पानी के साथ एक नाली से बहता है । इस नाली में ऐसी रासायनिक औषधि लगा दी जाती है कि जिससे पत्थर का चूरा तो बह जाता है और सोने का अंश उसी में चिपट जाता है । उसे फिर काछ-कूछकर ले जाते हैं और गला-पकाकर शुद्ध सोना तैयार करते हैं । प्रत्येक खान के पास पत्थर के चूरे का पहाड़ लग गया है, और पानी के ताल-पोखर बने हुए हैं ।

ट्रान्सवाल की खानों का प्रारम्भिक इतिहास भी बड़ा मनोरञ्जक है। सन् १८८६ ई० में राष्ट्रपति क्रूगर ने उस स्थान को सार्वजनिक खान के लिए उद्घोषित किया था, जहाँ इस समय जोहन्सबर्ग नगर बसा हुआ है। इस समय यहाँ क़रीब तीन लाख मनुष्यों की आबादी है, लेकिन उस समय कठिनता से पचास-साठ घर होंगे। सबसे समीप का स्टेशन ३०० मील की दूरी पर था, इसलिए बड़े-बड़े यन्त्रों तथा खान की अन्य सामग्रियों को मौक़े की जगह पर लाना कोई सहज काम न था। अङ्गरेज़ होते हैं अपनी धुन के बड़े पक्के। घोड़े और बैल-गाड़ियों पर खान की चीज़ें लाई गईं, और उसी साल सोना खोदने के लिए एक कम्पनी खड़ी हो गई। सन् १८८७ ई० के जुलाई मास तक इस कम्पनी में केवल ८८७ आउन्स सोना निकला, किन्तु वर्ष के अन्त तक २० से अधिक कम्पनियाँ खान खोदने के काम में जुट गईं और २३००० आउन्स सोना निकालने में कामयाब हुईं। अब क्या कहना था, इङ्गलैण्ड के पूँजी-पतियों का दल सुवर्ण-क्षेत्र (Gold Field) की तीर्थ-यात्रा पर निकल पड़ा, और सन् १८८८ ई० में ४४ से अधिक कम्पनियाँ बन गईं। इस प्रकार धीरे-धीरे खानों की संख्या बढ़ गई, और साथ ही साथ काम भी बढ़ने लगा। खानें ज्यों-ज्यों गहरी होती गईं, त्यों-त्यों उनमें से पानी तथा पत्थर निकालने के लिए नए-नए यन्त्र और अधिकाधिक मज़दूरों की आवश्यकता होती गई, पर सोने के लाभ के सामने इन कठिनाइयों की क्या गिनती? अवस्था

के अनुसार सब व्यवस्था होती गई। सन् १८९० ई० में पाँच लाख, सन् १८९१ ई० में सवा सात लाख, और सन् १८९२ ई० में बारह लाख आउन्स सोना निकाला गया। आज तो ट्रान्सवाल की खानें संसार को सबसे अधिक सोना दे रही हैं। इन्हीं खानों की बदौलत जोहन्सबर्ग बसा, आस-पास के स्थान गुलजार हुए, और अङ्गरेज़ों का लालच भी बढ़ा। फल-स्वरूप सन् १८९९ ई० से प्रारम्भ होकर १९०२ ई० तक अङ्गरेज़ और बोअरों से संग्राम हुआ और इन सोने की खानों के लिए सहस्त्रों मनुष्यों का संहार हुआ।

आज तो ट्रान्सवाल में खानों की अखण्ड शक्ति देख पड़ती है। सुबह-शाम जब खानों में सीटियाँ बजने लगती हैं, तो कान बहरे हो जाते हैं। साथ ही ज़रा सी हवा बहने पर धूल फाँकने की नौबत आ जाती है। पहले ट्रान्सवाल में हीरा भी निकलता था और संसार का सबसे बड़ा—प्रसिद्ध कोहनूर से भी बड़ा हीरा यहीं की खान से निकला था। उसका नाम है 'क्लीनन' हीरा—और यह नाम खान के मालिक के नाम पर पड़ा है। ट्रान्सवाल में कोयले की भी बहुत सी खानें हैं और वहीं से कोयला हिन्दुस्तान आया करता है; किन्तु ट्रान्सवाल का गौरव हैं सोने की खानें; और खनिज विद्या विशारदों का अनुमान है कि अभी ८० वर्ष तक खान की खुदाई हो सकेगी।

इन खानों की बदौलत गोरे पूँजीपति और गोरे मज़दूर तो गुलछर्रे उड़ाते हैं, किन्तु हबशियों की जैसी मिट्टी-पलीद हो रही है, वह अत्यन्त रोमाञ्चकारी है। ख़ासकर इन खानों में काम

करने के लिए पोर्तुगीज़ उपनिवेश से मज़दूर भर्ती होकर आते हैं, और उनको शर्तबन्धी लिखा देनी पड़ती है। ये 'मङ्गछान' जाति के हवशी होते हैं, और इनमें आत्म-सम्मान का ख्याल नहीं होता। इनके रहने के लिए बड़े-बड़े अहातों में बारक बने हुए हैं। यदि बारक से बाहर जाना चाहें तो पास लेना पड़ता है। खाने के लिए मकई की लपसी के सिवाय थोड़ी-थोड़ी डबल रोटी भी मिल जाती है, और महीना भर पसीना बहाने पर डेढ़, दो, ढाई या तीन पाउण्ड वेतन मिलता है। काम उनसे इतना लिया जाता है, जितना जानवरों से लिया जाना शायद अनुचित समझा जाय। रविवार को छुट्टी मिलती है, उस दिन इनके बारक में चले जाइए और मूर्तिमती दासता का दर्शन कर लीजिए। शरीर पर एक-एक कम्बल है; कोई धूप में पड़ा हुआ है; कोई लपसी खा रहा है; कोई गाँजे का दम लगा रहा है; कोई जूआ खेलने में व्यस्त है ; कोई लौंडेबाज़ी और रण्डीबाज़ी की फ़िराक़ में है। इनके साथ औरतें नहीं आतीं, अतएव ये कुपथगामी बन जाते हैं। मर-जीकर जो कुछ कमाते हैं, वह बदमाश औरतों की कामाग्नि में स्वाहा हो जाता है । कई दुष्ट तो ख़ूबसूरत छोकड़ों के साथ अनैसर्गिक अपराध करते हैं, और नाना प्रकार के रोगों के पञ्जे में फँसकर ज़िन्दगी बर्बाद कर डालते हैं। यहूदी दूकानदार भी इन हबशियों को खूब मूँड़ते हैं, और इनको फुसलाकर एक टके के माल के चार टके वसूल करते हैं।

एक बार परीक्षा के लिए कुछ चीनी मजदूर भी मँगाए गए

थे, किन्तु जब स्वतन्त्र चीनियों ने 'जो हने ताहि को हनिए; पाप-दोष एको ना गनिए' का मन्त्र पढ़ना शुरू किया, तो गोरे प्रभुओं की नानी मर गई; और उन्हें फ़ौरन से पेश्तर देश लौटा दिया। रह गए अभागे हबशी, उन पर मनमानी करना तो गोरों का परम्परागत धर्म ही ठहरा। कुछ समझदार हबशी यन्त्र-सञ्चालन का भी काम करते थे, किन्तु इस साल यूनियन-पार्लामेण्ट जो वर्ण-बाधा बिल (Colour Bar Bill) पास हुआ है, उससे इनका रहा-सहा अधिकार भी जाता रहा, और अब ये मिहनत-मजदूरी के सिवाय कोई भी अच्छी नौकरी नहीं पा सकते। यहाँ यह भी बता देना ज़रूरी है कि यह क़ानून भारतीय मजदूरों पर भी लागू होगा।

ट्रान्सवाल में कच्चे सोने की ख़रीद-बिक्री भी हुआ करती है। यद्यपि ऐसा करना क़ानून की दृष्टि से अक्षम्य अपराध है और भारी से भारी दण्ड का विधान है, तो भी लोभ-वश कितने लोग इस काम से बाज़ नहीं आते। बहुत से गोरे और काले इस अपराध में ट्रान्सवाल की जेलों में सड़ रहे हैं, तो भी यह धन्धा किसी न किसी रूप में चलता ही रहता है। जासूस लोग सोना ख़रीदने वालों का पता लगाकर 'ट्रैप' (Trap) का जाल पसारते हैं यह 'ट्रैप' वास्तव में बड़ी बुरी बला है। अच्छे-अच्छे आदमी भी लोभ में आकर इस जाल में फँस जाते हैं। जाल बिछाने का ढङ्ग यह है कि जासूस-विभाग पहले किसी हबशी को कच्चे सोने के साथ उस आदमी के पास भेजता है, जिस पर उसका सन्देह होता

है। हबशी वहाँ जाकर पहले सोना दिखाता है और लेने की इच्छा होने पर मोल-तोल करता है। यदि उस आदमी ने सोना ख़रीद लिया, तो जासूसों के सन्देह पर विश्वास की मुहर लग जाती है। कुछ दिनों का अन्तर डालकर वह हबशी-जासूस फिर सोना लेकर उस आदमी के पास पहुँचता है। इस बार उसकी गिरफ़्तारी की तैयारी कर ली जाती है। गोरे-जासूस किसी गुप्त स्थान से ढूँका देकर देखते हैं। जब हबशी सोना बेचने में सफल हो जाता है, तब ज़रा इशारा पाकर—रात के वक़्त बिजली-बत्ती की रोशनी देखकर गोरे-जासूस छापा मार बैठते हैं। यह काम इतनी शीघ्रता से होता है कि ख़रीददार सोना छिपाने का अवसर ही नहीं पाता। बस, चलो अब बड़े घर; वहाँ सज़ा मिले बिना जान नहीं बच सकती।

जिस समय मैं जर्मिस्टन की खान में मज़दूरी करता था, एक ऐसी ही घटना वहाँ हो गई थी। श्री० लालबहादुरसिंह, उनके भागीदार रामराजसिंह और पुजारी गुलाबदास इसी तरीक़े से इसी जुर्म में पकड़े गए थे। न जाने यह जासूसों की चालबाज़ी थी या इन लोगों के लोभ का फल था। सिंहजी जी को मैं एक सच्चा सत्याग्रही मानता था, इसलिए उनकी निर्दोषिता में उस वक़्त मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं था। मामले की पैरवी में मैंने बहुत मिहनत की, निर्धन होते हुए भी स्वयं पहले पाँच पाउण्ड निकाला, अन्य भाइयों से भी मदद ली और प्रसिद्ध डॉक्टर क्रोज़, के० सी० को वकालत के लिए नियुक्त किया, किन्तु ये तीनों महाशय

बेदाग़ न छूट सके और एक बड़ी रक़म जुर्माने के रूप में देनी पड़ी।

जर्मिस्टन में मैंने एक हिन्दी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की थी और एक हिन्दी रात्रि-पाठशाला भी खोली थी। दिनभर तो खान में काम करता, और रात को बच्चे पढ़ाता। जब मैं रात को काम पर जाता, तब देवीदयाल पढ़ाया करते। यह पाठशाला धीरे-धीरे जम गई और बहुत से बच्चे हिन्दी पढ़ने लगे। फ़ीस किसी से नहीं ली जाती थी। इसका बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा, और लोगों का उत्साह बढ़ गया। बच्चों में तो मैंने मातृभाषा का प्रेम उत्पन्न किया, किन्तु युवकों को भी सुधार के अभिप्राय से किसी न किसी रूप में सङ्गठित करना आवश्यक था फ़ुटबॉल का मैदान ही एक ऐसा स्थान था, जहाँ सब के सब इकट्ठे हो सकते थे, अतएव मैंने हिन्दी फ़ुटबॉल-क्लब की बुनियाद डाली। इस क्लब में अच्छे-अच्छे खिलाड़ी शामिल हुए और नियम यह था कि क्लब का प्रत्येक मेम्बर सभा के अधिवेशन में भी उपस्थित हुआ करे। इस प्रकार मैंने जर्मिस्टन में कुछ सुधार का काम तो शुरू किया, किन्तु 'लोकेशन' (Location) का जीवन मुझे ज़रा भी पसन्द नहीं था। हमारे लोकेशन के पास ही हबशियों की बस्ती थी, अतएव बहुत से नवयुवक हबशी-कन्याओं के साथ अपना लोक-परलोक सुधार रहे थे। यद्यपि ट्रान्सवाल में हिन्दुस्तानियों को शराब पीने की सख़्त मनाही है, तो भी अनेक हिन्दुस्तानी गुप्त-रूप से यह रोज़गार चलाते हैं। पकड़े जाते हैं; जुर्माना भरते हैं; जेल भोगते हैं—सब-कुछ

होता है, लेकिन शराब की तिजारत की जड़ नहीं मिटती। शनिवार को आधे दिन और रविवार को दिनभर की छुट्टी रहती है, अतएव इन दोनों में ख़ूब मद्यपान होता है। सड़कों पर ज़रा घूम आइए; कहीं गाली-गुफ़्ता की बहार देखिए और कहीं मार-पीट का बाज़ार। ऐसे-ऐसे स्थानों पर तमाशबीनों की शुमार नहीं रहती। मैं तो भारत के एक गाँव की खुली जगह का रहने वाला था, अतएव यहाँ का वातावरण मेरे प्रकृति के बिलकुल प्रतिकूल था; किन्तु करता क्या ? विवश होकर कुछ दिन यहाँ व्यतीत करने ही पड़े।

उन्हीं दिनों स्वामी मङ्गलानन्द पुरी ट्रान्सवाल पहुँचे थे। नेटाल आते समय सन् १९१२ ई० में आप मुझे बम्बई में मिले थे, और दक्षिण अफ़्रिका आने की अभिलाषा रखते थे। जब आप पूर्व अफ्रिका का पर्यटन करते हुए डेलगोआबे आए, तब महात्मा जी से ट्रान्सवाल में आने की आज्ञा माँगी, किन्तु महात्मा जी ने जवाब दिया कि यदि बिना किसी शर्त में बँधे आप आ सकते हैं तो आइए, अन्यथा मैं आपको आने की सम्मति नहीं दे सकता। पूर्व-परिचय के कारण पुरी जी ने मुझे भी एक पत्र लिखा था, उस समय मैं जेल में था; किन्तु एक मित्र से ख़बर मिलने पर मैंने उत्तर भेजवा दिया कि जब आप डेलगोआबे तक आ गए हैं, तो ट्रान्सवाल और नेटाल देखे बिना लौट जाना उचित न होगा। पुरी जी उँगलियों का निशान दिए बिना और यह शर्त किए बिना कि 'मैं केवल धर्म-प्रचार की

ग़रज़ से आता हूँ' आ भी कैसे सकते थे, अतएव आपने सरकारी शर्तें स्वीकार कर ट्रान्सवाल में प्रवेश किया। ट्रान्सवाल में पुरी जी के कई व्याख्यान हुए, किन्तु उन व्याख्यानों का कहाँ तक प्रभाव पड़ा, यह बतलाना कठिन है। वहाँ से पुरी जी नेटाल होकर भारत लौट आए।

स्वामी मङ्गलानन्द पुरी में एक विशेष बात यह थी कि आप किसी जीवन-बीमा कम्पनी के एजेण्ट थे। अतएव आपके इस कार्य से कुछ लोग असन्तुष्ट अवश्य थे। संन्यासी को किसी व्यापारिक संस्था से सम्बन्ध रखना उचित है या नहीं, इसका निर्णय करने का न मुझे अधिकार है, और न आवश्यकता; किन्तु पुरी जी की उन युक्तियों को मैं अवश्य पाठकों के सामने पेश करूँगा, जो इस विषय पर प्रायः वे दिया करते थे। उनके क. न का सार यह था कि घर-घर भीख माँगने की अपेक्षा मैंने एक कम्पनी की आढ़त ले ली है, तो इसमें क्या दोष है? इस आढ़त में नीति-विरुद्ध कोई बात भी नहीं है। कम्पनी के ख़र्चे से हम देशाटन करते हैं, अपना निर्वाह करते हैं और अधिकांश समय धर्म-प्रचार में भी लगा देते हैं। पुरी जी की युक्तियों में चाहे कितनी हा सरसता क्यों न हो, किन्तु हिन्दुओं की जो परम्परागत धारणा है; उसमें इस तर्क से कोई अन्तर नहीं आता। अस्तु, पुरी जी ने वहाँ 'ट्रान्सवाल-यात्रा' नाम की एक पुस्तक भी लिखी थी, उसका कुछ अंश तो 'प्रताप' में निकल गया था, किन्तु पूरी पुस्तक छपने का प्रबन्ध न हो सका।

पुरी जी जब वहाँ से भारत लौट गए, तो पं० इन्द्र जी विद्या-वाचस्पति ने अपने 'सद्धर्म-प्रचारक' में एक टिप्पणी लिखी और मैंने भी टिप्पणी के समर्थन में एक पत्र लिख दिया। इस पर पुरी जी को बहुत दुःख हुआ। यदि मैंने वह पत्र न लिखा होता, तो अच्छा ही होता; क्योंकि उस पत्र में कुछ ऐसे वाक्य थे, जिससे मनुष्य का दिल दुखे बिना नहीं रह सकता। अब मैं समझ सकता हूँ कि मेरे पत्र से पुरी जी को कितना दुःख व्यापा होगा, और उसके लिए मुझे पश्चात्ताप भी है। पुरी जी ने पत्रों में तो कोई जवाब नहीं छपवाया, किन्तु उन्होंने मेरे पास जो कटोक्तिपूर्ण पत्र भेजे, उससे उनका दिल कुछ हलका अवश्य हुआ होगा। मैंने बात बढ़ाना उचित न समझकर शान्ति धारण कर ली; और फल यह हुआ कि कुछ दिनों के बाद पुनः परस्पर प्रीति पैदा हो गई। मेरे असन्तोष का मुख्य कारण यह था कि पुरी जी कहीं तो वैदिक हवन कराते और कहीं सत्यनारायण की कथा भी बाँचते। इससे जनता में भ्रान्ति फैलती। मैं सिद्धान्त की दृष्टि से इस नीति को पसन्द नहीं करता था, किन्तु इसमें पुरी जी का क्या दोष? उन्होंने सोचा होगा कि मैं संन्यासी हूँ। यदि केवल मुट्ठी भर आर्यों में काम करता हूँ, तो ट्रान्सवाल के हिन्दुओं की एक बहुत बड़ी संख्या मेरे उपदेश से वञ्चित रह जाती है। दूसरी बात यह है कि पुरी जी यहाँ केवल धर्म-प्रचार करने की शर्त पर आए थे और बीमा-कम्पनी की आढ़त का भी काम नहीं कर सकते थे। कम से कम उनको पर्यटन करने और

स्वदेश वापिस जाने के लिए धन की आवश्यकता थी, किन्तु साधारण आर्यों में यह देखा जाता है कि उनमें मस्तिष्क तो है, पर हृदय नहीं—तर्क करने की शक्ति तो है, किन्तु दान-शीलता नहीं। वे अपने उपदेशकों की साधारण आवश्यकताओं का भी बहुत कम अनुभव करते हैं; और यदि उपदेशक मुँह खोलकर उन्हें अपनी जरूरतें बतलाता है, तो फिर वह उनके सामने धर्म-प्रचारक नहीं रह जाता; बल्कि 'परम लोभी और निपट स्वार्थी' बन जाता है। इसके विपरीत सनातनी-भाइयों में चाहे तर्क करने की शक्ति न हो, पर हृदय में अपने पण्डितों, उपदेशकों और संन्यासियों के लिए श्रद्धा का अविरल स्रोत बह रहा है। यद्यपि मैं अन्ध-श्रद्धा को तनिक भी पसन्द नहीं करता, किन्तु श्रद्धा का सर्वनाश भी मेरे लिए असह्य है। इन सब बातों के सोचने पर पुरी जी की परिस्थिति का मैं कुछ-कुछ अनुमान कर सकता हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि पुरी जी को आर्य-समाज से प्रेम है; क्योंकि आर्य-समाज ही उनके वर्त्तमान जीवन का विधाता है, और पुरी जी इस ऋण के बदले में दूर-दूर तक आर्य-समाज का सन्देश सुना आए हैं।
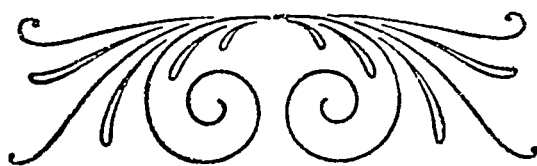
ट्रान्सवाल में हिन्दी-प्रचार
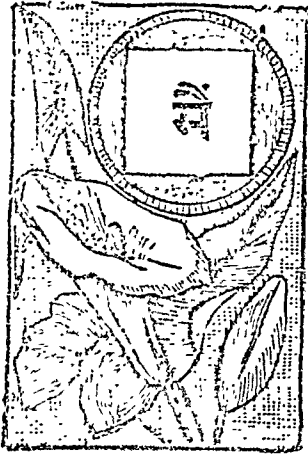
प्रवासी भारतीयों की स्थिति पर सदैव चिन्तातुर रहता, और सोचा करता कि किन उपायों से इनमें सच्चा जीवन पैदा किया जा सकता है। भाषा ही राष्ट्रीय जीवन की जड़ है, और मुझे यह देखकर बड़ा खेद होता था कि प्रवासी-भारतीयों में उसके प्रति बड़ी उपेक्षा है। मेरा यह पक्का विश्वास है कि यदि किसी जाति की अपनी भाषा लुप्त हो जाय, तो राष्ट्रीय जीवन का दीपक बुझे बिना नहीं रह सकता। राष्ट्र के व्यक्तियों की आकृति चाहे न बदले, किन्तु आत्मा का रूप अवश्य बदल जायगा। मेरे विचार में व्यक्तियों के हृदय के उन भावों का नाम 'राष्ट्रीयता' है, जो स्वधर्म, स्वदेश और स्वभाषा की त्रिवेदी पर उत्थित होते हैं। धर्म से मेरा अभिप्राय देश के सर्व-मान्य सिद्धान्त

और सभ्यता से है। यदि 'देश' राष्ट्र का शरीर है, तो भाषा उसका हृदय और आत्मा है। इस सत्य को ढूँढ़ने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता न थी—बोअर-जाति का भाषा-प्रेम हमारे सामने दृष्टान्त-रूप था। बोअरों ने टान्सवाल का राज्य खोया, पर अपनी भाषा पर आँच न आने दी। इस जाति को स्वभाषा पर अनुपम अनुराग है, और युद्ध के बाद अङ्गरेज़ों से सन्धि करते समय उसने एक शर्त यह भी रक्खी थी कि डच-भाषा का यश अक्षुण्ण रहे। जनरल बोथा जब विलायत जाते हैं, तब अङ्गरेज़ी-भाषा जानते हुए भी वहाँ के मन्त्रि-मण्डल से डच-भाषा में ही बातचीत करते हैं, और दुभाषिए की झञ्झट होने पर भी अङ्गरेज़ी बोलना स्वीकार नहीं करते। यूनियन-पार्लामेण्ट में बोअर-सदस्य जब कुछ बोलते हैं, तो अपनी डच-भाषा में। सारे सरकारी काग़ज़ात यदि एक ओर अङ्गरेज़ी में छपते हैं, तो दूसरी ओर अवश्य डच में। बोअर लोग हॉलैण्ड के मूल निवासी हैं, किन्तु उनकी भाषा शुद्ध हॉलान्स नहीं रह सकी, और खिचड़ी बन गई है। इस खिचड़ी भाषा को उन्होंने शृङ्खलाबद्ध किया है और उसकी उन्नति तथा रक्षा में सदैव कटिबद्ध रहते हैं।

बोअर-महिलाओं में मातृभाषा का कितना प्रेमानुराग है, उसका एक उदाहरण यहाँ देना हिन्दी-भाषियों के लिए अवश्य शिक्षाप्रद होगा। एक बार एक बोअर ने अपनी माता के पास अङ्गरेज़ी में एक पत्र लिखा था, पत्र पाकर माता ने जो उत्तर दिया, वह इस प्रकार है—तुम्हारा पत्र ...कर हर्ष और विषाद

दोनों हुए। हर्ष तो इसलिए हुआ कि इस पत्र में तुम्हारा कुशल-समाचार मिला, और विषाद इसलिए कि यह पत्र तुमने अङ्गरेज़ी में लिखा। क्या तुमने अङ्गरेज़ी में पत्र लिखकर मेरे दूध को कलङ्कित नहीं किया? क्या तुम अपनी मातृभाषा भूल गए? यदि हाँ, तब तो तुम अपनी माता को भी भूल सकते हो!

इस पत्र का प्रत्येक शब्द हृदय-पट पर लिख लेने योग्य है। पर इधर हमारे हिन्दुस्तानी भाइयों की अवस्था लेखनी से परे और बयान से बाहर है! उनके मन और मस्तिष्क पर .ग़ुलामी का अखण्ड साम्राज्य हो गया है। सच बात तो यह है कि राज-पाट छिन जाने से कोई जाति ग़ुलाम नहीं बन जाती, क्योंकि दास्य-वृत्ति का सच्चा सम्बन्ध दिल और दिमाग़ से है। खेद है कि हिन्दुस्तानियों ने बहुत अंश में अपनापन खो दिया है, और वे अन्य-देश, अन्य-भाषा, अन्य-आदर्श और अन्य-सभ्यता को स्वीकार कर परवशता की बेड़ी में बँध गए हैं।

मैंने सोचा—एकाध स्थानीय संस्थाओं से काम न चलेगा, देश-व्यापी जाग्रति की आवश्यकता है, और जाग्रति उत्पन्न करने तथा उसकी रक्षा के लिए एक समाचार-पत्र का होना अनिवार्यतः आवश्यक है। देशी-भाषा के अनेक पत्र निकल भी रहे थे। महात्मा जी का 'इण्डियन ओपिनियन' अङ्गरेज़ी और गुजराती में निकल ही रहा था, और उससे प्रवासी गुजरातियों को बड़ा लाभ होता था। श्री० एम० सी० अङ्गलिया के प्रयत्न से अङ्गरेज़ी और गुजराती में 'इण्डियन न्यूज़' निकलता था और यह पत्र सत्याग्रह-विरोधी

मुस्लिम-नीति का समर्थक था। श्री० दादा ओसमान का मासिक पत्र 'क्रेसण्ट' भी गुजराती भाषा का गौरव बढ़ा रहा था। मद्रासी भाइयों के भी दो पत्र थे—एक तो श्री० पी० एस० अय्यर का 'अफ्रिकन क्रोनिकल, और दूसरा श्री० सी० वी० पिल्ले का 'विवेक-भानु।' पहला एङ्ग्लो-तामिल दैनिक था, और पिछला था तामिल साप्ताहिक। एक हिन्दी ही ऐसी भाषा थी, जिसमें कोई पत्र-पत्रिका नहीं निकलती थी। सत्याग्रह के समय 'इण्डियन ओपिनियन' में जो दो पृष्ठ हिन्दी में छपते थे वह भी बन्द हो गए थे, और हाल ही में उसका जो 'सुनहरा अङ्क' (Golden Number) प्रकाशित हुआ था, उसमें अङ्गरेज़ी, गुजराती और तामिल अंश तो छपे, पर बेचारी हिन्दी को जगह नहीं दी गई थी। इससे मुझे बड़ी वेदना हुई और मैंने इसका खुल्लमखुल्ला विरोध किया।

मैंने हिन्दी-पत्र निकालने का विचार तो किया, किन्तु यह कुछ सहज काम नहीं था। इसमें केवल त्याग की ही नहीं, बल्कि काफ़ी धन की भी आवश्यकता थी। मैंने यह सोचकर कि उद्योग करने पर कौन सा कार्य सिद्ध नहीं होता है, ता० १६ जनवरी सन् १९१५ ई० को हिन्दी-प्रचारिणी सभा की विशेष बैठक की योजना की और सभा में अपना विचार प्रकट किया। वहाँ के लोगों को मेरी सेवाओं पर कुछ विश्वास जम गया था, इसलिए श्री० लालबहादुर सिंह, श्री० बन्धु गङ्गादीन इत्यादि मुख्य-मुख्य सज्जनों ने मेरे विचार का समर्थन किया, और यह आशा दिलाई कि वे सब प्रकार से सहायता और सहयोग करने को तैयार हैं। मेरा उत्साह बढ़ गया,

और मैंने नौकरी छोड़कर प्रचार-कार्य करना निश्चित कर लिया। पाठशाला का भार देवीदयाल पर छोड़ दिया, और स्वयं घर-घर अलख जगाने को निकल पड़ा !!

इस निश्चय के दूसरे ही दिन मैं सफ़ायाटोन पहुँचा। यह एक छोटी सी बस्ती है, और बहुत थोड़े हिन्दुस्तानी यहाँ बसते हैं। हबशियों की यहाँ अच्छी आबादी है और उनमें कई तो इज्जतदार और मालदार भी हैं। श्री० मणिशङ्कर महाराज के उद्योग से यहाँ सभा का प्रबन्ध हुआ, उसमें मैंने मातृभाषा की ओर लोगों का ध्यान खींचने की चेष्टा की। मैंने देखा कि हिन्दी-भाषियों में निज भाषा के प्रति कोई अनुराग नहीं है। कमाने-खाने के सिवाय और किसी बात की चिन्ता नहीं है। छोटे-छोटे बच्चे कुमार्गगामी बन रहे हैं; उनके कोमल कलेवर को कुविचार और कुसंस्कार के कीड़े खाए जाते हैं, पर इस ओर किसी का कुछ ख़्याल ही नहीं है।

वहाँ से २० जनवरी को मैं प्रिटोरिया गया। यद्यपि ट्रान्सवाल में सबसे बड़ा और सबसे वैभवशाली नगर जोहन्सबर्ग है, तो भी राजधानी होने का गौरव तो प्रिटोरिया को ही प्राप्त है। यह बोअर-जाति की परम-प्रिय नगरी है, और अब तो इसे दक्षिण अफ़्रिका सङ्घ (Union of South Africa) का केन्द्र होने का सौभाग्य प्राप्त हो गया है। नगर वर्त्तमान-युग के अनुसार .खूब साफ़-सुथरा है, लेकिन हिन्दुस्तानियों की बस्ती इतनी गन्दी है कि देखकर शर्म आती है। यह बस्ती शहर से अलग एक किनारे पर है, और एशियाटिक बाज़ार या इण्डियन लोकेशन के नाम से मशहूर है।

न सड़क अच्छी; न मकान अच्छे; न रोशनी का ठीक इन्तज़ाम और न सफ़ाई का कुछ ख़्याल है। इस बस्ती में हबशी और वर्ण-सङ्कर भी किराए के मकानों में रहते हैं, इससे वातावरण और भी अशुद्ध हो गया है। यहाँ के प्रवासी हिन्दुस्तानियों में मैंने मातृभाषा की जो दुर्गति देखी, उससे मेरा कलेजा काँप उठा। छोटे-बड़े सभी धारावाही रूप से डच-भाषा ऐसी बोलते कि मालूम पड़ता कि यह उनकी ही मातृभाषा है; किन्तु हिन्दी बोलने में उनको कुछ सङ्कोच मालूम पड़ता। हिन्दुस्तानी औरतें भी ख़ूब डच-भाषा बोलती हैं, इसलिए घरों में भी डच भाषा की छटा छिटक रही है। ऐसे स्थान पर मेरा एकाध व्याख्यान क्या काम करता। यहाँ ज़रूरत थी ऐसे सत्पुरुष की, जो स्थायी रूप से जमकर इनमें जीवन-परिवर्त्तनकारी ख़्याल पैदा करे।

वास्तव में प्रिटोरिया का दृश्य देखकर मेरे सामने अन्धकार छा गया, और मैं सोचने लगा कि यदि मातृभाषा की यही दुरवस्था रही, तो एक-दो पीढ़ी में यह पहिचानना भी कठिन हो जायगा कि ये लोग भी भारत की विस्मृत-परायण सन्तान हैं, और इन्हें भी हिन्दुस्तानी कहलाने में लज्जा आएगी। परिणाम यह होगा कि भारत अपनी इन सन्तानों से और ये लोग अपनी मातृभूमि की स्मृति से हाथ धोएँगे। अस्तु, यहाँ भी कुछ उत्साही पुरुषों के प्रयत्न से श्री० हीरासिंह के मकान पर सभा हो ही गई और मैंने अपना हृदय खोलकर सबके सामने रख दिया। धोबी-सभा के सभापति श्री० रल्लाराम का, जो एक पञ्जाबी आर्य-समाजी थे, भाषण

बड़े मार्के का हुआ और सार्वजनिक जीवन के प्राण-स्वरूप श्री० रामलाल मुल्लू ने यह प्रतिज्ञा की वे हिन्दी की एक पठाशाला खोलेंगे और उन्हें जो-कुछ थोड़ी-बहुत हिन्दी आती है, उसे यहाँ के बच्चों में बाँट देंगे, इससे मुझे सन्तोष हुआ।

प्रिटोरिया से प्रस्थित होकर मैं रूडीपोर्ट पहुँचा। इस नगर में प्रवासी-गुजराती रहते हैं। कुछ तो दूकानदारी करते हैं, और कुछ भाई फेरी का धन्धा। श्री० भगवान् देसाई और श्री० कृष्णजी देसाई ने मेरे उद्देश्य के प्रति सहानुभूति दिखाई; किन्तु मुझे यह अनुभव हुए बिना नहीं रहा कि गुजराती भाई यहाँ की स्थिति से कोई ख़ास सरोकार नहीं रखते। उनका यही लक्ष्य है कि जितनी जल्दी हो सके, पैसे कमाकर देश लौट जायँ। स्वदेश में भले ही सब-कुछ करें, लेकिन यहाँ कुछ करने-धरने का इरादा नहीं रखते। दान-शीलता की इनमें कमी नहीं है, और अनुभव ने मुझे बतलाया कि यहाँ गुजरातियों से बढ़कर दूसरा कोई वर्ग दानी नहीं है, किन्तु उन्हें व्यापार-सम्बन्धी कार्यों से इतना अवकाश नहीं मिलता कि यहाँ कुछ रचनात्मक कार्य भी कर जायँ। यदि आप उनके पास जाकर सहायता की याचना कीजिए, तो आपको ख़ाली हाथ लौटना न पड़ेगा; किन्तु इनमें एक विचित्र रिवाज यह है कि पहले वे आपको अपने मुखिया के पास जाने को कहेंगे और यदि मुखिया ने फ़हरिस्त पर सही बनाकर कुछ रक़म लिख दी, तो फिर दूसरा कोई आप से कुछ न पूछेगा। बस, सूची देखकर अपना चन्दा लिख देगा। हाँ, इतना ध्यान

वह अवश्य रक्खेगा कि चाहे काम कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो और उसकी आर्थिक स्थिति कितनी ही उन्नत क्यों न हो, किन्तु वह मुखिया की रक़म से कुछ घटाकर ही अपना चन्दा लिखेगा। पूछने पर कहेगा कि अगर मैं बराबर या बढ़ाकर चन्दा लिख दूँ, तो मुखिया का अपमान होता है। अवश्य ही यह नियम-पालन का एक नमूना है; परन्तु इसमें विवेक की कमी है। यदि मुखिया निर्धन है, तो बस उसी के सिर पर सब पार उतर गए। हिन्दू-धर्मशास्त्र में भी कहीं दान का ऐसा विधान नहीं पाया जाता। यह तो यहाँ के मुसलमान-सौदागरों का अनुकरण मात्र है।

क्रुगर्सड्रोप जाने पर भी मुझे यही अनुभव हुआ। यहाँ के गुजराती भाई साग-भाजी और फूल-फल की तिजारत करते हैं। श्री० जगुभाई देसाई ने मेरी कुछ सहायता की। प्रवासी-गुजरातियों में स्वदेश के प्रति अखण्ड प्रेम है। वे भारत को ही अपना घर समझते हैं, तथा अफ़्रिका को व्यापार करने का एक अड्डा मात्र। प्रत्येक गुजराती तीन वर्ष पर एकबार मातृभूमि का दर्शन करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता है, इसलिए वह भोग-विलास से विलग होकर धन-उपार्जन की चिन्ता में व्यग्र रहता है। इसके विपरीत हिन्दुस्तानी और मद्रासी नवयुवक 'खाने-पीने और मौज़ उड़ाने' के सिद्धान्त के परिपोषक हैं, इसलिए दोनों वर्ग की संस्कृति में बड़ा अन्तर पाया जाता है। एक बात और भी है, जितने गुजराती यहाँ आए हैं, वे सबके सब स्वतन्त्र-रूप से व्यापार करने

के लिए; किन्तु मद्रासी तथा हिन्दुस्तानियों में कोई विरला ही स्वतन्त्र-रूप से आया है, अधिकांश वे और उनकी सन्तान हैं, जो शर्तबन्धी लिखाकर आए थे। अतएव एक वर्ग में भारत की शुद्ध संस्कृति पाई जाती है और दूसरे वर्ग में अनेक संस्कृतियों का मिश्रण।

वहाँ से मैं फ्लोरिडा स्टेशन पहुँचकर गाड़ी से उतर गया और तीन मील पैदल चलने पर एक महाशय लच्छूसिंह मिले। इनके यहाँ ठहरकर मैं दूर-दूर तक चक्कर लगा आया। इस जङ्गल-यात्रा में बोअर-किसानों के जीवन का बहुत-कुछ परिचय मिला। बोअर-किसान सीधे-सादे होते हैं, उनमें अङ्गरेजों जैसा घमण्ड नहीं होता, इसलिए वे भारतीयों से मिलने-जुलने में कोई सङ्कोच नहीं करते। बड़ी सादी जिन्दगी विताते हैं, और ईमानदार होते हैं। साधारण किसानों का निर्धन होना तो मानो विधि का अटल विधान ही है, किन्तु इन बोअर-किसानों का जीवन इतना शान्तमय और आनन्दमय है कि देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। इन लोगों ने पत्थर चुन-चुनकर छोटे-बड़े मकान बनाए हैं, और बड़े मिहनती होते हैं। इनके बच्चे नङ्गे पैरों फिरते; इनकी औरतें मोटा वस्त्र पहिनने और कड़े से कड़ा काम करने में कोई हीनता नहीं मानतीं। ये किसान नगरवासियों की नाईं 'हाय टका' 'हाय टका' करके प्राण नहीं देते; बल्कि अपनी ज़मीन में खुली जगह पर प्राकृतिक आनन्द भोगते हैं। इनके धन हैं—गाय-बैल, भेड़-बकरी और मुर्गियाँ। इनसे उन्हें

अच्छी आमदनी भी हो जाती है। दाढ़ियाँ बढ़ाना इनका सनातन रिवाज है। हबशियों के लिए बोअर-किसान काल-रूप होते हैं। यदि किसी हबशी ने जरा भी बेअदबी कर दी, तो फिर उसके सिर पर शामत आए बिना नहीं रह सकती। उसे पहले वस्त्र उतरवा कर नङ्गा कर दिया जाता है, फिर मज़बूत रस्सी से गाड़ी में बाँध कर ऊपर से बोअर-सरदार की चाबुक की चपाचप चोट बैठने लगती है। जब चिल्लाते-चिल्लाते उस अभागे का गला सूख जाता है, तब उसे पानी नहीं, बल्कि छाछ पिलाते हैं और फिर कोड़े की करामात दिखाते हैं। जब तक वह अधमरा न हो जाय, तब तक चाबुक बराबर चटकती रहती है। अपढ़ और अज्ञानी होने पर भी इन बोअर-किसानों में देशभक्ति की उज्ज्वल ज्योति जगमगा रही है। प्रत्येक बोअर देश के लिए प्राण को तुच्छ समझता है। इनकी स्त्रियाँ मातृभूमि के लिए सब कुछ त्यागने को तैयार रहती हैं। और प्रजातन्त्र (Republic) के नाम पर बच्चों की भी नस-नस फड़क उठती हैं। यदि इनमें देशाभिमान के भाव भरे न होते, तो क्या मुट्ठी भर बोअर तीन साल तक ब्रिटिश-साम्राज्य से टक्कर ले सकते, और बोअर-वीराङ्गनाओं को अपने व्रत से विचलित करने के लिए अङ्गरेज़-सेनापति लॉर्ड किचनर को पाशविक प्रवृत्तियों से काम लेना पड़ता ? इन वीराङ्गनाओं की वीरता और कष्ट-सहिष्णुता देखकर ही 'रिव्यू ऑफ़ रिव्यूज़' के सम्पादक स्वर्गीय श्री० विलियम टी० स्टेड ने खुल्लमखुल्ला प्रार्थना की थी कि युद्ध में अङ्गरेज़ों की पराजय हो और स्वयं सम्राट्

एडवर्ड ने लॉर्ड किचनर को लिखा था कि यदि बोअर-जाति को दबाने का यही उपाय रह गया है, तो इसकी अपेक्षा मैं सन्धि को पसन्द कर लूँगा। आप युद्ध समाप्त कर दीजिए। इन्हें अङ्गरेजों से बड़ी घृणा है और ये हिन्दुस्तानियों को परम अङ्गरेज-भक्त समझते हैं।

बोअर-किसानों के जीवन की यह झलक देखकर मैं न्यू-क्रियर पहुँचा। यहाँ हिन्दुस्तानियों की घनी बस्ती है। श्री० दुखीशाह यहाँ के समझदार और मालदार मुखिया थे, किन्तु श्री० लालबहादुर सिंह से इनकी पटती नहीं थी, और सिंह जी मेरे आन्दोलन के एक स्तम्भ समझे जाते थे। अतएव इच्छा होते हुए भी मैं शाह जी से न मिल सका। मैं स्वीकार करता हूँ कि यह मेरी निर्बलता थी। यदि सिंह जी से शत्रुता थी, तो उससे मुझे क्या? मेरे लिए तो सभी बराबर होने चाहिए; किन्तु मुझमें इतना आत्म-बल नहीं था कि मैं सिंह-पार्टी की अप्रसन्नता की पर्वाह न करता। इसलिए यहाँ प्रचार का प्रबन्ध न हो सका, और कुछ लोगों की व्यक्तिगत सहानुभूति पर सन्तुष्ट होकर बेनोनी चला गया।

बेनोनी में भी शहर के बाहर 'इण्डियन-लोकेशन' बसा हुआ है, जिसमें हिन्दुस्थानी भाई अच्छी तादाद में रहते हैं। कोई दूकान चलाता, कोई फेरी फिरता है और कोई नौकरी करता है। यहाँ कुछ पञ्जाबी भाई भी रहते हैं, जिनमें श्री० लक्ष्मणदास के अन्दर जन-सेवा की कुछ प्रवृत्ति पाई जाती है। इन्हीं के उद्योग से यहाँ हिन्दी का प्रचार किया गया।

वहाँ से बोक्सबर्ग जाने पर 'लोकेशन' का दृश्य फिर नेत्रों के सामने आया और हृदय से दुःख की आँधी उठने लगी। यहाँ के लोकेशन भारत के अछूत-टोले के रूपान्तर और नामान्तर मात्र हैं। यहाँ दो लोकेशन देखने में आए, और दोनों जगह हिन्दुस्तानी बसे हुए थे। यहाँ के भारतीय भी धर्म-कर्म की अपेक्षा नगद-नारायण की अधिक पूजा करते हैं। मैं जगह-जगह जाकर जो अनुभव प्राप्त कर रहा था, उससे मेरा कार्य-क्रम और भी सङ्कटपूर्ण होता जाता था। हिन्दुस्तानी और मद्रासी युवकों में देश, धर्म या भाषा का कोई अनुराग देखने में न आता। विदेशी वेश और विदेशी बोली के बादलों में उनका सच्चा स्वरूप ही छिप गया था; और उनका जीवन एक ऐसे साँचे में ढल रहा था, जिसका भारतीय संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं। यहाँ श्री० गोपालभाई देसाई और श्री० जगुभाई देसाई के प्रयत्न से हिन्दी का प्रचार हुआ। पाठकों ने शायद यह ध्यान दिया होगा कि जहाँ-जहाँ मेरे जाने पर सभा और सहायता की व्यवस्था हु ई, वहाँ-वहाँ अधिकांश में गुजराती भाइयों के उद्योग से। हिन्दुस्तानियों को हम उस शरीर की उपमा दे सकते हैं, जिसकी आत्मा कूँच कर चुकी हो।

ट्रान्सवाल-यात्रा के अन्त में मैं अपनी प्यारी जन्मभूमि जोहन्सबर्ग में पहुँचा। यहाँ श्री० रामदयाल सिंह के प्रयत्न से हिन्दी का थोड़ा-बहुत प्रचार हुआ। स्टार पिक्चर-पेलस के मालिक मित्रवर मि० डी० मोरगन ने मुझे बायस्कोप की एक रात की आमदनी देने की प्रतिज्ञा की और मेरे सुभीते के

अनुसार २४ फरवरी को 'लाभान्वित रात्रि' (Benefit Night) निश्चित की गई। उस रात को माननीय स्वर्गीय गोखले का जोहन्सबर्ग में शुभागमन और स्वागत का जो दृश्य बायस्कोप में दिखलाया गया, उसे देखकर उनकी स्नेहमयी स्मृतियाँ सबके हृदय में जाग उठीं और सबकी आँखों से आँसू बह चले। दर्शकों की ऐसी भीड़ थी कि हॉल में तिल रखने की भी जगह नहीं बची थी। पोलक साहब और श्री० थम्बी नायडू की उपस्थिति से हिन्दी-प्रेमियों का उत्साह बहुत बढ़ गया था। मोरगन महाशय ने खर्च काटकर तमाशे की आमदनी मुझे दे दी, और एक मद्रासी मित्र की यह भेंट मेरे लिए बड़े महत्व की वस्तु थी।

बस, ट्रान्सवाल के मुख्य-मुख्य स्थानों का भ्रमण कर ९ मार्च सन् १९२५ ई० को मैंने अपनी पत्नी और पुत्र के साथ जर्मिस्टन से डरबन के लिए प्रस्थान कर दिया। जर्मिस्टन के उत्साही भाइयों ने उस दिन जिस प्रेम से मुझे विदा किया, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। देवीदयाल सपत्नीक वहीं रह गए और मैंने हिन्दी-प्रचार के लिए डरबन को केन्द्र बनाना उचित समझा; क्योंकि समस्त दक्षिण अफ्रिका में डेढ़ लाख हिन्दुस्तानी हैं, जिनमें एक लाख तीस हज़ार नेटाल-प्रान्त में बसते हैं। डरबन पहुँचकर मैं बहिन राजदेवी के मकान पर ठहरा और प्रचार की पद्धति सोचने लगा। यहाँ की अवस्था ट्रान्सवाल से बिलकुल भिन्न थी। सिकौलेक में बाबू कुञ्जबिहारीसिंह एक रात्रि-पाठशाला खोलकर कुछ बच्चों को हिन्दी पढ़ा रहे थे। ओवरपोर्ट की रामायण-सभा की ओर से भी

एक हिन्दी रात्रि-पाठशाला खुली थी। मैनिङ्ग प्रेस की हिन्दी जिज्ञासा-सभा हिन्दी-प्रचार के लिए यथेष्ट उद्योग कर रही थी। हाल ही में भारत से पढ़कर श्री० दशरथ पाण्डेय आए थे, और वे मेरीत्सबर्ग में हिन्दी-राष्ट्रीय पाठशाला खोलने का यत्न कर रहे थे। हाविक में भी श्री० मक्खनसिंह इत्यादि के उद्योग से नागरी पाठशाला का श्रीगणेश हो चुका था।

नेटाल में हिन्दी-प्रचार

२१ मार्च को क्लेर-स्टेट रामायण-सभा की ओर से एक सार्वजनिक सभा बुलाई गई, जिसमें मैंने नेटाल-प्रान्त में हिन्दी-प्रचार की आवश्यकता पर पहला व्याख्यान दिया। ट्रान्सवाल की सभाओं में कहीं हवन-प्रार्थना इत्यादि धार्मिक-कृत्य देखने में नहीं आए थे, किन्तु इस सभा में लेक्चरबाज़ी प्रारम्भ होने से पहले ही श्री० जयनारायण महाराज ने वैदिक-विधि से हवन कराया। सभा के प्रधान श्री० बालकिशोर महाराज थे, किन्तु इस विशेष अवसर के लिए श्री० आर० जी० भल्ला सभापति चुने गए। मुझे एक छपा हुआ अभिनन्दन-पत्र दिया गया, जिसे मैंने नेटाल के प्रथम आशीर्वाद के रूप में ग्रहण किया। सभा के मन्त्री श्री० भगवानदीन का धर्मानुराग और सार्वजनिक कार्य में लगन देखकर मुझे सचमुच इनकी सहायता का लालच उत्पन्न हुआ,

और अन्य नवयुबकों के उत्साह ने भी मुझपर बड़ा प्रभाव डाला। एस० महावीर, भगवानदीन, बालकिशोर महाराज, रामहरी, परमानन्दसिंह, जी० मेढ़ई, हीरासिंह, डी० लक्ष्मण, बोधसिंह, कँधई परवार, रोधनसिंह, रघुवीर इत्यादि क्लेर-स्टेट में बसने वाले महाशयों में मातृभाषा के लिए प्रेम और सेवा-कार्य के लिए आकांक्षा देखकर मेरे हृदय में यह ख्याल पैदा हो आया कि यदि यहीं पर हिन्दी-आश्रम बने तो कैसा ? इसी ख्याल की अन्त में विजय भी हुई। इस सभा में श्री० दशरथ पाण्डे का व्याख्यान बहुत अच्छा हुआ, और श्री० मेहरचन्द ने एक निबन्ध पढ़ा, जिसमें भूत और वर्त्तमान अवस्था का चित्र खींचकर मुझसे अनुरोध किया गया था कि मैं हिन्दुओं के सुधार के लिए उसी मार्ग का अवलम्बन करूँ, जिसपर पहले के कार्यकर्त्ता चल चुके हैं। सत्य बात तो यह है कि मेरे सामने बहुत से विषय रक्खे गए, जिनपर स्थिर-चित्त से विचार करना तो मेरी शक्ति के बाहर की बात थी। मेरे सामने केवल एक ही कार्य था और वह था हिन्दी-भाषा का प्रचार। इस सम्बन्ध में वक्ताओं ने जो कुछ कहा, उससे मुझे अपना कार्यक्रम बनाने में सहायता मिली।

दूसरी सभा २८ मार्च को क्षत्रिय वंश-सुधार सभा के प्रयत्न से सिडनम में हुई। वृष्टि हो रही थी, तो भी लगभग ३०० मनुष्य एकत्र हो गए। यद्यपि सभा में अनेक योग्य विद्वान् पधारे थे, तो भी श्री० द्वारिकाशाह को सभापति के आसन पर बैठा दिया गया। इनमें न वक्तृता देने की शक्ति थी, न सभा-सञ्चालन

की योग्यता और न सार्वजनिक जीवन में कोई स्थान था। इससे मेरे हृदय में एक ठेस लगी, और मैंने सोचा कि क्या यहाँ लक्ष्मी के लालों के सम्मुख सरस्वती के सपूतों का कोई महत्व ही नहीं है। श्री० एम० विदेशी महाराज, श्री० जी० डी० लाला, श्री० दीपनारायण सिंह, श्री० दशरथ पाण्डे इत्यादि के भाषण समयोचित और प्रसङ्गानुकूल हुए। मैंने जो व्याख्यान दिया, मैं समझता हूँ कि उसका अच्छा ही प्रभाव पड़ा होगा, क्योंकि उसी समय हिन्दी-राष्ट्रीय सभा की स्थापना हो गई। इसके अधिकारी भी बड़े सुयोग्य सज्जन चुने गए, जैसे—डिपोरोड गवर्नमेण्ट इण्डियन स्कूल के हेडमास्टर श्री० आनन्दराय सभापति और अङ्गरेजी के प्रसिद्ध लेखक श्री० मातावदल विदेशी महाराज तथा हिन्दी के विद्वान् श्री० दशरथ पाण्डे मन्त्री चुने गए। डरबन तथा उसके आस-पास का काम सभा पर छोड़कर मैंने अन्यत्र जाने का विचार किया।

मैं समुद्र के उत्तर तटवर्ती डफ़सरोड तथा पिनिक्स गया। वाटल-कम्पनी के कार्यकर्त्ता श्री० बी० वी० महतो ने क्लेर-स्टेट की अपनी आधा बीघा जमीन इस शर्त पर दे दी कि उसी में हिन्दी-आश्रम बनाया जाय। 'इण्डियन ओपिनियन' के तत्कालीन सञ्चालकों ने मुझे अपने पत्र द्वारा सहायता पहुँचाने का अभिवचन दिया। यहाँ से मैं वेरलम जाकर श्री० तालवन्तसिंह से मिला। इन महाशय के विशेष प्रयत्न से यहाँ एक हिन्दू-मन्दिर बना हुआ है, जो नेटाल भर में अपने ढङ्ग का अनोखा है। इनके

पुत्र श्री० रविकृष्णसिंह सत्याग्रह के सिपाही भी बन चुके थे। इनकी औक़ात अच्छी थी, और बुद्धि भी अच्छी; लेकिन हिन्दी-प्रचार के आन्दोलन में आपने कोई उत्साह नहीं दिखाया। आपने हिन्दी-प्रचार के लिए जो कुछ प्रदान किया, वह इतनी छोटी रक़म थी कि उसे ग्रहण करते हुए भी मुझे सङ्कोच मालूम पड़ा। मेरे सामने धनवानों की मनोवृत्ति का यह एक नमूना था। मैं बहुत हताश हुआ और सोचने लगा कि यदि यहाँ के धनवानों का मातृ-भाषा के प्रति यही उत्साह है, तो फिर मेरे सङ्कल्पित कार्य का बेड़ा कैसे पार होगा। यह मैंने अवश्य कहीं पढ़ा था कि संसार में निर्धन मनुष्यों के पास ही विशाल हृदय होते हैं, और उन्हीं के सहयोग से महत्कार्यों की पूर्ति होती है। इस भावना से मुझे कुछ ढाढ़स हुआ, क्योंकि सत्याग्रह के संग्राम में मुझे इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी हो चुका था। दैवयोग से उसी समय मुझे पारसी होरमस जी और श्री० जूठासोनी मिल गए। गुजरात-प्रान्त के यह दोनों महाशय ग़रीब थे, किन्तु इनके पास ऐसे दिल थे, जो अच्छे कामों के लिए आगे बढ़ने में कभी तीन-पाँच नहीं करते। इन भाइयों के साथ मैं उन किसानों के पास गया, जो शहर से बाहर बसे हुए थे। गन्ने की खेती की बदौलत इनकी आर्थिक अवस्था बहुत उन्नत हो गई थी, किन्तु इनमें अधिकांश किसान ऐसे भोले-भाले थे कि उन्हें संसार की प्रगति का बहुत थोड़ा ज्ञान था। मुझे यह लाभ अवश्य हुआ कि इस वर्ग के भारतीय किसानों से मिलने का संयोग मिल गया।

वेरलम से कुछ दूरी पर टोङ्गाट है। यहाँ मैं जूठाभाई के साथ पहुँचा। यहाँ भी एक गुजराती श्री० देवचन्द ब्रॉदर्स के घर पर मेरा आदर-सत्कार हुआ, और कुछ सहायता भी प्राप्त हो गई। यहाँ तक के अनुभवों से आगे बढ़ने की इच्छा नहीं हुई, यद्यपि यह मेरी ग़लती थी, क्योंकि आगे बढ़ने पर मुझे कम से कम डारनल में दानशील श्री० रामप्रताप और न्यूगालडरलैण्ड में श्री० बोधासिंह ब्रॉदर्स से मुलाक़ात तो हो जाती, किन्तु मैं उत्तर तीरवर्ती (North Coast) में केवल डफ़सरोड, फिनिक्स, वेरलम और टोङ्गाट देखकर दरबन लौट आया। दरबन पहुँचकर क्या देखता हूँ कि मेरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो हिन्दी-राष्ट्रीय सभा जन्मी थी, वह मौत की सेज पर सोई हुई है और उसकी खोज-ख़बर लेने वाला कोई नहीं है। मेरा दिल दहल उठा, और आशाओं पर मानो तुषार पड़ गया। इस दुर्दिन में भी अगर मुझे सन्तोष था, तो केवल अपनी सङ्कल्प की पवित्रता पर। अतएव मैंने यही निश्चय किया कि अब धनवानों और विद्वानों की आशा छोड़कर मजदूरों का आश्रय लेना चाहिए, और उनकी सोई हुई शक्ति को जगाना चाहिए।

मैं दरबन से रवाना होकर सीधा नेटाल के सिवान पर पहुँचा। इस स्थान का नाम चार्लिस्टन है। यह न कोई नगर है, न बड़ी बस्ती; लेकिन इतिहास में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। यहीं पर मजूबा की पहाड़ियाँ मेरे देखने में आईं, जिन्हें देखकर एक बार दक्षिण अफ़्रिका का ऐतिहासिक चित्र मेरी दृष्टि के सामने उपस्थित हो गया।

पाठक, क्या आप भी उस चित्र का दर्शन करना चाहते हैं ? यदि हाँ, तो हिन्दी-प्रचार का वर्णन आगे के लिए छोड़कर यहाँ मेरे साथ दक्षिण अफ्रिका के मनोरञ्जक इतिहास के कुछ पन्ने उलटिए।

दक्षिण अफ्रिका का पता लग जाने पर भी यह बहुत दिनों तक उजाड़ पड़ा रहा। केवल योरोप से एशिया आने-जाने वाले जहाज़ों के लिए रसद्-पानी का एक अड्डा-मात्र था सन् १६५२ ई० में हॉलैण्ड और जावा इत्यादि से कुछ बोअर-प्रवासी केप-प्रान्त में आ बसे और वे अपने साथ मलाई गुलाम भी लाए। डेढ़ सौ वर्ष के अथक परिश्रम से बोअरों ने केप-प्रान्त को आबाद कर डाला। विधि-विडम्बना से सन् १७९५ ई० में योरोप की राजनीतिक स्थिति में कुछ उथल-पुथल हो गया, और युद्ध में फ्रान्स ने हॉलैण्ड को परास्त कर दिया। हॉलैण्ड वालों ने अङ्गरेजों को अपना मित्र जानकर केप-प्रान्त की रक्षा के लिए प्रार्थना की। बस, मैदान खाली पाकर उसी साल केप पर ब्रिटेन के राजा जॉर्ज का अधिकार जम गया। बोअरों में स्वाधीनता की भावना बड़ी ज़बरदस्त थी, इस आकस्मिक अङ्गरेज़ी अधिकार पर उन्हें बड़ा दुःख हुआ, और वे समाहत हो उठे। जैसे-तैसे उन्होंने कुछ दिन बिताए, किन्तु अन्त में उन्हें अङ्गरेज़ी-प्रजा बनकर रहना असह्य हो गया। अपनी ज़मीन-जगह, घर-बार और खेती की सारी चीजें मुफ़्त फेंककर सन् १८३७ ई० में लगभग दस सहस्र बोअर ब्रिटिश-राज्य की सीमा से बाहर हो गए और नई जगह की खोज में आगे बढ़े।

उस समय नेटाल के बन्दरगाह पर, जहाँ इस समय डरबन शहर बसा हुआ है, मुट्ठी भर अङ्गरेज रहते थे, और उनकी बड़ी इच्छा थी कि यह प्रान्त ब्रिटिश-सरकार के अधीन हो जाय। इसके लिए उन्होंने केप के गवर्नर के पास अनेक अर्जियाँ भेजीं, किन्तु बार-बार यही उत्तर मिलता गया कि केप की आर्थिक अवस्था इतनी अच्छी नहीं है कि नेटाल को उसका उपनिवेश बनाया जा सके। नए देश की खोज में निकले हुए बोअर-प्रवासी जब नेटाल में पहुँचे, तो इसे अङ्गरेजी अमल से अछूता पाया। अतएव उन्होंने हबशियों से बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़कर नेटाल पर दखल जमाया और वहाँ बसे हुए अङ्गरेजों को मिलाकर 'नेटाल-प्रजातन्त्र' क़ायम किया। शहर बसने लगे, बड़े-बड़े पैमाने पर खेती होने लगी, और तरह-तरह के व्यापार खुल गए। जब नेटाल उन्नति की ओर कुछ अग्रसर हुआ, तो सन् १८४३ ई० में यहाँ अङ्गरेजी फ़ौज आ धमकी और यह घोषणा हो गई कि नेटाल अङ्गरेजी राज्य के अन्तर्गत है। इस ज़िन्दाबाद पर बोअर बड़े बिगड़े। छोटी-मोटी लड़ाइयाँ भी हुईं, लेकिन अन्त में बोअरों ने नेटाल-प्रान्त भी अङ्गरेजों के लिए छोड़ दिया, और अपना आबाद घर बर्बाद कर एक ऐसे नए देश की खोज में फिर निकल पड़े, जहाँ कि वे स्वाधीनता के वायुमण्डल में साँस ले सकें। कैसा वीरोचित साहस था? टुगेला नदी बढ़ी हुई थी; वर्षा की ऋतु थी और नदी की बाढ़ कम होने पर आगे बढ़ने की आशा से सैकड़ों बोअर-परिवार वहाँ डेरा जमाए हुए थे। उनका यह साहस देखकर तत्कालीन ब्रिटिश-

गवर्नर दङ्ग हो गए और उनसे नेटाल लौट चलने के लिए बड़ी विनती की; किन्तु अधिकांश बोअर फिर अङ्गरेजी-राज्य में न लौटे और फ्री-स्टेट तथा ट्रान्सवाल के हबशियों से लड़-भिड़कर उन्होंने वहाँ अपने प्रजातन्त्र की स्थापना की। जब ट्रान्सवाल सब प्रकार से निष्कण्टक हो गया, तब सन् १८७७ ई० में वहाँ भी अङ्गरेज़ी झण्डा फहराने लगा। इस बार बोअरों ने व्यवस्थित आन्दोलनों से काम लेना उचित समझा। उन्हें बड़ी आशा थी कि विलायत वालों को हमारी स्थिति का सारा रहस्य मालूम होने पर अपने अधिकारियों की इस नीति का अवश्य प्रतिवाद करेंगे, और हमारा प्रजातन्त्र हमें लौटा देंगे। अतएव उन्होंने विलायत को शिष्ट-मण्डल भेजे और अपनी स्वाधीनता के लिए बार-बार प्रार्थनाएँ कीं; किन्तु सब व्यर्थ हुआ। ब्रिटिश-हाई कमिश्नर ने यहाँ तक कहा कि जब तक आकाश में सूर्योदय होता रहेगा, तब तक ट्रान्सवाल में ब्रिटिश-अधिकार रहेगा। इस बात से बोअर लोग और जल उठे, और उन्होंने क्रूगर, जौबर्ट, प्रिटोरिया इत्यादि के नेतृत्व में युद्ध की घोषणा कर दी।

मजूबा की पहाड़ी पर ही अन्तिम लड़ाई हुई थी। यहीं पर जब बोअर-जनरल जौबर्ट ने नेटाल के तत्कालीन छोटे लाट और सेनापति सर जॉर्ज कोलिन को सेना-सहित मार गिराया, तब अङ्गरेजों ने उनकी वीरता पर प्रसन्न होकर 'ट्रान्सवाल-प्रजातन्त्र' को स्वीकार कर लिया। यह पहाड़ी साम्राज्यवाद पर प्रजातन्त्र की

विजय की साक्षात् साक्षी है, और साथ ही यह याद दिलाती है कि राजनीतिक मामलों में अङ्गरेज लोग भिक्षा-वृत्ति वालों से घृणा के सिवाय और कुछ सहानुभूति नहीं रखते। वे वीर हैं, इसलिए बोअरों की वीरता की क़द्र कर सकते हैं। खैर, इसी मजूबा का बदला प्रसिद्ध अङ्गरेज-बोअर-युद्ध में चुकाया गया था। सन् १९०० ई० में जिस दिन मजूबा की बर्षी थी, उसी दिन लॉर्ड रॉवर्ट ने बोअर-जनरल क्रोञ्जे को परास्त कर शरणागत बनाया था, और बड़े अभिमान से महारानी विक्टोरिया को तार दिया था कि आज मजूबा का बदला चुका लिया गया।

इस प्रकार मजूबा के दर्शन से स्वतन्त्रता की मानस-वाटिका में विचरण करते हुए ज्यों ही मैंने चार्लिस्टन में प्रवेश किया, त्यों ही मुझे अपनी जाति की पराधीनता का अनुभव हो गया। एक मद्रासी पुलिस-कॉन्स्टेबिल से मुलाक़ात हो गई। उसने सिपाहियाने ढङ्ग से तुरन्त पूछा—आपका 'पास' कहाँ है?

इस सवाल से मैं मर्माहत हो गया और मुझे अमेरिका के उन हब्शी-गुलामों का स्मरण हो आया, जो अपने स्वामी के आज्ञापत्र बिना एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकते थे। मन में प्रश्न उठा—तो क्या मैं भी गुलाम हूँ?

विश्लेषण करने पर उत्तर मिला—जब तुम्हारी सारी जाति ही गुलामी की जञ्जीर में जकड़ी हुई है, तब तुम हो किस खेत की मूली?

खैर, मैंने अपने सिपाही भाई को समझाया कि मेरे पास

'पास' नहीं है, और मुझे बिना 'पास' के ही नेटाल में निवास करने का अधिकार है, किन्तु वह कहाँ मानने वाला ? सरकारी वर्दी में कुछ ऐसा जादू है, जो देश और देशवासियों के ममत्व को विस्मृति की गहरी खाईं में गड़वा देता है। उसने गरम होकर कहा—तुमको बिना 'पास' के नेटाल में निवास करने का अधिकार होगा, किन्तु इस समय तो तुम्हें मेरे साथ थाने पर जरूर चलना होगा।

उस समय मुझे 'टामकाका की कुटिया' में वर्णित लेग्री साहब के ग़ुलाम साम्बो और कुइम्बो की याद हो आई और अधिक बत-बढ़ाव करना अनुचित समझकर मैं उसके साथ थाने पर चला गया। थानेदार ने पूछा—अगर 'पास' नहीं है, तो नेटाल में किसकी आज्ञा से रहते हो ?

मैंने जवाब दिया—गृह-सचिव राइट ऑनरेबल फ़िशर साहब की आज्ञा से।

थानेदार ने टेलीफ़ोन उठाकर बॉल्क्रस्ट के इमिग्रेशन-अफ़सर से मेरे सम्बन्ध में पूछताछ की और वहाँ से माकूल जवाब पाकर मेरी रिहाई कर दी। इस 'पास' की बला से छुट्टी पाकर मैं हिन्दुस्तानियों की बस्ती में गया और भुजईराम, बिहारी इत्यादि भाइयों की सहायता से हिन्दी का प्रचार किया। यहाँ कुछ हिन्दुस्तानी भाई केवल खेती करते थे, और वह भी मकई, जोन्हरी इत्यादि की। इसलिए इनकी आर्थिक अवस्था कुछ अच्छी नहीं थी। शिवनारायण-पन्थियों की यहाँ भारी 'सङ्गत' थी और उसके महन्त भुजईराम थे।

वहाँ से मैं न्यूकासिल पहुँचा। यह नगर विलायत के ड्यूक ऑफ़ न्यूकासिल के नाम पर बसा है, जो सन् १८५२ और १८५९ ई० में औपनिवेशिक सचिव थे। नगर के निकट ही इङ्गण्डू नदी है इस ज़िले में भेड़ें बहुत पाली जाती हैं, और ऊन काफ़ी तादाद में मिलता है। आस-पास कोयले की अनेक खानें हैं। नगर और खानों में भारतीयों की अच्छी संख्या थी, और सन् १९१३ ई० में भारतीय हड़ताल का श्रीगणेश यहीं से किया गया। ईसाई-मिशन की ओर से एक पाठशाला भी थी, किन्तु मातृभाषा की ओर किसी का कुछ ख़्याल नहीं था। देहात में रहने वाले हिन्दुस्तानी बच्चे हब्शी-भाषा के प्रेमी थे, और नगर के नवयुवक अङ्गरेजी भाषा के। पुराने लोग अलबत्ता अपनी टूटी-फूटी हिन्दी को अपनाए हुए थे; किन्तु वे बेचारे इस संसार में अब मेहमान ही कितने दिन के थे? यहाँ श्री० सोनपाल, रूपपाल, ब्रजमोहन इत्यादि कुछ आर्य-समाजी विचार के सज्जन भी मिले। इनमें मातृभाषा का कुछ प्रेम और इनके घर में महर्षि दयानन्द-प्रणीत कुछ हिन्दी-ग्रन्थ देखने में आए। इस नगर में मेरे कई व्याख्यान हुए, और अन्त में हिन्दी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना हो गई। श्री० खड्गधारीसिंह और डॉक्टर के० डी० जोशी के साथ मैंने न्यूकासिल, फ़यर्ली, बरेली, बैलेङ्गीच इत्यादि खानों के बारकों में भी जाकर हिन्दी-भाषा का प्रचार किया। मैं न्यूकासिल से २० मील की दूरी पर इन्बबान में बाबू लखराजसिंह के मकान पर गया, और वहाँ ठहरकर कृषक-जीवन का बहुत-कुछ अनुभव प्राप्त किया। बहुत से

हिन्दुस्तानी इन जङ्गलों में घूम-घूमकर चमड़े, अण्डे, मुर्ग़ी इत्यादि ख़रीदते फिरते हैं, और फिर शहर में बेचकर अच्छा मुनाफ़ा उठाते हैं। यहाँ से बाबू लखराजसिंह की घोड़ा-गाड़ी पर मैं यूट्रेक तक गया। यह स्थान पहले ज़ुलूलैण्ड के अन्तर्गत था, किन्तु एक ज़माने में बोअरों ने हबशियों को परास्त कर यहाँ पर 'नवीन प्रजातन्त्र' की स्थापना की थी। यहाँ भी कोयले की खान है, जिसमें बहुत से हिन्दुस्तानी भाई काम करते थे। श्री० गङ्गादीन महाराज और श्री० कुन्दनलाल महाराज के उद्योग से मज़दूर-भाइयों में हिन्दी का प्रचार किया गया। इस यात्रा में मुझे नेटाल का वह भाग, जो रेलवे-लाइन से बहुत दूर है, देखने का तथा जङ्गल में मङ्गल करने का अच्छा अवसर हाथ लगा। पाठक जान गए होंगे कि मैं ख़ुद एक जङ्गली आदमी हूँ, इसलिए मुझे नगर की अपेक्षा जङ्गल का जीवन स्वभावतः प्रिय मालूम होता है। जो आनन्द मुझे पहाड़, जङ्गल, खेत, नदी, नाले, झील, इत्यादि देखने में आता है, वह शहर की बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं को देखने में नहीं। इसे मनुष्य-स्वभाव की विचित्रता ही समझनी चाहिए।

न्यूकासिल से यूट्रेक तक का चक्कर लगाकर मैं डेनहौसर पहुँचा। यह बस्ती डेनहौसर साहब के नाम पर बसी है। यहाँ रेलवे का स्टेशन और पुलिस का थाना है, तथा आसपास कोयले की कुछ खानें भी हैं। हर्ष की बात है कि इस बस्ती के मुख्य भाग के मालिक हिन्दुस्तानी हैं, और उनके नाम हैं भवानीराम, बद्रीराम, गुरुदीनराम और शेख़ अमीर। इन्हीं लोगों ने स्टेशन के आसपास की सारी

ज़मीन ख़रीद ली और बहुत से मकान बनवाए हैं, जिनमें किराएदार रहते हैं। इनकी यह जमीन गोरों की आँखों की किरकिरी है। उस समय यहाँ श्री० धनेश्वरराय रहते थे। यह महाशय हिन्दी-प्रेमी और मिलनसार थे। श्री० रूपसिंह भी मातृभाषा के बड़े प्रेमी थे। भवानीदास का तो कहना ही क्या ? वयोवृद्ध होते हुए भी उन्हें प्रत्येक अच्छे काम में आगे देख लीजिए। सत्याग्रह के युद्ध में कारावास भी भोग आए थे। श्री० विन्ध्येश्वरी महाराज, श्री० महावीर महाराज, श्री० शिवभजन महाराज, श्री० विष्णुदयाल चौधरी इत्यादि सज्जनों ने मातृभाषा-प्रचार के लिए अटल प्रतिज्ञा की। डेनहौसर में बड़े उत्साह से हिन्दी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना हुई और साथ ही हिन्दी-पाठशाला भी खुल गई। बहुत से बच्चे मातृभाषा पढ़ने लगे। सच पूछिए तो इस इलाक़े में डेनहौसर हिन्दी-प्रचार का केन्द्र बन गया। आवश्यकता के अनुसार मैं यहाँ बार-बार आता रहा, और आसपास की खानों में भी हिन्दी का प्रचार करता रहा। दुख के साथ यह भी कह देना आवश्यक है कि यहाँ मुट्ठी भर मनुष्यों ने इस पवित्र आन्दोलन के विरुद्ध विद्रोह का झगड़ा खड़ा किया, और इस दल के मुखिया श्री० गुरुदीनराम बने। असली बात यह है कि गुरुदीनराम का सभा के कुछ कार्यकर्त्ताओं से बहुत पुराना मतभेद था, और उस द्वेष का भयङ्कर रूप सार्वजनिक कार्यों में प्रकट हुआ करता था। ख़ैर, उनके विरोध के प्रताप से सभा का प्रभाव बढ़ता ही गया—कुछ घटा नहीं।

यहाँ से आगे बढ़ने पर मुझे हाटिङ्गस्प्रुट मिला, और यहीं पर श्री० जीवनराम से मेरी मुलाक़ात हुई। यह महाशय पहले लेडिस्मिथ में रहते थे; किन्तु आर्य-समाजी हो जाने के कारण पुरातन-जात और सनातन-समाज से बहिष्कृत किए गए। इस दुर्व्यवहार से दुखी होकर अपना सारा परिवार और घरबार छोड़कर जीवनराम हाटिङ्गस्प्रुट में आ बसे। वे साग-भाजी की खेती करते थे, और उसीसे बाल-बच्चों का निर्वाह होता था। जीवनराम स्थान-परिवर्त्तन के कारण बहुत निर्धन हो गए थे, किन्तु धर्म के लिए कष्ट सहने के कारण उनमें विलक्षण शक्ति का प्रादुर्भाव हो आया था। मातृभाषा पर इनका अनुपम अनुराग था। इनके घर में धार्मिकता की जो झलक मैंने देखी, उससे मेरा हृदय गद्गद हो गया। जीवनराम की अपेक्षा उनकी धर्मपत्नी अधिक धर्मिष्ठ और कष्टसहिष्णु थीं। इन्हीं के घर पर ठहरकर मैंने सञ्जोजिस, ग्लङ्को, न्यूसाइन, न्यूशॉप, नोर्वगेशन इत्यादि अनेक खानों का पर्यटन और भारतीय मज़दूरों में हिन्दी का प्रचार किया। जीवनराम अपना काम-धन्धा छोड़कर बराबर मेरे साथ रहे। मज़दूर-परिवार की जीवन-गति का मैं बराबर निरीक्षण करता रहा, और मुझे सबसे अधिक दुःख यह देखकर हुआ कि अङ्गरेज़ पूँजीपति उनके परिश्रम की कमाई से गुलछर्रे उड़ाते हैं, और कम से कम उनके छोटे-छोटे बच्चों की शिक्षा के लिए एक पैसा भी व्यय करना उचित नहीं समझते। इन्हीं खानों में से एक में मुझे श्री० गणपतसिंह मिले। इनके धार्मिक विचार तो आर्य-सामाजिक थे,

किन्तु इनका परिवार अङ्गरेजी भाषा का अन्धभक्त जान पड़ा। इनके घर में इनकी पत्नी और केवल एक पुत्री थी। दोनों माँ-बेटी आपस में अङ्गरेजी बोलतीं, और गणपतसिंह भी उनसे अङ्गरेजी में ही बातचीत करते। सबको थोड़ा-बहुत हिन्दी बोलना आता था; लेकिन इस विचार से शायद अङ्गरेजी घर की भाषा बना दी गई थी कि अपढ़ मजदूर यह समझ लें कि यह परिवार उनके रहन-सहन, बोली-भाषा इत्यादि से बिलकुल भिन्न है, और गोराङ्ग-प्रभु भी इस परिवार को कुली-श्रेणी से भिन्न और उच्च समझें। यह नेटाल के कुछ शिक्षितों की मनोवृत्ति का दृष्टान्त है। इस विषय पर मैंने गणपतसिंह को बहुत समझाया, और उनसे यह प्रतिज्ञा करा ली कि भविष्य में वे मातृभाषा की ही घर में पूजा करेंगे। इस देहात में प्रचार का फल यह हुआ कि हाटिङ्गस्प्रुट में हिन्दी-प्रचारिणी-सभा बन गई और श्री० जीवनराम के घर पर हिन्दी-पाठशाला भी खुल गई।

यहाँ से मैं ग्लङ्को जङ्कशन गया। स्टेशन के समीप ही छोटी सी बस्ती है, किन्तु आसपास कोयले की बहुत सी खानें हैं। यहाँ मुझे श्री० रूङ्गराम नाम के एक प्रेमी पुरुष मिले और इनके उद्योग से इस देहात में हिन्दी का .खूब प्रचार हुआ। ग्लङ्को-निवासियों ने मुझे एक आवेदन-पत्र भी दिया, जिसकी मुख्य-मुख्य बातें यहाँ दी जाती हैं :—

"हमारे बालकों को मातृभाषा की शिक्षा न मिलने से भारतीय संस्कृति का नाश हो रहा है, इसलिए कितने युवक ईसाई

और मुसलमान हो जाते हैं। जहाँ आप मातृभाषा का प्रचार करते हैं, वहाँ हमारे पतित युवकों के उद्धार का भी प्रयत्न होना चाहिए। यदि सरकार से लिखा-पढ़ी करके आप सरकारी स्कूल में हिन्दी को स्थान दिला दें, तो इस देश में मातृभाषा का अस्तित्व सदा के लिए सुरक्षित हो जाय। योग्य अध्यापकों के अभाव से हिन्दी-प्रचार में बड़ी कठिनाई पड़ती है, अतएव स्वदेश से शिक्षकों को बुलाने का यथेष्ट उद्योग होना चाहिए" इत्यादि।

यहाँ मेरे कई व्याख्यान हुए, हिन्दी-प्रचारिणी-सभा क़ायम हो गई, और श्री० गङ्गादीन महाराज, श्री० कल्लूराम, श्री० चन्द्रिका सुनार इत्यादि ने हिन्दी-पाठशाला बनाने का उद्योग प्रारम्भ कर दिया।

यहाँ से पहाड़ियों और विकट जङ्गलों की राह से पैदल गुजरते हुए मैं वाल्सएण्ड गया। मार्ग-प्रदर्शक थे ग्लङ्को के कल्लूराम। यहाँ के भारतीय बालकों पर हबशी-संस्कृति और भाषा का बड़ा आधिपत्य था, इसका परिचय देने के लिए कल्लूराम ने एक हिन्दुस्तानी बालक को 'नमस्ते' कहा, किन्तु वह बेचारा क्या जाने कि 'नमस्ते' किस बला का नाम है। मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि प्रणाम, नमस्कार, जोहार, जयगोपाल, राम-राम इत्यादि के उत्तर में हँसने के सिवाय वह और कुछ न बोला। जब उससे हबशियों का अभिवादन 'सगबोना' कहा गया, तब उसने तुरन्त उसे स्वीकार कर 'या बाबा' के रूप में जवाब दिया। यहाँ के लोगों की भयङ्कर दुरवस्था देखकर मेरा दिल दहल उठा; पर

उन्हें समझाने के सिवाय और कुछ करने की मुझमें शक्ति ही क्या थी ? बस, प्रचार करके मैं लौट आया।

गलको से पाँच मील की दूरी पर एक बहुत बड़ी कोयले की खान है। इसका नाम है बर्नसाइड। यह खान चारों ओर पहाड़ियों से घिरी हुई है। मैं पैदल ही वहाँ पहुँचा, और श्री० बद्री महाराज, श्री० लालमुकुन्द बिहारीलाल, श्री० रामप्यारे सरदार आदि भाइयों के प्रयास से सभा जुटी और उसमें मैंने हिन्दी-प्रचार के लिए अपील की। शुभ परिणाम निकला और उसी समय वहाँ हिन्दी-प्रचारिणी-सभा और हिन्दी-पाठशाला की स्थापना हो गई। कम्पाउण्ड-मैनेजर मि० एण्ड्रयूज़ साहब सभा के संरक्षक बने।

यहाँ से डण्डी गया। अनेक कोयले की खानों के बीच बसा हुआ यह एक छोटा सा सुन्दर नगर है। निकट ही टलाना पर्वत खड़ा है, जहाँ सन् १८९९ ई० में अङ्गरेजों और बोअरों में प्रथम युद्ध हुआ था। यहाँ मजदूरों के चन्दे से एक हिन्दू-मन्दिर भी बना हुआ है। श्री० चोखेलाल महाराज के उद्योग से यहाँ थोड़ा-बहुत हिन्दी का प्रचार हुआ, और यहाँ से बाचवेङ्क में श्री० रामसेवकसिंह से मिलकर एलण्डस्लागट की प्रसिद्ध खान देखता हुआ मैं लेडिस्मिथ पहुँचा।

लेडिस्मिथ नगर क्लीप नदी के तट पर बसा हुआ है, और नेटाल के प्रधान नगरों में एक माना जाता है। नगर के आसपास अम्बुलवाना, लम्बार्डस्कोप, गनहिल, सिजरकेम्प, बागनहिल आदि पर्वत हैं; और प्रत्येक पर्वत अपना विशेष इतिहास रखता

है। युद्ध के अवसरों पर इन पहाड़ों से तोप के गोले छूटकर नर-संहार का भयानक दृश्य उपस्थित करते थे। अन्तिम बोअर-युद्ध में यहीं पर बोअर-जनरल जौबर्ट की बीस सहस्र सेना ने अङ्गरेज़-सेनापति सर जॉर्ज व्हाईट की सेना को ११८ दिन तक घेर रक्खा था, और घोड़े-गधे का मांस तक खाने को मजबूर किया था। उस समय एक हिन्दुस्तानी वीर प्रभुसिंह ने अङ्गरेज़ों की जो सहायता की थी, उसका वर्णन किसी अगले अध्याय में किया जायगा। यहाँ आने पर मुझे विदित हुआ कि यह नगर धार्मिक कलह का केन्द्र बना हुआ है। एक ओर श्री० बलदेव महाराज कुछ कट्टर लोगों के साथ सनातन-धर्म का झण्डा उड़ाते फिरते थे, और दूसरी ओर श्री० रघुनाथसिंह अपने सहधर्मियों के साथ आर्य-समाज का डङ्का पीट रहे थे। यह कलह कोई नया नहीं था, बहुत दिनों से चला आता था। मैंने इस नगर में नागरी-प्रचारिणी-सभा की इस आशा से स्थापना कराई कि मातृभाषा की वेदी पर सभी सम्प्रदाय के हिन्दुस्तानी इकट्ठे हो जायँगे और परस्पर विचार-विनिमय से राग-द्वेष की भीषण अग्नि धीरे-धीरे शान्त हो जायगी; किन्तु अफ़सोस है कि मेरा सोचना ग़लत साबित हुआ। सभा में श्री० रघुनाथसिंह, श्री० बुद्धभोला, श्री० मुनीमङ्गल और श्री तुलसीसोनी को सम्मिलित होते हुए देखकर बलदेवबाबा की पार्टी बग़ावत पर आमादा हो गई, और अपनी पुरानी प्रवृत्ति की पुनरावृत्ति करने लगी। ख़ैर, सभा का काम नियमपूर्वक चलने लगा।

उस समय विनेन के प्रसिद्ध हिन्दी-प्रेमी बाबू मन्दराजसिंह

जीवित थे। उन्होंने विनेन नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना कर अपने सत्साहस का परिचय दिया, और मुझे अपने यहाँ आने के लिए आमन्त्रित किया। मैं श्री० रघुनाथसिंह के साथ एस्टकोट होता हुआ विनेन पहुँचा। यहाँ की प्राकृतिक रमणीयता देखकर मैं मुग्ध हो गया। बाबू मन्दराजसिंह से समय-समय पर हिन्दी-प्रचार में मुझे बड़ी सहायता मिली।

इसी बीच में श्री० मक्खनसिंह के निमन्त्रण पर एक बार मैं हाविक भी हो आया। यहाँ का प्रसिद्ध जल-प्रपात देखने के सिवाय नागरी-प्रचारिणी-सभा में व्याख्यान भी दिया। उस समय नागरी-पाठशाला के सम्बन्ध में मक्खनसिंह और जी० रामसिंह में गहरा मतभेद हो गया था। मेरे प्रयत्न से झगड़ा शान्त तो हो गया, किन्तु श्री० रामसिंह वहाँ ठहरे नहीं और जेकोब्स में जाकर हिन्दी-प्रचारिणी-सभा और नागरी-पाठशाला की स्थापना की माँगने पर पाठशाला के लिए मैंने अपनी जमीन भी दे दी थी किन्तु यहाँ भी रामगरीब, रामखेलावन आदि कार्यकर्त्ताओं से खटपट हो गई, और रामसिंह यहाँ से रिचमौंगढ़ जा बसे।

इन्हीं दिनों रायकोपिस में श्री० एफ़० रामलगन, श्री० डी० लक्ष्मण, श्री० वी० बेचू आदि भाइयों ने विद्या-प्रचारिणी-सभा की स्थापना की और श्री० बद्री उदित, श्री० हीरालाल, श्री० सुमेर महाराज इत्यादि ने स्प्रिङ्गफ़ील्ड में नागरी-प्रचारिणी-सभा की। ये दोनों सभाएँ हिन्दी-प्रचार के लिए यथेष्ट उद्योग कर रही थीं।

एक ओर तो मैं नेटाल के भिन्न-भिन्न स्थानों में जाकर प्रचार कर रहा था और दूसरी ओर क्लेर-स्टेट में हिन्दी-आश्रम की बुनियाद भी डाल दी। दरबन के जनरल पोस्ट-ऑफ़िस और टाउनहॉल से सात मील के फ़ासले पर क्लेर-स्टेट है। अमगेनी नदी के तट पर सड़क के किनारे वृक्ष-लताओं से परिवेष्टित स्थान पर आश्रम बनाने का कार्यारम्भ हुआ। यद्यपि यहाँ से रेलवे तथा ट्रामवे के स्टेशन तीन मील की दूरी पर थे, तो भी यह रमणीक स्थान ही आश्रम के लिए सर्वोपरि प्रतीत हुआ। यहाँ श्री० स्वामी शङ्करानन्द जी द्वारा वैदिक धर्म-सभा क़ायम हो गई थी, और कुछ युवकों ने रामायण-सभा बनाई थी। इन सभाओं ने यहाँ के लोगों में अच्छी जाग्रति पैदा की थी। ईसाई-मिशन की ओर से सरकारी सहायता-प्राप्त एक स्कूल था, जिसमें बहुत से लड़के अङ्गरेज़ी पढ़ते थे एक हिन्दू-मन्दिर भी बन रहा था। आश्रम बनाने के लिए हार्टिङ्गस्प्रुट से श्री० जीवनराम जी और लोअर टुगेला से श्री० नसीबसिंह आए। इन महाशयों ने केवल सेवा-भाव से प्रेरित होकर ही यह कार्य-भार ग्रहण किया और अपने परिश्रम का कोई पुरस्कार न लेकर दो महीने में टीन और लकड़ी का आश्रम बनाकर तैयार कर दिया आश्रम को तीन भाग में विभक्त किया गया। एक भाग में हिन्दी-पाठशाला, दूसरे भाग में हिन्दी-पुस्तकालय और तीसरे भाग में हिन्दी-यन्त्रालय की व्यवस्था की गई। पाठशाला में मेरी पत्नी जगरानी अवैतनिक अध्यापिका नियुक्त हुईं, और उन्होंने बालकों को हिन्दी की निःशुल्क शिक्षा

देना आरम्भ किया। मैंने अपनी सञ्चित चार सौ पुस्तकें देकर पुस्तकालय का श्रीगणेश किया। यन्त्रालय के लिए हिन्दी-टाइप भारत से मँगाया गया, और एक पुरानी मशीन भी खरीद ली गई। मैंने आश्रम का अधिष्ठाता बनकर वहाँ रहना भी अङ्गीकार किया। इस प्रकार आश्रम का मङ्गलाचरण सर्व प्रकार से सन्तोषजनक सिद्ध हुआ।

जब नेटाल में हिन्दी की अनेक सभाएँ और संस्थाएँ स्थापित हो गईं, तब मैंने सबको एक सूत्र में गूँथने के लिए बर्नसाइड में अनेक सभाओं के प्रतिनिधियों को बुलाकर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्थापना की, किन्तु मेरे इस कार्य के विरोध में एक जबरदस्त आवाज उठी, और कहा जाने लगा कि एक अप्रख्यात स्थान में सम्मेलन बना लेना कोई महत्व की बात नहीं है और सम्मेलन की स्थापना के लिए नेटाल की समस्त सभाओं को निमन्त्रण देना चाहिए था। यद्यपि इस दलील में मुझे कोई विशेषता न दीख पड़ी; क्योंकि सम्मेलन में तो उन्हीं सभाओं को सम्मिलित करना उचित था, जो केवल हिन्दी-प्रचार का कार्य कर रही थीं; धार्मिक या राजनीतिक सभा से एक साहित्यिक सभा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध कैसा? तो भी मैंने सङ्गठन को अधिक दृढ़ बनाने के विचार से लोगों की बातें मान लीं, और लेडिस्मिथ के श्री० रघुनाथसिंह से सारी कहानी कह सुनाई। सिंह जी में असीम उत्साह और विलक्षण साहस था, उन्होंने तुरन्त स्वागत-समिति बनाकर सम्मेलन की योजना कर डाली। दक्षिण अफ्रिका की समस्त संस्थाओं को

निमन्त्रण भेजा गया और सन् १९१६ ई० की २६ वीं दिसम्बर को लेडिस्मिथ के मेसोनिक हॉल में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन नियमपूर्वक हुआ। स्वागत-समिति के सभापति श्री० रघुनाथसिंह थे, और सम्मेलन के प्रधान बनाए गए थे 'धर्मवीर' के सम्पादक श्री० आर० जी० भल्ला। सम्मेलन को सफल बनाने के लिए श्री० बुद्धूभोला, श्री० मुन्नीमङ्गल और वहाँ के नवयुवकों ने जो परिश्रम किया था, वह वास्तव में प्रशंसनीय था।

सन् १९१७ ई० की १५ वीं दिसम्बर को मेरीत्सबर्ग नगर में द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन भी हो गया। यह नगर नेटाल की राजधानी ठहरा, इसलिए यहाँ का सम्मेलन बहुत धूमधाम से हुआ। वैदिक-आश्रम में सम्मेलन के लिए ख़ास मण्डप बनाया गया था, और संयुक्त मन्त्री श्री० आर० बी० महाराज तथा श्री० प्रभुसकन जी ने अपूर्व उत्साह से काम किया था। श्री० पद्मसिंह, श्री० सुक्खूराम, श्री० गाहीसिंह आदि की सेवाओं को भी हम नहीं भूल सकते। एक गुजराती भाई श्री० डी० के० सोनी स्वागत-समिति के अध्यक्ष थे, और सदरलैण्ड के श्री० हरदेवसिंह प्रधान निर्वाचित हुए थे। इस बार अनेक मद्रासी प्रतिनिधियों का सम्मेलन में सम्मिलित होकर हिन्दी-प्रचार में योग देना बड़े मार्के की बात थी। यह खेद की बात है कि तीसरा सम्मेलन न हो सका, और वह दोनों सम्मेलन केवल अब स्मृति के रूप में रह गए हैं।

द्वितीय सम्मेलन के अवसर पर श्री० स्वामी शङ्करानन्द जी द्वारा स्थापित हिन्दू-महासभा का भी पुनरुद्धार किया गया।

उसमें बैरिस्टर एस० आर० पत्तर के साथ मुझे भी महासभा का संयुक्त मन्त्री चुना गया, किन्तु फिर भी दुःख के साथ कहना पड़ता है कि बहुत उद्योग करने पर भी महासभा की दो-तीन साधारण बैठक के सिवाय और कोई विशेष कार्य न हो सका।

दक्षिण अफ्रिका में हिन्दी-प्रचार का पूरा वृत्तान्त मासिक पत्र 'नवजीवन' के चार अङ्कों में बहुत विस्तार के साथ छपा था, यहाँ उसका केवल सारांश ही दिया गया है। पाठक यह न समझ लें कि केवल एक ही बार की यात्रा में मेरा उद्योग सफल होता गया। मुझे उक्त स्थानों पर बार-बार कभी व्याख्यान देने, कभी सभा स्थापित करने, कभी पाठशाला खोलने, कभी आपस का मतभेद दूर करने और कभी चन्दा वसूल करने के लिए दौरा करना पड़ता था। ट्रान्सवाल और नेटाल में मैंने सन् १९१५ और १९१६ ई० पूरे दो वर्ष तक घूम-घूमकर हिन्दी का प्रचार किया। यदि मैं अपनी यात्रा का सिलसिलेवार वर्णन करने लगूँ, तो लेख बहुत विस्तृत हो जायगा; अतः केवल मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख करके सन्तोष कर लेना ही उचित प्रतीत हुआ।

आत्म-ग्लानि
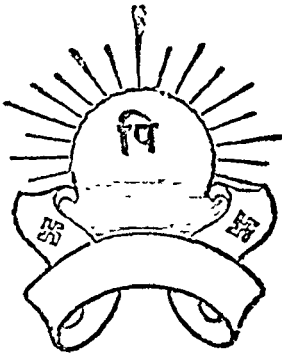
पिछले दो अध्यायों में मैंने अपने हिन्दी-प्रचार के कार्य का संक्षिप्त विवरण दिया है। उसे पढ़कर पाठक शायद यह ख्याल करेंगे कि मैं दो वर्ष के अन्दर अपनी शक्ति से बहुत अधिक काम कर गया, और बड़ी सफलता प्राप्त की; किन्तु इन्हीं दो वर्षों में मुझसे जो अनेक भूलें हुई, उन्हें जानकर बुद्धिमान लोग अवश्य मेरी क्षुद्र बुद्धि पर हँसेंगे; अफ़सोस करेंगे और धिक्कारेंगे भी। चाहे जो कुछ हो, पर अपनी भूलों का वर्णन किए बिना मेरी आत्मा को सन्तोष न होगा। मेरी भूलें यदि मेरे व्यक्तिगत हानि-लाभ तक ही परिमित होतीं, तब तो उनका उल्लेख कर पाठकों का समय नष्ट करने की आवश्यकता न थी; किन्तु मेरी भूलों का दक्षिण अफ्रिका के सामाजिक और राजनीतिक जीवन से सम्बन्ध था, अतएव

उन पर परदा डालकर आगे बढ़ जाना मानो सत्य की हत्या करनी है। मुझसे

पहली भूल

सन् १९१५ ई० के अन्त में हुई। जर्मिस्टन के श्री० लालबहादुर सिंह स्वदेश जाने को तैयार हुए, किन्तु मैं यह नहीं जानता था कि इनकी अन्दरूनी अवस्था क्या है ? इनकी देशभक्ति में किसी को कोई सन्देह नहीं था। सन् १९०४ ई० में आप मेरे स्वर्गीय पिता के स्थान पर ट्रान्सवाल-इण्डियन एसोसियेशन के सभापति चुने गए थे, तब से बराबर सार्वजनिक जीवन में योग दे रहे थे। तीन बार एशियाटिक क़ानून के विरुद्ध जेल भी हो आए थे और ट्रान्सवाल के हिन्दी-भाषियों के सर्वोपरि नेता माने जाते थे। हिन्दी-प्रचार में आप जिस उत्साह से भाग ले रहे थे, उससे आपकी यश-चन्द्रिका और भी प्रोज्ज्वल हो उठी थी। ऐसे देश-सेवक का स्वदेश-गमन के समय यदि उचित आदर-सत्कार न किया जाय, तो यह जाति के लिए बड़ी कृतघ्नता की बात होगी। यह सोचकर मैंने नेटाल और ट्रान्सवाल के कई स्थानों में सभाओं की व्यवस्था की और सिंह जी को अनेक मानपत्र दिलवाए। पर ऐन मौक़े पर एक महाजन ने उन पर अपने क़र्ज़ का दावा दायर कर दिया, इसलिए उनका भारत जाना रुक गया। इस घटना से लोगों में एक हलचल सी मच गई और जनता ने मुझे ही दोष देना प्रारम्भ किया। वास्तव में जनता के दरबार में मैं दोषी भी था; क्योंकि बहुत से लोग सिंह जी को जानते भी नहीं थे, केवल मेरे कहने से उन्होंने इस काम में शक्ति और

धन का अपव्यय किया था। यद्यपि सिंह जी स्वदेश जाने से महाजन द्वारा बलात् रोक लिए गए थे, तो भी यह बात साफ़-साफ़ कह देने में उनको सङ्कोच होता था। अतएव जनता के हृदय में यह ख़्याल बद्धमूल हो गया कि यह सब सिंह जी को केवल सम्मानित करने के लिए एक नाटक रचा गया था। इस भूल पर मुझे बड़ी आत्म-ग्लानि हुई; क्योंकि जनता की शक्ति का दुरुपयोग करने का मैं ही उत्तरदायी था, किन्तु इसका प्रायश्चित्त करने का मेरे पास कोई उपाय ही नहीं था। एक कार्य मैंने अवश्य किया कि मिले हुए समस्त अभिनन्दन-पत्र हिन्दी-आश्रम में रख लिए और सिंह जी से स्पष्ट कह दिया कि जब आप स्वदेश जाने लगेंगे, तभी ये अभिनन्दन-पत्र पाने के अधिकारी होंगे। सिंहजी स्वदेश तो नहीं, किन्तु स्वर्गलोक को अवश्य प्रस्थान कर गए, और आज तक वे मानपत्र हिन्दी-आश्रम में धरोहर हैं। इससे मेरी आत्मा को कुछ शान्ति अवश्य मिली, किन्तु जनता की तृप्ति न हुई इस असन्तोष का मूल कारण सिंह जी का भावी-जीवन हुआ, जिसका वर्णन इसी लेख में आगे चलकर होगा। मुझसे

दूसरी भूल

सन् १९१६ ई० के प्रारम्भ में हुई। उस समय मैं हिन्दी-प्रचार में इतना तन्मय हो गया था कि इसके सिवाय संसार के और सब कार्य मुझे व्यर्थ मालूम होते थे। असहिष्णुता की बीमारी इतनी बढ़ गई थी कि यदि कोई हिन्दी के विरुद्ध विचार प्रकट कर देता, तो बस वह मेरी निगाहों से गिर जाता, और उसकी देशभक्ति

पर मुझे सन्देह होने लगता। जबकि मैं मातृभाषा के प्रेम का प्याला पीकर मतवाला हो रहा था, दैवयोग से ठीक उसी समय ट्रान्सवाल में एक आन्दोलन का जन्म हुआ, और इस आन्दोलन के नेता थे मेरे परम सहायक और शुभचिन्तक पोलक साहब। मामला यह था कि प्रिटोरिया के एशियाटिक ऑफिस का दुभाषिया सुन्दरमूर्ति पिल्ले को गुजराती बोलना न आता था और वह गुजरातियों से हिन्दी में ही काम निकालता था। यद्यपि लगभग सभी गुजराती भाई टूटी-फूटी हिन्दी बोल लेते थे, तो भी पोलक साहब का यह कथन था कि उसे वहाँ से हटाकर किसी ऐसे आदमी की नियुक्ति होनी चाहिए, जो गुजराती-भाषा अच्छी तरह जानता हो। पोलक साहब 'इण्डियन ओपिनियन' के सम्पादक थे, अतएव आपने पत्र द्वारा इस आन्दोलन को देश-व्यापी बना दिया। मैंने देखा कि नेटाल की अदालतों में दुभाषियों के लिए गुजराती जानना कोई अनिवार्य नियम नहीं है, और गुजरातियों को भी हिन्दी में ही अपने मनोभाव व्यक्त करने पड़ते हैं। इससे इस देश में भी राष्ट्र-भाषा की भावना दृढ़ होती है और सबको हिन्दी सीखना आवश्यक हो जाता है। पोलक साहब को गुजराती दुभाषिए के पक्ष में आन्दोलन करते हुए देखकर मैं अपना सारा उत्तरदायित्व भूल गया। ३१ मार्च के 'इण्डियन ओपिनियन' के अग्रलेख में पोलक साहब ने लिखा कि एशियाटिक ऑफ़िस से सम्बन्ध रखने-वाले अधिकांश लोग गुजराती बोलने वाले हैं, और उनका यह अधिकारपूर्ण दावा है कि उनके सुभीते के लिए

वहाँ गुजराती दुभाषिया नियुक्त किया जाय। वे साधारण हिन्दी समझ लेते हैं, पर वास्तव में हिन्दी उनके लिए एक विदेशी भाषा है।

गुजरातियों के लिए हिन्दी विदेशी भाषा है, यह बात मुझे बहुत खटकी और मैंने ८ अप्रैल के 'धर्मवीर' में हिन्दी और अङ्गरेजी में एक पत्र छपवाया, जिसमें हिन्दी को सकल भारतीयों की राष्ट्र-भाषा होने के पक्ष में कुछ युक्तियाँ देकर पोलक साहब के आन्दोलन को अनुचित बतलाया। 'धर्मवीर' के सम्पादक ने मेरे लेख का शीर्षक रख दिया 'पोलक साहब पर प्रसिद्ध सत्याग्रही का दोषारोप' और साथ ही 'हिन्दी बनाम गुजराती' शीर्षक अग्रलेख में मेरे पत्र का समर्थन करते हुए 'इण्डियन ओपिनियन' और पोलक साहब पर कुछ आक्षेप भी किए। 'धर्मवीर' के आक्षेपों को पोलक साहब सदा उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे, किन्तु मेरे पत्र से उन्हें जो मानसिक कष्ट हुआ, उसे सोचकर आज भी मैं दुःख से अधीर हो उठता हूँ। मेरे पत्र के उत्तर में पोलक साहब ने 'धर्मवीर' में एक पत्र भी लिखा था, किन्तु खेद है कि वह प्रकाशित न हुआ। उसकी एक प्रति मुझे भी मिली थी, जिसका आशय नीचे दिया जाता है :—

"आपने और श्री० भवानीदयाल ने मुझपर जो अविचार और अशिष्टतापूर्ण आक्षेप किए हैं, उसका इस पत्र में मैं कोई उत्तर देना नहीं चाहता। यद्यपि श्री० भवानीदयाल ने मेरे विषय में जो कुछ लिखा है, उससे अच्छा लिख सकते थे; तो भी मेरी तो

यही धारणा है कि जो कुछ उन्होंने अङ्गरेजी में मेरे सम्बन्ध में कहा है, वह उनके मनोभाव का यथार्थ प्रतिबिम्ब नहीं है। अच्छा होता, यदि वे अपनी मातृ-भाषा में ही, जिसके प्रति उनकी इतनी श्रद्धा है, अपने विचार प्रकट करते। खैर, मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि हिन्दी-भाषा के सम्बन्ध में 'इण्डियन ओपिनियन', महात्मा गाँधी और मेरे जो विचार हैं, उसका अत्यन्त विकृत रूप जनता के सामने रक्खा गया है। आपका शीर्षक ही इस बात का प्रमाण है कि आपने 'इण्डियन ओपिनियन' तथा मेरे विषय में भ्रान्तिमूलक विचार फैलाने की चेष्टा की है। यहाँ अङ्गरेजी और गुजराती की कोई प्रतिस्पर्द्धा नहीं है। न्याय की दृष्टि से यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी ही भाषा में बोलने का अधिकार होना चाहिए। यह सिद्धान्त जोहन्सबर्ग की अदालतों में स्वीकार किया गया है, और यहाँ गुजराती दुभाषिया नियुक्त हो चुका है, ताकि गुजरातियों का मनोभाव समझने में कोई अड़चन न पड़े जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी या तामिल है, वे अपनी ही मातृभाषा में बोलें। यह इतना सरल सिद्धान्त है कि इसकी व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं है। महात्मा गाँधी ने यह कभी नहीं कहा कि गुजराती लोग अपनी मातृभाषा की अपेक्षा हिन्दी में बोला करें। उन्होंने इस बात पर अवश्य बल दिया है कि समस्त भारतीयों को राष्ट्र-भाषा हिन्दी माननी चाहिए और उसे द्वितीय भाषा के रूप में अवश्य जानना चाहिए।"

इस युक्तियुक्त उत्तर को पढ़कर मेरे तो देवता कूच कर गए!

सत्य के विचार से मुझे यह स्वीकार करना ही चाहिए कि मेरा पत्र वास्तव में अविचार और अशिष्टतापूर्ण ही नहीं, बल्कि दुष्टता-पूर्ण भी था। क्या यह उचित था कि जहाँ अधिकांश गुजराती-भाइयों का निवास हो, वहाँ भी मैं राष्ट्र-भाषा की दुहाई देकर बलात् उनके माथे हिन्दी मढ़ूँ, और वह भी उस एशियाटिक ऑफ़िस में, जहाँ बयान देने में दो-चार मामूली भूलें हो जाने पर भी देश-निर्वासन का दण्ड रखा-रखाया है। मैं हिन्दी का प्रचार करता था, और मुझे अपनी भाषा पर अभिमान करने का यथेष्ट अधिकार था, किन्तु क्या मेरी यह प्रवृत्ति सङ्कीर्णता और मूर्खतापूर्ण नहीं थी कि मैं एशियाटिक ऑफ़िस में गुजराती का कोई महत्व स्वीकार करना नहीं चाहता था? इस विषय पर संसार चाहे जो कुछ कहे, प्रिटोरिया और ईस्ट रेण्ड की हिन्दू-संस्थाओं ने भी मेरे विचारों का समर्थन किया था, किन्तु मेरी आत्मा तो मुझे धिक्कारे बिना न मानी। इसके बाद ही मुझसे

तीसरी भूल

हो गई। सन् १९१६ ई० के प्रारम्भ में यूनियन-पार्लामेण्ट में एक ऐसा बिल पेश हुआ कि जिन विवाहों की रजिस्ट्री न हो जाए, वह नाजायज माने जायँ। यह क़ानून भारतीयों पर भी लागू होता था, अतएव बड़ा तहलक़ा मचा। मैं ट्रान्सवाल में हिन्दी-प्रचार के काम से गया हुआ था। श्री० लालबहादुर सिंह ने मेरे सामने यह प्रस्ताव रक्खा कि इस विषय पर एक डेपुटेशन एशियाटिक रजिस्ट्रार के पास ले जाना चाहिए। उस समय

एशियाटिक रजिस्टार की कुर्सी पर मेरे पूर्व-परिचित सी० डब्ल्यू० कज़िन्स साहब विराज रहे थे, इसलिए मैंने डेपुटेशन में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। इस पर सिंह जी को सन्तोष न हुआ, और उन्होंने यह युक्ति पेश की कि माना आपको कज़िन्स साहब से घृणा है; किन्तु क्या व्यक्तिगत द्वेष को जातीय मामलों में जगह देना उचित कहा जा सकता है? मैंने उनको समझाया कि मैं किसी से घृणा नहीं करता, और न कज़िन्स साहब से मेरा कोई व्यक्तिगत द्वेष ही है, किन्तु उन्होंने मेरे साथ जो कुटिलतापूर्ण व्यवहार किया था, वह केवल मेरे भारतीय होने के कारण; इसलिए यह बात ऐसी है, जिसे व्यक्तिगत नहीं, किन्तु जातिगत कहना चाहिए। सच पूछिए तो सिंहजी से और कज़िन्स साहब से बड़ी मित्रता हो गई थी। इस असाम्य मित्रता में सिंह जी का क्या स्वार्थ था और कज़िन्स साहब की क्या नीति—यह मैं बिलकुल नहीं जानता था। सिंह जी ने आग्रहपूर्वक पूछा—यदि कज़िन्स साहब आपसे क्षमा माँग लें तो?

मैंने उत्तर दिया—इन सब प्रपञ्चों की ज़रूरत ही क्या है? यदि आप समझते हैं कि डेपुटेशन ले जाना ज़रूरी है तो ख़ुशी से ले जाइए। एक मेरे बिना बनता-बिगड़ता ही क्या है?

किन्तु सिंह जी मानने वाले मनुष्य नहीं थे। उन्होंने ईस्ट रेण्ड और प्रिटोरिया के हिन्दुओं की एक सभा की, और मुझे डेपुटेशन का प्रमुख चुन दिया गया। मैं बड़े असमञ्जस में पड़ा। मेरे सामने केवल दो मार्ग थे। एक तो यह कि मैं सभा की आज्ञा मानकर

शिष्ट-मण्डल का प्रमुख होना स्वीकार कर लूँ, और दूसरा यह कि अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ के अनुसार डेपुटेशन में योग देना स्पष्टत: अस्वीकार कर दूँ। पिछले उपाय के अवलम्बन से मुझे अपने उन समस्त मित्रों की सहायता से वञ्चित होना पड़ता, जिनका हिन्दी-प्रचार के आन्दोलन से प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध था। इसलिए शैतानी शक्ति ने मेरी निर्बल आत्मा पर विजय पाई, और मैंने प्रथम ही उपाय का अवलम्बन किया।

ईस्ट रेण्ड और प्रिटोरिया के हिन्दुओं का यह डेपुटेशन ४ मई को प्रिटोरिया में एशियाटिक रजिस्ट्रार से मिला। जब मैंने ऑफ़िस में प्रवेश किया, तो कज़िन्स साहब उठकर बड़े प्रेम से मिले और बोले—मैंने सुना है कि आप मुझसे अत्यन्त अप्रसन्न हैं, और मुझे क्षमा करना भी नहीं चाहते; किन्तु मैंने अनजानपन में आपके साथ वैसा बर्ताव किया था। आपकी टोपी देखकर मैंने यह समझ लिया कि आप कोई गुजराती हैं, और चूँकि गुजरात-प्रान्त के कितने लोग धोखा देकर यहाँ उतर जाते हैं, इसलिए कानून के अमल में कड़ाई करनी पड़ती है। आपको मेरे व्यवहार से जो दु:ख हुआ है, उसके लिए मुझे बड़ा अफ़सोस है।

ख़ैर, शिष्ट-मण्डल के प्रमुख की हैसियत से मैं पहले उठा और हिन्दी-भाषा में विवाह-बिल का प्रतिवाद कर गया। पीछे से अपने वक्तव्य का अङ्गरेज़ी अनुवाद भी पढ़ सुनाया। मैंने अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के उदाहरण देकर बतलाया कि हिन्दुस्तानी लोग और कुछ भले ही सह लें, किन्तु अपने धर्म में हस्तक्षेप

सहन नहीं कर सकते। जब मैं बोलकर बैठ गया, तब कजिन्स साहब की मुखाकृति से मुझे यह प्रतीत हुआ कि उनको मेरे कथन से सन्तोष नहीं हुआ और जो मसाला वह चाहते थे, वह उनको मेरे भाषण में नहीं मिला। इस पर उन्होंने अन्य सभ्यों को भी बोलने का बलपूर्वक अनुरोध किया। बस, इशारे की देर थी—श्री० एन० गोपाल, श्री० एन० एस० नायडू, श्री० बी० एस० पिल्ले और श्री० लालबहादुर सिंह क्रमशः उठे और अपने उत्तरदायित्व को ताक़ में रखकर लगे गुजराती-वर्ग पर आक्षेपों की बौछार करने। वही कहावत हुई 'आए थे हरि-भजन को ओटन लगे कपास।' कहाँ तो आए थे विवाह-बिल का प्रतिवाद करने और कहाँ लगे व्यापार और बाज़ार के राग अलापने। कजिन्स साहब यही तो चाहते थे, क्योंकि भेद-नीति (Devide and Rule) पर उनकी बड़ी भक्ति थी। किसी तरह यह अभिनय समाप्त हुआ।

ता० ७ मई को जोहन्सबर्ग के 'सण्डे टाइम्स' (Sunday Times) में हमारे शिष्ट-मण्डल का विवरण, अनेक शीर्षकों से सम्पन्न होकर उसके 'ख़ास संवाददाता द्वारा' प्रकाशित हुआ; और उस पर १२ मई के दैनिक 'स्टार' में निम्नलिखित आशय की सम्पादकीय टिप्पणी भी निकली:—

"ईस्ट रैण्ड और प्रिटोरिया का जो शिष्ट-मण्डल एशियाटिक-रजिस्ट्रार से मिला था, उसके वक्तव्य से यह विदित होता है कि अभी तक दक्षिण अफ्रिका में भारतीय समस्या किसी न किसी रूप में विद्यमान है। यह कहना कठिन है कि वर्त्तमान विवाह-बिल

किस प्रकार से हिंन्दू-धर्म पर आघात पहुँचाता है। बिल का आशय तो यह है कि विवाह-संस्कार कराने के लिए सरकारी अमलदार नियुक्त किए जायँ, और उनके द्वारा कराए हुए विवाह न्याय-विहित माने जायँ। शिष्ट-मण्डल के कथनानुसार इस समय हिन्दुओं में केवल ब्राह्मण ही विवाह कराते हैं। योरोपियनों के लिए तो यह प्रसन्नता की बात है कि उनके पादरियों को विवाह का अमलदार होने का भी अधिकार मिल जायगा, और यदि ब्राह्मणों को भी ऐसा ही क़ानूनी अधिकार मिल जाय, तो फिर हर्ज ही क्या है? इसमें केवल विचार की भिन्नता है। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि जिस बात को योरोपियन लोग बहुत ही मामूली समझते हैं, उसी बात को एशिया-निवासी बड़ा महत्व देते हैं। हमारे सामाजिक सिद्धान्त के लिए वह दिन वास्तव में दुखजनक होगा, जिस दिन कि हम भारतीयों में असन्तोष का बीजारोपण करेंगे। एशियाटिक रजिस्ट्रार ने साफ़ कह दिया है कि सरकार जान-बूझकर या अनावश्यक तौर से भारतीयों के धर्म में दख़ल देने का इरादा नहीं रखती है। असली बात भी यही है कि शासकों को यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि जिन पर शासन किया जाता है, उनकी भावनाओं के अनुकूल ही नीति का निर्माण हो। इस नीति की गम्भीरता तब तो और भी बढ़ जाती है, जबकि पश्चिम पूर्व पर शासन करने की इच्छा रखता है। इस विषय पर दक्षिण अफ्रिका की सरकार को पूर्ण बुद्धिमानी से काम लेना चाहिए।"

अन्त में इस क़ानून से भारतीयों को बरी कर दिया गया,

न्तु हमारे शिष्ट-मण्डल के विषय में बड़ी चर्चा हुई। 'इण्डियन-पिनियन' में डेपुटेशन के विरुद्ध अग्रलेख प्रकाशित हुआ, और के उत्तर में 'धर्मवीर' का भी अग्रलेख निकला। यह सब तो ा, किन्तु मुझे अपनी भूल स्पष्टतः मालूम पड़ी। पहली भूल तो थी कि भारतीयों की सर्वोपरि संस्था 'ट्रान्सवाल ब्रिटिश-डयन एसोसियेशन' की विद्यमानता में हिन्दुओं का अलग ष्ट-मण्डल बनाया जाना उचित नहीं था। दूसरी भूल यह कि एशियाटिक रजिस्ट्रार के पास डेपुटेशन ले जाना मानो साधारण अमलदार को आसमान पर चढ़ाना था, और री तथा सबसे बड़ी भूल यह थी कि शिष्ट-मण्डल द्वारा ाती-वर्ग पर अनावश्यक और अप्रासङ्गिक आक्षेपों का या जाना। इन सब बातों को सोचकर मेरी आत्मा अशान्त उठी। मैं जोहन्सबर्ग जाकर पोलक साहब से मिला। उन्होंने सिंह जी की सारी करतूतें बतलाईं और यह भी बतलाया कि स प्रकार सिंह जी अपनी देश-सेवा की प्रवृत्ति की तिलाञ्जलि र कजिन्स साहब से मिले; किस प्रकार उन्होंने ब्रिटिश-डयन एसोसियेशन के विरुद्ध अनेक षड्यन्त्र रचे और किस ार इस समय जातीय जीवन का गला घोटने पर तुले हुए हैं। ह जी की सारी कथा सुनकर मुझे अपने कृत्यों पर बड़ी लज्जा ई, और आत्म-ग्लानि की आग से मेरा हृदय दग्ध हो उठा। पोलक साहब को विश्वास दिलाया कि भविष्य में आप मुझे कामों से सदा दूर पाएँगे। मेरे और पोलक साहब के

बीच में जो थोड़ा सा अन्तर पड़ गया था, वह इस वार्त्तालाप से दूर हो गया।

मैंने जर्मिस्टन लौटकर लालबहादुर सिंह को ऐसे कुकृत्य के लिए बहुत धिक्कारा, किन्तु उनको चेत कहाँ? कहावत है—

जाकर मति भ्रम भयउ खगेशा।

ताकहँ पश्चिम उगहि दिनेशा॥

सिंह जी मेरी बात भले ही न मानें, लेकिन उन पर मेरा जो विश्वास था वह छूमन्तर हो गया। इसके एक मास बाद ही एक षोडश वर्षीया युवती का सिंह जी ने पाणि-ग्रहण किया। इस विवाह में हिन्दू-कुलाङ्गनाओं को भद्दी से भद्दी गालियाँ गाते हुए देखकर मुझे बड़ा खेद हुआ, और मैंने विवाह में शामिल होने से साफ़ इन्कार कर दिया। इस पर सिंह जी मुझ पर बड़े नाराज़ हुए, किन्तु खुलकर कुछ कहने की हिम्मत न पड़ी।

इस विवाह के बाद ही सिंह जी के घोर पतन का युग प्रारम्भ हो गया। नव-परिणीता वधू के साथ आप शाही ढङ्ग से रहने लगे, और आगे-पीछे की चिन्ता छोड़कर .खूब ख़र्च करने लगे। ख़र्च बेहद बढ गया और आमदनी की कोई सूरत नहीं थी। उन्होंने सोचा कि अब कज़िन्स साहब की मित्रता से कुछ लाभ उठाना चाहिए। इसलिए परमिट दिलाने वाले दलाल बन गए। इस दलाली में फ़ायदा यह था कि अनधिकारी मनुष्यों को ट्रान्सवाल में बसने का अधिकार दिला देना और फ़ी आदमी १०० पाउण्ड वसूल

कर लेना। परमिट देने वाले अफ़सर थे कज़िन्स साहब; इसलिए सिंह जी को यह काम बड़ा सुगम जान पड़ा, और इसमें लाभ भी अच्छा था। सच है—मनुष्य जब गिरने लगता है, तो रसातल पहुँचे बिना दम नहीं लेता। एक गुजराती भाई को परमिट दिला देने की प्रतिज्ञा पर आपने उससे ५० पाउण्ड वसूल किए और इस मामले में अनेक मिथ्यावादियों के साथ स्वयं भी साक्षी दी, किन्तु अफ़सोस कि सिंह जी का सारा परिश्रम निष्फल हुआ और उस अभागे को परमिट न मिला। कज़िन्स साहब ने सिंह जी की ज़रा भी मुरव्वत न की और उन्हें ७ दिन के अन्दर ट्रान्सवाल से निकल जाने की आज्ञा दी। वह बेचारे मेरे पास आए और रो-रोकर अपनी सारी कथा सुनाई। उनके करुण-क्रन्दन से मैं तो क्या, वज्र-हृदय भी पिघल जाता; किन्तु मैं उनकी सहायता ही क्या कर सकता था? सिंह जी से रुपए वापिस माँगना तो मानो गधे के सिर पर सींग ढूँढ़ना था। मैंने केवल उन्हें यह आश्वासन दिया कि एक सप्ताह की जगह मैं तुम्हें एक मास का समय दिला सकता हूँ और इस बीच में तुम यहाँ रहने की आशा छोड़कर स्वदेश जाने की तैयारी कर लो। इस घटना से सिंह जी पर मेरा रहा-सहा विश्वास भी उड़ गया, और मैंने उनको बहुत भला-बुरा कहा। मेरी यह स्वतन्त्र प्रवृत्ति सिंह जी को बहुत खटकने लगी, क्योंकि वहाँ के अपढ़ और निर्धन व्यक्तियों से अपनी हरेक अच्छी-बुरी बातों में 'हाँ बाबू' 'हाँ बाबू' कहला लेने की उनकी आदत पड़ी हुई थी। ख़ैर, मैं उस गुजराती भाई के साथ प्रिटोरिया

गया और कज़िन्स साहब से मिला। उन्होंने मेरी बात मान ली और उसे अपना देन-लेन साफ़ करने तथा देश जाने की तैयारी करने के लिए एक मास की मुहलत दे दी। ठीक उसी वक्त सिंह जी भी वहाँ आ धमके और कुछ कहना ही चाहते थे कि कज़िन्स साहब ने उन्हें दफ़्तर से निकल जाने की आज्ञा दी और मुझसे कहा—मैं सिंह जी को एक प्रतिष्ठित आदमी समझता था, किन्तु अब मुझे यह ज्ञात हो गया कि मेरी धारणा निर्मूल थी। यह आदमी इस समय इस फ़िराक़ में है कि एशियाटिक ऑफ़िस से कुछ झूठे परमिट निकलवाकर लोगों से पैसे ऐंठे, लेकिन इसे यह समझ लेना चाहिए कि मैं उस श्रेणी के अमलदारों में नहीं हूँ। मैं सख्त ताक़ीद किए देता हूँ कि यह आदमी फिर मेरे दफ़्तर में कभी न आए। यही बात कज़िन्स साहब खुद सिंह जी से कह सकते थे, किन्तु उन्हें सिंह जी से इतनी घृणा हो गई कि उन्होंने मुझे सङ्केत करके अपने दिल के ग़ुबार निकाले।

अब बेचारे सिंह जी को चीरो तो देह में लहू नहीं। जब से इस मामले में मैंने उन्हें धिक्कारा था, तब से उन्होंने मुझसे बात भी करना छोड़ दिया था, किन्तु आज वे मेरे पास खुद आए और बड़ी नम्रता से पूछा—अब क्या करना चाहिए?

मुझे सिंह जी की दशा पर बड़ी दया आई, और मैंने कहा—सबसे पहले आपको अपने कुकृत्यों के लिए हृदय से पश्चात्ताप करना चाहिए और पोलक साहब से क्षमा की याचना। इसके बाद आपको ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिसमें आमदनी से

अधिक खर्च न होने पाए। अपव्यय से ही आज आप इस अवस्था को प्राप्त हुए हैं, किन्तु कहावत है कि 'जब से चेते तब से सही!'

सिंह जी—लेकिन सवाल यह है कि क्या पोलक साहब मुझे क्षमा कर देंगे?

मैं—अवश्य। इसमें कोई सन्देह नहा है। मैं क्षमा दिलाने का भार ग्रहण करता हूँ।

सिंह जी—अच्छा तो चलिए, इसी वक्त जोहन्सबर्ग चलें, क्योंकि आज मुझे ऐसी आत्म-ग्लानि हुई है कि मैं बिना आग के ही भस्म हो रहा हूँ।

वहाँ से हम लोग स्टेशन पहुँचे और पहली गाड़ी से जोहन्सबर्ग को रवाना हो गए। डाकगाड़ी के प्रताप से हम बहुत शीघ्र जोहन्सबर्ग पहुँचकर पोलक साहब के ऑफ़िस में दाख़िल हुए। सिंह जी को देखकर पोलक साहब को बड़ा आश्चर्य हुआ, और उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर सिंहजी का अभिवादन किया। सिंह जी बोले—बस, अब अधिक लज्जित न कीजिए। मैं अपने कर्मों का फल पा गया, और अब आपकी शरण में आया हूँ। मुझे एक बार क्षमा कर दीजिए।

पोलक साहब ने क्षमा करते हुए कहा—आपने कज़िन्स साहब से मिलकर जो कुछ किया, उससे आपके ही जातीय जीवन को धक्का लगा है। व्यक्तिगत रूप से मेरी तो कोई हानि नहीं हुई है।

इस घटना के थोड़े ही दिन बाद पोलक साहब ट्रान्सवाल से

सदा के लिए विलायत जाने लगे। मैं उस समय नेटाल आ गया था, किन्तु यह समाचार पाते ही पोलक साहब के चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने के लिए फिर ट्रान्सवाल पहुँचा। ता० २१ सितम्बर सन् १९१६ ई० को जोहन्सबर्ग के मेसोनिक हॉल में पोलक साहब को बिदाई का भोज दिया गया। इस भोज में मैंने दक्षिण अफ्रिका हिन्दी-महासभा, ट्रान्सवाल हिन्दी-प्रचारिणी-सभा और जर्मिस्टन-इण्डियन एसोसियेशन की ओर से एक अभिनन्दन-पत्र पढ़कर पोलक साहब की सेवा में समर्पित किया था। पोलक साहब के चले जाने पर ट्रान्सवाल के भारतीय वास्तव में नेताहीन हो गए—शरीर रह गया, लेकिन आत्मा चली गई; फूल रह गया, सुगन्धि उड़ गई। इस योरोपियन मित्र ने प्रवासी भारतीयों की जो सेवा की थी, वह भारतीयों के इतिहास में एक अमर घटना है।

इधर लालबहादुर सिंह का पतन रुका नहीं, वे दिन पर दिन गिरते ही गए। जब अनधिकारी मनुष्यों को परमिट दिलाकर रुपए कमाने की मृगतृष्णा दूर हुई, तब उन्होंने ऋण लेने का सिलसिला जारी किया। एक वृद्ध पुरुष—दुबरीराम का कई सौ पाउण्ड मार बैठे। उनकी इन करतूतों से मुझे घृणा होने लगी, और वे भी अपनी दुष्प्रवृत्ति में मुझे बाधक समझकर मुझसे द्वेष करने लगे। मनोमालिन्य बढ़ता ही गया और अन्त में विषादमय परिणाम हुआ। भारतीयों में एक यह बड़ा भारी दुर्गुण पाया जाता है कि व्यक्तिगत द्वेष का पिशाच सार्वजनिक कामों में भी अपनी लीला दिखाए बिना नहीं मानता। मैंने दो वर्ष तक हिन्दी

का प्रचार किया था, और हिन्दी-आश्रम की स्थापना की थी। इन सब कामों में जो आय-व्यय हुआ था, उसका पूरा हिसाब मैं आश्रम के ट्रस्टियों के समक्ष विचार और स्वीकृति के लिए उपस्थित कर चुका था। सिंह जी भी एक ट्रस्टी थे। ट्रस्टियों ने हिसाब को जाँचकर मुझे यह सनद दे दी—हिन्दी-प्रचार के लिए जो चन्दा हुआ, वह बहुत ईमानदारी से ख़र्च किया गया है। ख़ुशी तो यह है कि इतनी छोटी रक़म में इतना ज्यादा काम हो गया।

मैंने हिन्दी-प्रचार के लिए कुल २३० पाउण्ड उगाहे थे और आश्रम की इमारतें बनाने, प्रेस और पुस्तकालय के लिए आवश्यक सामग्रियाँ जुटाने तथा दो साल तक हिन्दी-प्रचार करने में कुल २६२ पाउण्ड ख़र्च हुए थे। सत्य के विचार से मुझे यहाँ यह स्वीकार करना ही चाहिए कि मैंने इस २४ महीने में ४८ पाउण्ड अर्थात् २ पाउण्ड मासिक हिन्दी-प्रचार-फ़ण्ड से अपने जेब-ख़र्च के वास्ते लिए थे। पाठक आश्चर्य करेंगे कि उस महायुद्ध की महँगी के समय, जबकि सब वस्तुओं का दाम दूना-तिगुना हो गया था, इस छोटी सी रक़म से मेरा ख़र्च कैसे पूरा होता होगा, और वास्तव में हो भी नहीं सकता था, किन्तु उन दिनों छोटे भाई देवीदयाल से, जो जर्मिस्टन की एक खान में नौकरी करते थे, मुझे ख़र्च के लिए मासिक २ पाउण्ड मिल जाया करते थे। आश्रम का सचित्र विवरण भी पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका था, जिसमें आय-व्यय का पूरा हिसाब था।

आश्रम बन चुका था। पुस्तकालय और विद्यालय खुल गए

थे और 'हिन्दी' नामक पत्र निकालने के लिए भी कुछ प्रबन्ध हो चुका था और कुछ होना बाक़ी था। ठीक इसी समय न जाने क्यों लालबहादुर सिंह के सिर पर आश्रम को बर्बाद और मुझे बदनाम करने की सनक सवार हो गई, और मेरी अभिलाषा-लता को ऐसी निर्दयता के साथ तोड़-मरोड़कर फेंक दिया गया कि मैं हृदय थामकर और हाय मारकर बैठ गया। सन् १९१७ ई० के प्रारम्भ में सिंह जी ने मेरे विरुद्ध आन्दोलन करना प्रारम्भ कर दिया। उनमें विलक्षण शक्ति थी, और वे जनता को सहज ही में अपनी ओर आकर्षित कर सकते थे। ट्रान्सवाल के अनेक ग़रीब मनुष्यों की आत्मा उनको शाप दे रही थी, पर किसी की यह मजाल न थी कि उनके मुँह पर कुछ कह सके या उनकी बात मानने से इन्कार कर सके। उन्होंने आश्रम के दो ट्रस्टियों—रामदयालसिंह और बन्धु गङ्गादीन—से मख़्तारनामा लिखा लिया और एक स्टी तो वे .खुद ही थे। इन तीन ट्रस्टियों की ओर से सिंह जी ने जोहन्सबर्ग के प्रसिद्ध वकील मि० एल० डब्ल्यू० रिच द्वारा, जो लन्दन की साउथ अफ्रिकन इण्डियन कमेटी के मन्त्री रह चुके थे, पत्र भेजवाकर मुझसे आश्रम का हिसाब तलब किया। यद्यपि मैंने ट्रस्टियों को हिसाब देकर उनकी दस्तख़ती रसीद ले ली थी, तो भी मैंने इस कलह को दबा देने के अभिप्राय से पुनः रिच साहब के पास सब हिसाब भेज दिया। हिसाब का बखेड़ा तो मिट गया, किन्तु सिंह जी ने रिच साहब से दूसरा पत्र लिखवाया, जिसमें यह आज्ञा दी गई थी कि मुझे आश्रम के

सम्बन्ध में कोई कार्यवाही करने का अब अधिकार नहीं है, और मैं आश्रम की सारी वस्तुएँ ट्रस्टियों द्वारा अधिकार-प्राप्त रिच साहब को सौंप दूँ। इस बर्ताव से मुझे बहुत दुःख हुआ, और मैंने रिच साहब को स्पष्ट उत्तर दे दिया कि मैं भी आश्रम का एक ट्रस्टी हूँ और आपके मुवक्किलों की कोई आज्ञा मानने को तैयार नहीं हूँ। साथ ही आप से भी प्रार्थना करता हूँ कि भविष्य में आप ऐसे अपमानजनक पत्र मेरे पास भेजने का कष्ट न उठाएँ।

अभी रिच साहब से मेरी लिखा-पढ़ी हो ही रही थी कि इसी बीच में सिंह जी ने 'नेटाल मरक्युरी' में एक नोटिस छपवाकर जाहिर किया— मुझे जो आश्रम के ट्रस्टियों की ओर से मुख्तार-नामा दिया गया था, वह रद्द किया जाता है। सिंह जी के एक मित्र ने इस नोटिस की नक़ल 'इण्डियन ओपिनियन' में भी छपवा दी। इस नोटिस को देखकर मेरे विस्मय की सीमा न रही; क्योंकि मुझे ऐसा कोई मुख्तारनामा नहीं दिया गया था, और न उसकी मुझे कोई आवश्यकता ही थी। यह सब केवल मुझे बदनाम करने के लिए षड्यन्त्र रचा गया था। नोटिस के विषय में मैंने रिच साहब से जवाब तलब किया, किन्तु उन्होंने लिखा कि इस नोटिस की उन्हें खबर नहीं है और उन्होंने सिंह जी को यही सम्मति दी है कि वे डरबन जाकर इस बखेड़े को सदा के लिए तय कर आएँ। जब नोटिस का असली भेद 'इण्डियन ओपिनियन' के तत्कालीन सम्पादक मि० ए० एच० वेस्ट साहब को मिला, तो

वे बड़े खिन्न हुए। उन्होंने पत्र में उस नोटिस का प्रतिवाद प्रकाशित किया, और मुझे अपनी एक चिट्ठी में लिखा—यह आश्चर्य की बात है कि 'नेटाल-मरक्युरी' में ऐसा निराधार नोटिस कैसे छपा ? यह तो निश्चित है कि किसी ने पैसे देकर छपवाया है। मैं नहीं समझता कि मैं किस रूप में आपकी सहायता करूँ, किन्तु यदि मैं आपकी कोई सेवा कर सकता हूँ, तो आप अवश्य मुझे सूचित करें।

ख़ैर, रिच साहब की सलाह मानकर सिंह जी दरबन आ पहुँचे और ८ जुलाई सन् १९१७ ई० को हिन्दी-आश्रम पर सार्वजनिक सभा की योजना भी कर डाली। मैंने उनको बहुत समझाया कि ऐसा करना नियम-विरुद्ध है। आप केवल ट्रस्टी और प्रबन्ध-कारिणी समिति (Managing Committee) की बैठक में मेरे विरुद्ध अभियोग उपस्थित कीजिए। यदि मैं दोषी सिद्ध हो जाऊँ, तो उचित दण्ड ग्रहण करने को तैयार हूँ। पहले तो सार्वजनिक सभा में ऐसे मामलों का निर्णय ही नहीं हो सकता; और दूसरी बात यह है कि जो लोग आश्रम के नियम-विहित सदस्य नहीं हैं, उन्हें उस मामले में सम्मति देने का अधिकार ही क्या है ? किन्तु सिंह जी कहाँ मानने वाले थे ? मेरे धार्मिक और राजनीतिक विचारों के विरोधी उनके गुट्ट में जा मिले थे और यह बात पक्की हो गई थी कि नियम और मर्यादा जाय जहन्नम में; बस आश्रम पर दख़ल जमा लिया जाय

कुछ न्यायशील और निष्पक्ष व्यक्ति भी पधारे। सभा का श्रीगणेश हुआ और सभापति चुनने का प्रसङ्ग आया। सिंह जी के कुछ हिमायतियों ने खुद सिंह जी को ही सभापति बनाने का प्रस्ताव किया, किन्तु बैरिस्टर पत्तर ने इसका विरोध करते हुए कहा—भला यह कहाँ का न्याय है कि जो आदमी मुद्दई के रूप में आया है, वही न्यायाधीश के आसन पर भी बैठे।

इस पर लालबहादुर सिंह के मुँह से निकल पड़ा—मैं मुद्दई के रूप में नहीं आया हूँ; बल्कि पब्लिक को हिन्दी-प्रचार की रिपोर्ट सुनाना चाहता हूँ

बैरिस्टर पत्तर ने कहा—बहुत अच्छा। तब तो आप ही आज के प्रधान वक्ता हैं, इसलिए किसी दूसरे को सभापति चुना जाना और भी आवश्यक है! अन्ततः श्री० एस० रामटहल सभापति चुने गए और श्री० बद्रीउदित सामयिक मन्त्री।

सभापति की आज्ञा से सिंह जी उठे, और लगे मुझपर अनावश्यक और अप्रासङ्गिक आक्षेप करने। बैरिस्टर पत्तर ने उनको रोका और पूछा—आप तो आए थे पब्लिक को हिन्दी-प्रचार की रिपोर्ट सुनाने, फिर यह सब वाहियात बातें क्यों बक रहे हैं? अगर भवानीदयाल जी से आपका कोई मतभेद है, तो उसका निर्णय ट्रस्टीज़ और कार्यकारिणी समिति की संयुक्त बैठक में होना चाहिए।

सिंह जी आगा-पीछा सोचे बिना कह बैठे—वहाँ मेरी क्या चलेगी?

इस पर बड़ी हँसी हुई। सिंह जी परिस्थिति, प्रसङ्ग और प्रस्तुत विषय का ख़्याल किए बिना अपने भाषण में 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा' जोड़ने लगे, किन्तु सभापति महाशय भी ऐसे थे, जिन्हें विषय और विषयान्तर का कोई ज्ञान नहीं था। मेरे प्रेमी भी अब अधिक सहन न कर सके, और 'घूँसे का जवाब जूते' से देने को तैयार हो गए। हुल्लड़ मच गया और सिंह जी अपने पक्षपातियों के साथ वहाँ से 'नौ-दो ग्यारह' हुए। इस सभा का पूरा विवरण १४ जुलाई के 'धर्मवीर' में छपा था।

सिंह जी अपने इस कृत्य पर ऐसे लज्जित हुए कि उन्होंने फिर कभी मुझसे छेड़छाड़ नहीं की, किन्तु साथ ही दो ट्रस्टियों सहित आश्रम से किनारा कस गए और आश्रम का सारा भार मुझपर ही आ पड़ा। मैंने भी अपने घर का खाकर सन् १९१९ ई० के आरम्भ तक आश्रम में विद्यालय और पुस्तकालय चलाया और फिर सारा भार कार्यकारिणी समिति को सौंपकर आश्रम से सदा के लिए पृथक् हो गया। आज भी यह आश्रम खड़ा है, पुस्तकालय क़ायम है, और कुछ बच्चे मातृभाषा की शिक्षा भी प्राप्त करते हैं।

इक्तीसवाँ परिच्छेद

इतिहास-रचना और पत्र-सम्पादन
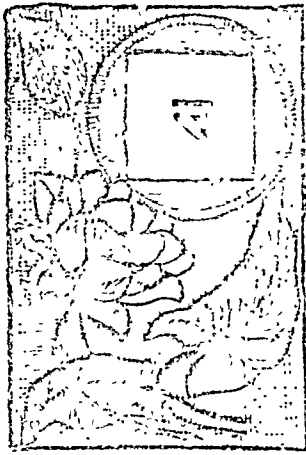
न् १९१६ ई० के प्रारम्भ में मेरा लिखा हुआ 'दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास' प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशक थे—सरस्वती-सदन, इन्दौर के अध्यक्ष श्री० द्वारिकाप्रसाद जी सेवक। इस इतिहास को मैंने सत्याग्रह-युद्ध के पश्चात् ही सन् १९१४ ई० में लिखा था, और पहली जून को भारतवर्ष में प्रकाशनार्थ भेज भी दिया था। कई प्रकाशकों के हाथ का खिलौना होते हुए अन्त में यह इतिहास सेवक जी के पास पहुँचा और उन्होंने उस योरोपीय महाभारत के युग में—सब वस्तुओं के अत्यधिक मँहगी होने पर भी बहुत धन खर्च करके इसको छपवा दिया। इसमें साठ चित्र भी छपे, जिनके अधिकांश ब्लॉक 'इण्डियन-ओपिनियन' के प्रधान सम्पादक मित्रवर पोलक साहब की कृपा से प्राप्त हुए थे। इस इतिहास की पहली प्रति उत्ताल-तरङ्ग-वाहिनी भगवती गङ्गा के पवित्र तट पर स्थित गुरुकुल काँगड़ी के वार्षिकोत्सव पर पूज्य

महात्मा गाँधी के कर-कमलों में समर्पित की गई। यद्यपि हिन्दी में पुस्तक लिखने का यह मेरा पहला ही प्रयास था, तो भी भारतीय समाचार-पत्रों के सम्पादकों ने इसकी उच्चतम समालोचना करके मेरे उत्साह को बढ़ाया और भविष्य में साहित्य-सेवा करने के लिए मुझे आशीर्वाद दिया। ट्रान्सवाल की एक सार्वजनिक सभा में प्रवासी-भाइयों ने मेरी इस तुच्छ सेवा की सराहना की, और अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ देकर मुझे सम्मानित किया।

इस इतिहास के विषय में एक बड़ी अप्रिय बात हो गई, उसी का वर्णन करने के लिए मुझे यह प्रसङ्ग छेड़ना पड़ा है। यद्यपि इस पुस्तक की मार्त्तण्ड, आर्यावर्त्त, सम्मेलन-पत्रिका, जैन-प्रभात, कन्या-मनोरञ्जन, सुधानिधि, नज़ारा, हिमालय, वैदिक मेगज़ीन, जयाजी-प्रताप, धर्मवीर, अभ्युदय, आर्यमित्र, भारतमित्र, प्रकाश, हिन्दी-केसरी, प्रताप, हिन्दी-चित्रमय जगत्, भारतोदय, प्रेम, सद्धर्म्म-प्रचारक, हिन्दी-समाचार इत्यादि पत्रों ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की, किन्तु सुप्रसिद्ध 'सरस्वती' में जो समालोचना निकली, उससे प्रकाशक महाशय को बहुत दुःख हुआ। 'सरस्वती' की समालोचना इस प्रकार थी :—

"कुछ समय हुआ, दक्षिण अफ्रिका के 'इण्डियन ओपिनियन' नामक पत्र का एक विशेषाङ्क (Golden Number) निकला था। उसमें भी इसी सत्याग्रह का इतिहास था, जो इस समालोच्य पुस्तक में है। उसमें भी प्रायः वही चित्र थे जो इसमें हैं। वह अङ्क अङ्गरेज़ी में

था और यह पुस्तक हिन्दी में है। परन्तु इस पुस्तक के प्रकाशक का कथन है कि उस अङ्क के निकलने से बहुत पूर्व यह पुस्तक लिखी जा चुकी है। अस्तु, इस पूर्व-लिखित पर पश्चात् प्रकाशित पुस्तक से हिन्दी की कुछ भी हानि नहीं है। पुस्तक में अनेक सुन्दर चित्र हैं, उनमें से कई-एक 'सरस्वती' में निकल भी चुके हैं। पुस्तक में क्या है, यह इसका नाम ही बता रहा है। जिन्हें इसके विषय में विशेष बातें जानने की इच्छा हो, वे 'इण्डियन ओपिनियन' के विशेषाङ्क के आधार पर प्रकाशित वह सचित्र लेख देखें, जो सरस्वती में निकल चुका है।"

इस समालोचना में मूलतः कुछ भ्रम है। वास्तव में 'इण्डियन ओपिनियन' के विशेषाङ्क और इस इतिहास के पाठ्य-विषय से कोई सम्बन्ध नहीं। विशेषाङ्क में विशेष व्यक्तियों के विशेष लेख थे और इसमें था दक्षिण अफ्रिका का संक्षिप्त इतिहास। एक में विचारों का संग्रह था, और दूसरे में घटनाओं का; एक में सत्याग्रह-सिद्धान्त का वर्णन था और दूसरे में उसके परिणाम का। दोनों में यह अन्तर स्पष्टतः विद्यमान था। यह कहना सत्य ही का पुनरुल्लेख करना है कि अलबत्ता यह इतिहास इतना संक्षिप्त था कि बहुत सी आवश्यक घटनाएँ छूट गई थीं। इस विषय पर 'इण्डियन ओपिनियन' की सम्मति ही सर्वोपरि मानी जा सकती है, जो इस प्रकार है:—

"'दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास' की एक प्रति हमें अवलोकनार्थ मिली है। भारतीयों ने सात वर्ष तक सत्याग्रह का

प्रख्यात युद्ध चलाया था। ऐसी महान् लड़ाई का सम्पूर्ण इतिहास लिखने का काम भी बड़ा महान् है। हमने इस हिन्दी-इतिहास को पढ़ा है। इस पुस्तक में महान् सत्याग्रह-संग्राम का पूर्ण और श्रेष्ठ चित्र खींचा गया है, ऐसा हम नहीं कह सकते। तो भी युद्ध को सामान्य रूप से देखते हुए साधारणतया ठीक विचार प्रकट किया गया है। युद्ध के तृतीय भाग का वर्णन विस्तारपूर्वक हुआ है। हड़ताल का और हड़तालियों पर गुजरे हुए अत्याचारों का वर्णन बहुत अच्छी तरह किया गया है। युद्ध के अन्तिम भाग में दक्षिण अफ्रिका के भारतीयों ने जिस आत्मबल का परिचय दिया था, वैसा ही परिचय ट्रान्सवाल में जिस समय ख़ूनी क़ानून के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था, उस समय भी वहाँ के भारतीयों ने दिया था। एम्पायर थियेटर की वह स्मरणीय सभा, जिसमें क़ानून को मञ्जूर न करके जेल जाने का प्रस्ताव पास हुआ था; क़ानून के विरुद्ध एशियाटिक ऑफ़िस का वीरतापूर्वक बहिष्कार; स्वयं-सेवकों की सेवाएँ; सरकार का यह भगीरथ-प्रयत्न कि किसी प्रकार भारतीय रजिस्टर में नाम दर्ज करा लें, और उसमें निष्फलता; भारतीयों की जेल-यात्रा; सरकार के साथ सन्धि; वचन-भङ्ग और सत्याग्रह का पुनर्नाद; विलायत और भारत शिष्ट-मण्डल भेजने के लिए सभ्यों का निर्वाचन; सरकार को ख़बर मिलते ही सभ्यों की गिरफ़्तारी; अकेले पोलक साहब की भारत-यात्रा; वहाँ उनके महान् काम; विवाह का प्रश्न इत्यादि महत्वपूर्ण विषयों को या तो छोड़ दिया गया या बहुत संक्षेप में वर्णन किया गया है। उसपर भी पुस्तक

मनोरञ्जक है, ऐसा कहने में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है।" इस सम्मति पर ध्यान देकर मैंने इतिहास के द्वितीय संस्करण में कोई भी आवश्यक विषय को नहीं छोड़ा। इसलिए पुस्तक का कलेवर पहले की अपेक्षा दुगुना-तिगुना हो गया।

'सरस्वती' के सम्पादक थे पूज्य पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी और इतिहास के प्रकाशक थे 'नवजीवन' सम्पादक श्री० द्वारिका-प्रसाद जी सेवक। समालोचना प्रकाशित करने से पहले यदि द्विवेदी जी विशेषाङ्क और इतिहास को एक सरसरी दृष्टि से भी देख गए होते, तो मुझे विश्वास है कि ऐसी आलोचना 'सरस्वती' में न निकलती। यदि द्विवेदी जी ने ऐसा लिख ही दिया, तो भी वे वयोवृद्ध और ज्ञान-वृद्ध होने के कारण हमारे विशेष श्रद्धा के पात्र हैं। उनकी सम्मति को विनयपूर्वक निराधार ठहराना एक बात है, और उनपर अनुचित रूप से आक्रमण करना दूसरी। सेवक जी अपने क्रोध को सँभाल न सके और क्रोध के वशीभूत होकर मनुष्य जो कुछ कर डालता है, वही सेवक जी ने भी किया। आपने 'नवजीवन' में 'सरस्वती की ईमानदारी का नमूना' शीर्षक एक टिप्पणी प्रकाशित की और उसमें पूज्य द्विवेदी जी का जिन शब्दों में सत्कार किया गया, उसे मैं निन्दनीय और लज्जाजनक कहे बिना नहीं रह सकता। उसका एक-एक शब्द दिल में चुभने वाला था, और मैं समझता हूँ कि यदि सेवक जी अपने उन शब्दों पर पुनर्विचार करेंगे, तो उन्हें भी अपनी उस टिप्पणी के लिए खेद हुए बिना न रहेगा। युवकों का आत्म-संयम और बड़ों के

प्रति श्रद्धा ही सर्वोत्तम गुण है। मैं स्वीकार करता हूँ कि मैंने भी कभी-कभी अपने विचार के विरोधियों के लिए ऐसे-ऐसे अपशब्दों का प्रयोग किया है; जिस पर आज मैं स्वयं लज्जित हो रहा हूँ। इसलिए सेवक जी मेरे इस स्पष्ट वक्तव्य के लिए क्षमा करें, क्योंकि आज मैं अपने और अपने मित्रों के उचित-अनुचित कामों की सफ़ाई देने के लिए नहीं, किन्तु अपने सारे दोषों को सार्वजनिक रूप से स्वीकार कर उसके लिए पाश्चात्ताप करने बैठा हूँ। उस मर्मभेदी टिप्पणी से द्विवेदी जी का कुछ नहीं बिगड़ा—एक बच्चे के अपशब्द से किसी वृद्ध का महत्व नहीं घट जाता; किन्तु हाँ, बच्चे की उच्छृङ्खलता उसे उस मार्ग में ले जाती है, जिसमें पतन की गहरी खाई है। मुझे दुःख है, लज्जा है और ग्लानि है कि मेरी ही पुस्तक के लिए ऐसी अप्रिय घटना घटी। यद्यपि उस टिप्पणी से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था, तो भी जिस पुस्तक के सम्बन्ध में ऐसी टिप्पणी छपी, उसके लेखक के नाते मैं पूज्य द्विवेदी जी से क्षमा की याचना करता हूँ।

अब मेरे पत्र-सम्पादन की रामकहानी सुनिए। दरबन के निकटवर्ती स्प्रिङ्गफ़ील्ड से हिन्दी और अङ्गरेजी में 'धर्मवीर' नाम का एक साप्ताहिक समाचार-पत्र प्रकाशित होने लगा था। इस पत्र के प्रवर्त्तक और अध्यक्ष थे—श्री० आर० भल्ला। इन्होंने सन् १९१२ ई० के हिन्दू-सम्मेलन में पत्र निकालने की प्रतिज्ञा की थी, और ता० २६ फ़रवरी सन् १९१६ ई० को आप पत्र का प्रथमाङ्क निकालने में कृतकार्य हुए। इसमें सन्देह नहीं कि 'धर्मवीर' इनके

एक बड़े त्याग का फल था। इनके विचार आर्य-सामाजिक थे, इसलिए पत्र का नाम आपने स्वर्गीय प० लेखराम की स्मृति में 'धर्मवीर' रक्खा। अङ्गरेजी-अंश के सम्पादक बैरिस्टर एस० आर० पत्तर थे, किन्तु हिन्दी-अंश के सम्पादन में बड़ी कठिनाई होती थी। भल्ला जी उर्दू और साधारण अङ्गरेजी जानते थे, इसलिए आप जो कुछ लिखते सो सब उर्दू में ही और आपके साथी श्री० मेहरचन्द उसका हिन्दी-अनुवाद किया करते। इस प्रकार हिन्दी-भाग का सम्पादन हुआ करता, और लेख भी बाबा आदम के ज़माने वाले छपते। सच बात तो यह है कि बेचारे भल्ला जी कोई पत्रकार तो थे नहीं, उनका जीवन व्यापार में व्यतीत हुआ था फिर उनकी शैली पर टीका-टिप्पणी करना तो निष्प्रयोजन है। भल्ला जी के इस त्याग और सेवा का मैं आदर करता हूँ। इस बात पर प्रायः लोग हँसा करते कि भल्ला जी को अपने लिखे हुए लेखों की प्रशंसा करने-कराने में बहुत मज़ा आता है, किन्तु इसमें हँसने की कौन सी बात है। कहा भी है :—

निज कवित्त केहि लाग न नीका।
सरस होय अथवा अति फीका॥

यद्यपि पत्र में जो कुछ छपता था, उससे मेरी सहमति न थी; तो भी पत्र के प्रति प्रारम्भ से ही मेरी सहानुभूति थी, क्योंकि सोए हुए हिन्दी-भाषियों को जगाने के लिए एक हिन्दी-पत्र की बड़ी आवश्यकता थी। भल्ला जी ने सन् १९१६ ई० में पत्र का जो

ऋषि-अङ्क निकाला था, उसे सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने में मैंने पूरा योग दिया था। अन्ततः भल्ला जी ने मुझसे सम्पादन का भार ग्रहण करने के लिए अनुरोध किया, जिसे मैंने स्वीकार कर लिया और सन् १९१७ ई० के प्रथमाङ्क से सम्पादन भी शुरू कर दिया।

भल्ला जी ने मेरी स्वाधीनता में कभी कोई बाधा नहीं दी, लेकिन एक बार वे मानहानि के मामले में फँसकर माफ़ी माँग चुके थे, इसलिए मेरे लेखों पर दृष्टि अवश्य रखते और छपने से पहले एक बार पढ़वाकर सुन भी लिया करते थे। इसमें मेरी कोई आपत्ति भी न थी, क्योंकि सुन लेने के सिवाय मेरे लेखों में रद्दोबदल या काट-छाँट करने की उन्होंने कभी हिम्मत नहीं की, और लेखों को सुन लेने से मेरे साथ ही वे भी जवाबदार हो जाते थे। मैंने रङ्ग-रङ्ग के मसाले जुटाकर पत्र को ख़ूब चमकाया। हिन्दी-भाषियों में पत्र पढ़ने की ऐसी रुचि पैदा हो गई कि यदि 'धर्मवीर' समय पर न निकलता, तो पाठकों का धैर्य छूट जाता और वे बेचैन हो जाते। सन् १९१७ ई० का ऋषि-अङ्क खूब सज-धजकर निकला। इसमें बहुत से चित्र भी छपे, किन्तु एक चित्र अवश्य अरुचिकर था और वह था भी महर्षि दयानन्द का मुख्य चित्र। इस चित्र में सारे संसार के मानचित्र के मध्य में महर्षि को बैठाया गया था, यह तो उचित ही था; किन्तु उसके चारों कोने पर भल्ला जी ने अपना, मेहरचन्द जी का, डॉक्टर भारद्वाज जी का और मेरा चित्र रख दिया था। मैं समझता हूँ कि यह चित्र आत्म-प्रशंसा का निषिद्ध नमूना था। हममें से कोई ऐसा नहीं था, जो संसार के

नक़्शे के बीच में स्थिति महर्षि के चित्र के कोने पर बैठने का अधिकार रखता हो। यदि इस अङ्क में आत्मश्लाघा का यह धब्बा न होता, तो इसका महत्व अवश्य हो जाता; किन्तु भल्ला जी अपनी धुन में किसी की कहाँ सुनने वाले ? मेरा भी यह अपराध था कि मैंने इस चित्र का बलपूर्वक विरोध नहीं किया। किन्तु वास्तव में ब्लॉक बन जाने के बाद ही मुझे चित्र का रूप देखने का मौक़ा मिला। मैं जानता हूँ कि मैं इस सफ़ाई से दोष-मुक्त नहीं हो सकता, किन्तु उसके लिए पश्चात्ताप करने पर अवश्य मेरी आत्मा को कुछ शान्ति मिल रही है। इस अङ्क का मूल्य अत्यधिक अर्थात् ५ शिलिङ्ग रख दिया गया और वह स्थायी-ग्राहकों के लिए भी। अतएव अङ्क का यथेष्ट प्रचार न हो सका।

उसी समय दरबन से 'स्वराज' नाम का एक अङ्गरेज़ी साप्ताहिक पत्र निकला। यह मेरे विचार के विरोधियों के उद्योग का प्रतिफल था। इसकी स्वामिनी थी—एक लिमिटेड कम्पनी। इस कम्पनी में बहुत से प्रतिष्ठित मनुष्य भागीदार थे। पत्र के सम्पादक श्री० एस० विदेशी महाराज थे। आप बड़ी योग्यता से अपने कर्त्तव्य का पालन करते थे। जनता को यह ख़याल था कि 'धर्मवीर' और 'स्वराज' में भी भीषण संग्राम छिड़ेगा और इस लड़ाई से मनचले पाठकों को .खूब मज़ा आएगा, किन्तु श्री० महाराज की बुद्धिमत्ता से ऐसा प्रसङ्ग नहीं आने पाया। खेद है कि 'स्वराज' दीर्घजीवी न हो सका और विश्व की रङ्गभूमि पर केवल एक साल अपनी लीला दिखाकर अन्तर्हित हो गया।

इधर मेरे लेखों पर विरोधियों की बड़ी वक्रदृष्टि थी, और मैं इतना सँभालकर लिखता था कि किसी की दाल गलने न पाए। मैं बड़े सबेरे तीन मील पैदल चलकर प्रेस पर पहुँच जाता। वहाँ सारा दिन व्यतीत कर शाम को घर लौटता। इस प्रकार प्रति दिन छः मील चलने की कसरत हो जाती। प्रेस के साथ ही भल्ला जी की एक छोटी सी दूकान थी, उसी के एक कोने में मेरा कार्यालय था। जब भल्ला जी किसी कार्यवश दरबन चले जाते, तो मैं उनके ग्राहकों को सौदा भी बेच दिया करता। इसके बदले में उनसे केवल जेब-खर्च के वास्ते दो पाउण्ड मासिक लेता था। यदि इसका नाम 'वेतन' हो, तो इस वेतन में नेटाल में एक मज़दूर भी नहीं मिल सकता। मुझे केवल यही चिन्ता लगी रहती कि 'धर्मवीर' किसी तरह अपने पाँवों पर खड़ा हो जाय।

सन् १९१७ ई० के आरम्भ में मैंने पाठ्य-विषय को और भी आकर्षक बनाने के अभिप्राय से 'त्रिलोकी का पोथा' नामक लेखमाला का श्रीगणेश किया। यह लेखमाला हास्यरस से सराबोर रहती। इससे पत्र की रोचकता और भी बढ़ गई। कितने विनोदी स्वभाव के मनुष्य तो ख़ासकर इसी लेखमाला को पढ़ने के लिए 'धर्मवीर' ख़रीदने लगे। जब इसका आठवाँ अध्याय निकला, तो वह ओवरपोर्ट की रामायण-सभा वालों को आपत्ति-जनक प्रतीत हुआ। यद्यपि वह अध्याय किसी संस्था विशेष को लक्ष्य करके नहीं लिखा गया था, तो भी उसमें कुछ ऐसी बातें थीं, जिसे रामायण-सभा वाले अपने ऊपर घटाते थे। उस लेख में

उन्हें मानहानि का दावा करने के लिए कुछ मसाला मिल गया, और उन्होंने दरबन के एक प्रसिद्ध वकील द्वारा अध्यक्ष और सम्पादक के नाम से नोटिस भेजा। मैंने रामायण-सभा के कुछ सदस्यों को समझाया कि इस लेख पर आपत्ति करना सभा के हक़ में अच्छा न होगा—उसमें लिखी हुई बातों को अपने ऊपर ओढ़ लेना तो और भी बुरा है। इससे सभा की प्रतिष्ठा बढ़ेगी नहीं, बल्कि लोगों में और भी भ्रान्तिमूलक विचार फैलेंगे; किन्तु सभा वाले इस सुयोग को हाथ से जाने देना नहीं चाहते थे। हिन्दुओं में 'अपनी नाक कटाकर दूसरे का अपशकुन' करने वाली कहावत प्रचलित ही है—यदि सभा की हानि होती है तो होने दो; किन्तु मुझे तो एक बार तङ्ग किया जा सकता है, और यदि मामला सिद्ध हो गया तो नीचा भी दिखाया जा सकता है। उस समय दरबन के श्री० गुलाबसिंह ने इस मामले को अदालत तक न जाने देने के लिए बड़ी दौड़-धूप की और एक सभा भी इकट्ठी कर आपस में सुलह कर लेने के लिए पूरा बल लगाया।

इस सभा में यदि भल्ला जी अपने दिमाग़ को ठण्ढा रख सकते, तो शायद मामला निबट जाता। रामायण-सभा के सभापति श्री० रामावतार लम्रवर्ती का यह कथन था कि उस लेख के लिए मैं पत्र में खेद प्रकट कर दूँ, और ऐसा करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं थी। मामला एक प्रकार से तय हो चुका था; लेकिन इसी बीच में भल्ला जी की कोपाग्नि भड़क उठी, और आपने पत्र के अध्यक्ष की हैसियत से बड़े जोरों से घोषणा की कि मैं खेद

प्रकाशित करने के लिए तैयार नहीं हूँ, और इस मामले को सुप्रीम-कोर्ट तक लड़कर चैन लूँगा। बस, सारा गुड़ गोबर हो गया। विवश होकर रामायण-सभा वालों ने समन्स भेजे। अब तो भल्ला जी के हाथ-पैर फूल गए, और लगे आप बगलें झाँकने। भल्ला जी बात करने में इतने वीर हैं और समय पड़ने पर इतने निर्बल, यह मुझे पहले ही पहल अनुभव हुआ। आप मुझे समझाने लगे—देखिए, मैं लड़ने से नहीं हटता; लेकिन क्या करूँ? इस वक़्त मेरा हाथ बिलकुल तङ्ग है। जो कुछ जमा-पूँजी थी, सो सब पत्र में लग चुकी। अब मैं मामले लड़ने के वास्ते पैसे कहाँ से लाऊँ?

इस बात से मुझे मर्मान्तक पीड़ा हुई और मैंने कहा—सुलह की सब बात क़रीब-क़रीब तय हो चुकी थी, लेकिन उस समय तो आपने एक भी न मानी। अब आप चाहते क्या हैं?

भल्ला जी—यदि आप लड़ सकते हैं, तो लड़ें और इसके लिए जनता से सहायता माँगें, लेकिन मुझमें तो लड़ने की ताक़त नहीं है।

मैं—यह तो एक प्रकार से मेरे साथ विश्वासघात है। इससे तो अच्छा यही था कि उसी वक़्त सुलह कर ली जाती। यदि आप लड़ने की ताक़त नहीं रखते हैं, तो मैं भी जनता से सहायता की याचना करना उचित नहीं समझता।

भल्ला जी—तब ऐसी कोशिश कीजिए कि किसी प्रकार सुलह हो जाय।

मैं—सुलह तो हो ही जायगी, किन्तु वह होगी बड़ी ही लज्जाजनक और अपमानपूर्ण।

मैं अपने मित्र श्री० सत्यदेव को साथ लेकर लग्नवर्ती के घर पर पहुँचा। मैंने उनसे सुलह कर डालने के लिए बहुत अनुनय-विनय की, किन्तु वे ऐसे कठोर दिल के आदमी थे कि मुफ्त में सुलह करना नहीं चाहते थे, और क्षमा-पत्र के साथ कुछ सुवर्ण-मुद्रा भी रखा लेना चाहते थे। इनके एक साथी तिलकधारी महाशय थे, और इनकी सम्मति के बिना लग्नवर्ती कुछ कर डालने का साहस नहीं रखते थे। खैर, बहुत-कुछ प्रयत्न करने पर सन्धि तो हो गई। सन्धि क्या हुई मानो भल्ला जी की कृपा से मुझे अपमान का एक कड़ुवा घूँट पीना पड़ा। लगभग बीस पाउण्ड हर्जाना देना पड़ा, जिसका आधा मुझसे वसूल किया गया, क्योंकि सम्पादक की हैसियत से समन्स में मेरा भी नाम दर्ज था। इसके अतिरिक्त क्षमा भी माँगनी पड़ी। अब इस पत्र का सम्पादक बने रहना मेरे लिए असह्य हो गया और ता० ९ अगस्त सन् १९१८ ई० के 'धर्मवीर' में जहाँ एक ओर 'क्षमा-याचना' प्रकाशित हुई, वहाँ दूसरी ओर 'मेरा अन्तिम निवेदन' भी छप गया। इस प्रकार एक वर्ष सात मास 'धर्मवीर' की सेवा कर मैं अलग हुआ और श्री० मेहरचन्द जी सम्पादक बन गए। यद्यपि सार्वजनिक रूप से मैं सम्पादन से पृथक् तो हो गया, तो भी दिसम्बर तक पत्र का अग्रलेख बराबर लिखता रहा। जेकोब्स की नागरी-पाठशाला की एक रिपोर्ट मुझे दिखाए बिना ही भल्ला जी ने प्रकाशित कर दी, और सच पूछा जाय तो उसी दिन से 'धर्मवीर' से मेरा सारा सम्बन्ध टूटा।

मल्ला जी एक साधारण दूकानदार थे, और सबसे मिल-जुल कर रहा करते थे; किन्तु जब से उन्होंने पत्र निकाला, तब से उनको बड़ा अभिमान हो गया। उनके जी में जो आता वही निःसङ्कोच कह डालते। मुँह पर सभी उनकी प्रशंसा कर देते, किन्तु पीठ-पीछे उनकी तारीफ़ शायद ही कोई करता होगा। मेहरचन्द जी उनको समय-समय पर समझाने का साहस करते, लेकिन इसके बदले में उन्हें झिड़कियाँ खाकर सन्तोष करना पड़ता। मल्ला जी कभी तो 'जाति-द्रोही हिन्दुओं को शिक्षा' देते और कभी जन्म-प्रवासी भारतीयों पर बुरी तरह हमला कर बैठते। मेरा यह अनुभव पक्का हो गया है कि मनुष्य के विकास में अभिमान कट्टर शत्रु है। इस बला के सिर चढ़ते ही मनुष्य की गिरावट शुरू हो जाती है। मल्ला जी और 'धर्मवीर' की जो गति भविष्य में हुई, उसका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

हाँ, 'धर्मवीर' का सम्पादन प्रारम्भ करने से पहले मैंने महात्मा गाँधी की जीवनी हिन्दी में लिखी थी और यह पुस्तक ओङ्कार-प्रेस प्रयाग में छपी। पुस्तक तो बहुत साधारण थी, किन्तु पोलक साहब ने इसकी प्रस्तावना लिखकर महत्व बढ़ा दिया था। उन्हीं दिनों सरस्वती-सदन इन्दौर से 'हमारी कारावास कहानी' भी प्रकाशित हो गई थी। 'सत्याग्रह का इतिहास' तथा इन पुस्तकों का दक्षिण अफ्रिका में भी अच्छा प्रचार हुआ।

हबशी-नेता के घर पर
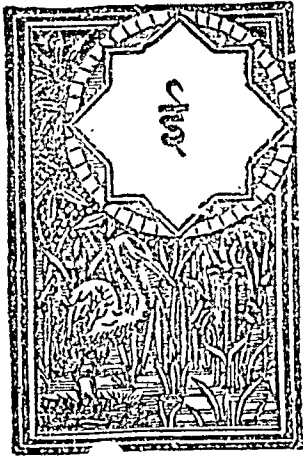
साइयों में बड़े दिन और नूतन-वर्ष का त्योहार बड़े महत्व का समझा जाता है। सब सरकारी दफ़्तरों में छुट्टी रहती है। प्रायः सभी छोटी-बड़ी दूकानें बन्द हो जाती हैं। मिहनत-मजदूरी करने वालों को भी आराम करने का मौक़ा मिल जाता है। ऐसे-ऐसे अवसरों पर कर्म-प्रधान देशों के लोग बैठे-बैठे मक्खी मारना अच्छा नहीं समझते। त्योहार आने के पहले ही वे अपने सदुपयोग-सम्बन्धी कार्यक्रम निश्चित कर लेते हैं। कोई तो अपना समय आमोद-प्रमोद में बिताते हैं, कोई अपने इष्ट-मित्रों के घर जाकर मेहमानी करते हैं

और कोई ऐतिहासिक स्थानों को देखने की इच्छा से बाहर निकल पड़ते हैं।

नेटाल-प्रान्त में भी यह महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। सन् १९१६ ई० का आगमन था। रात को सब लोग अपने-अपने बिछौने पर अचेत पड़े थे। रात्रि शव्द-शून्य एवं निस्तब्ध थी। निद्रादेवी ने सबके ऊपर अपना प्रभाव जमा रक्खा था। आधी रात के समय, जब नये वर्ष का आगमन हुआ, तब सभी कल-कारखानों में सीटियाँ बजने लगीं; घण्टाघरों में टन-टन होने लगा। इन सब ध्वनियों के मिल जाने से जो महाध्वनि हुई, उसके नाद से गगन-मण्डल गूँज उठा। सोए हुए लोग चौंककर जग पड़े। अरे यह क्या? यह ध्वनि कहाँ से आई? ज़रा ही सोचने से बात ध्यान में आ गई। लोग समझ गए कि ये सब नूतन वर्ष के शुभागमन के सङ्केत हैं। तब सब बड़े हर्ष से नववर्ष का स्वागत करने लगे।

हम लोग पहले ही से इनन्दा जाने का निश्चय कर चुके थे। तदनुसार सबेरे ९ बजे हिन्दी-आश्रम से निकल पड़े। आश्रम से तीन ही मील पर असगेनी नाम का रेलवे-स्टेशन है। साथ में आश्रम के कुछ अध्यापक और विद्यार्थी भी थे। स्टेशन पहुँचने पर मालूम हुआ कि इनन्दा जाने के लिए गाड़ी तीन बजे मिलेगी। अभी ग्यारह ही बजे थे। चार घण्टे और ठहरना था। हमारे साथियों में कई लोगों को भूख सता रही थी। स्टेशन के पास ही एक चायघर था। हम लोग उसमें जा डटे और ख़ूब

बिस्कुट, केक तथा लैमनेड उड़ाए। चायघर वाला हमारे जैसे भोजन-भट्टों को पाकर बड़ा खुश हुआ। ज्यों-त्यों करके तीन बजे गाड़ी आई। हम लोग सवार हुए। गाड़ी मनुष्यों से खचाखच भरी थी। हम लोग तीसरे दर्जे के यात्री थे। गाड़ी में दो हबशी और कुछ मद्रासी भी थे। मद्रासी लोग पान-तम्बाकू की पीक से गाड़ी के फ़र्श पर रङ्ग चढ़ा रहे थे, और परस्पर अङ्गरेजी में गिटपिट करते जाते थे। उन्हें अङ्गरेजी बोलने का अभ्यास न था, तो भी उन्हें अङ्गरेजी में ही बातचीत करना पसन्द था। बात भी ऐसी ऊटपटाङ्ग तथा गन्दी करते थे, जिसे सुनकर सभ्य जनों को घृणा हुए बिना नहीं रह सकती। शराब के नशे में चूर थे; इसलिए जो मन में आता, वही बकते थे। खैर, राम-राम रटते एक घण्टा कटा। इतने में पिनिक्स स्टेशन आ गया और हम लोग उतर पड़े।

स्टेशन से हम लोग गाँधी-आश्रम पहुँचे। इस आश्रम में वह तेज, वह छटा और वह चहल-पहल नहीं दिखाई दी, जो महात्मा जी के समय में थी। इस समय यह आश्रम जन-शून्य और सौन्दर्य-विहीन जान पड़ा। स्थान तो वही था, पर प्रभा वह न थी। जहाँ किसी समय मनुष्यों की भरमार थी, वहाँ अब इने-गिने लोग ही रह गए थे। 'इण्डियन ओपिनियन' के गुजराती सम्पादक भाई प्रागजी कार्यवश डरबन चले गए थे। इस कारण उनसे मुलाक़ात न हो सकी। भाई छगनलाल गाँधी ने हम लोगों का उचित आदर-सत्कार किया। रात को हम लोगों ने उसी घर में

विश्राम किया, जहाँ महात्मा जी रहा करते थे और दूसरे दिन प्रातः वहाँ से रवाना हो गए।

यहाँ से तीन मील की दूरी पर हबशी-नेता रेवरेण्ड जान डूबे का आश्रम है। हम लोग अब उसे देखने के लिए चल पड़े। जिस प्रकार अमेरिका के मुक्त-ग़ुलामों को आत्म-गौरव का पाठ पढ़ाने के लिए वाशिङ्गटन ने उद्योग किया था, उसी प्रकार नेटाल के हबशियों को विद्या पढ़ाने, उन्हें सभ्यता सिखाने और उनके जीवन को समयोपयोगी बनाने के लिए जान डूबे प्रयत्नशील हैं। जान डूबे और उनके भाई चार्ल्स डूबे बड़ी सरल प्रकृति के आदमी हैं। दोनों भाई ज़ुलू-जाति के उज्ज्वल रत्न हैं। जान डूबे उन दिनों 'नेटिव-नेशनल-कॉङ्ग्रेस' के प्रधान थे। इस आश्रम को बनाकर जान डूबे ने अपनी जाति की जो महान् सेवा की है, वह सर्वथा स्तुत्य है। इस आश्रम का वर्णन करने से पहले हबशी-जाति के रहन-सहन और प्राप्त इतिहास पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है, तभी इस आश्रम का महत्व जानने में सुभीता होगा।

नेटाल में हबशियों की बाण्टू-जाति बसती है। इनमें ज़ुलू लोग प्रसिद्ध योद्धा और वीर हैं। इनका क़द लम्बा, छाती चौड़ी और बदन गठीला होता है। इनकी सूरत कोयल जैसी काली, नाक बिलकुल चिपटी, होंठ बहुत मोटे, बाल भेड़ की तरह ऐंठे हुए और दाँत कौड़ी की नाईं सफ़ेद होते हैं। नगर में रहने वाले तो अब सूटेड-बूटेड जैण्टिलमैन बन गए हैं, किन्तु जङ्गलों में अभी तक हबशी लोग खुले बदन ही रहते हैं, केवल गुप्ताङ्ग ढाँकने के

लिए चमड़े की घँघरी या लँगोटी पहिन लेते हैं। मकई, कद्दू, दही, मांस इत्यादि इनका भक्ष्य पदार्थ है। घास की झोपड़ी बनाकर रहते हैं और गाय-बैल, बकरी-मुर्गी पालते हैं। इनका न कोई अपना धर्म है, और न अपनी कोई सभ्यता; किन्तु सदाचार के ये मूर्तिमान् प्रतिनिधि हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करते हैं और बुरे भाव इनके पास फटकने भी नहीं पाते। जब किसी युवक-युवती में प्रेम हो जाता है, तो युवक दस गाय उसके पिता को देकर विवाह कर लेता है। जङ्गलों में चले जाइए और इनकी सच्चाई, सादगी और सदाचार के नमूने देख लीजिए। यदि ये धर्म नहीं जानते, तो पाप भी नहीं करते—दोनों पलड़े बराबर समझिए। किन्तु हाँ, अब एक ओर जहाँ पादरियों से धर्म और गोरे-प्रभुओं से सभ्यता सीख रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर शैतान भी इनको दुराचार, व्यभिचार, शराबखोरी और पाप सिखाने से बाज़ नहीं आ रहा है।

बाण्टू लोग नेटाल में कब और कैसे आए, इतिहास को इसका कुछ पता नहीं है। सन् १४९७ ई० में जब वास्कोडिगामा नेटाल की राह से गुज़र रहे थे, तब शायद नेटाल में बाण्टू लोग ही बसते थे। अनुमान से कहा जाता है कि बाण्टू लोग यहाँ के मूल-निवासी नहीं हैं, और उत्तर की ओर से आए हैं। यहाँ के आदिम निवासी बुशमैन हैं। ये लोग क़द में बहुत छोटे होते हैं, और इनकी सूरत पीली होती है। इनको खदेड़कर होटेण्टाट लोगों ने नेटाल पर दख़ल जमाया था, किन्तु इनका भी राज्य चिरस्थायी

न हो सका। इनके पीछे बाण्टू लोग आए, और उन्होंने लड़-भिड़कर नेटाल पर अधिकार जमा लिया। होटेण्टाट लोग बुशमैनों की अपेक्षा लम्बे होते हैं, और इनके चेहरे पर भी पीलापन झलकता है। एक अङ्गरेज़ प्रोफ़ेसर का लेख मैंने 'नेटाल एडवर्टाइज़र' में पढ़ा था; जिसमें अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया गया था कि होटेण्टाट चीनी लोगों के वंशज हैं। लेखक ने बतलाया था कि चीनियों के दो जहाज़ राह भटककर अफ्रिका के इस भाग में आ लगे। इनके यात्रियों ने देश लौटने का विचार त्याग दिया। यहीं बस गए और हबशी स्त्रियों से शादी कर ली। इनकी सन्तान खोई-खोइन (Khoi-Khoin) के नाम से प्रसिद्ध हुई; किन्तु गोरों ने इन्हें होटेण्टाट कहना शुरू किया। चाहे जो कुछ हो, पर दक्षिण अफ्रिका में दो प्रकार के आदिम निवासी तो मिलते ही हैं। एक तो बिलकुल काले कलूटे और दूसरे 'मङ्गोलियन' अर्थात् पीले रङ्ग के।

सन् १८०० ई० के लगभग नेटाल में हबशी-राजा जोब का शासन था। इसके दो पुत्र थे। एक का नाम ताना था और दूसरे का गोडङ्गवाना। वृद्ध राजा ने ताना को अपना उत्तराधिकारी बनाया, किन्तु शीघ्र राज्य पा जाने की लालसा से राजपुत्रों ने पिता को मार डालने का षड्यन्त्र रचा। भण्डा फूट गया और हबशियों ने राजपुत्रों का मकान घेर लिया। सब के सब जान से मारे गए; केवल गोडङ्गवाना वहाँ से घायल होकर भाग निकला। वह दस पन्द्रह वर्षों तक अन्तर्हित रहा। अनुमान किया जाता है कि वह केप में गोराङ्गों की सेना, शक्ति और सङ्गठन का अनुभव प्राप्त कर

रहा था। जब यह अपनी मातृभूमि को लौटा, तब हबशियों ने इसे राजपुत्र समझकर खूब आगत-स्वागत किया और इसे ही राजा जोब की गद्दी पर बैठाया। इसका नाम अवश्य बदल गया और अब यह 'डिङ्गिस्वायो' अर्थात् 'भटकनार' (Wanderer) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इसने डेलगोआवे के पोर्तगीज़ों के साथ सिलसिला जारी किया, और साथ ही हबशी-सेना का सङ्गठन करना भी प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे इसने नेटाल-प्रान्त में पूर्ण अधिकार कर लिया। चाका नाम का एक व्यक्ति, जो एक हबशी-सरदार का पुत्र था और गृह-कलह के कारण भाग निकला था, आकर इस 'भटकनार' राजा की सेना में भर्ती हो गया। इसमें सेना-सञ्चालन की अद्भुत शक्ति थी, अतएव यह राजा का पूर्ण विश्वासपात्र बन गया। सन् १८१० ई० के लगभग जब चाका के पिता स्वर्गवासी हुए, तब वही .ज़ुलू-जाति का प्रधान बनाया गया। सन् १८१८ ई० के लगभग बेचारा 'भटकनार' राजा अपने शत्रु द्वारा पकड़ा जाकर जान से मारा गया और अब चाका को अपने साहस का परिचय देने का अवसर मिला। चाका युद्ध-विद्या में पूर्ण पारङ्गत हो चुका था और 'भटकनार' राजा से उसे गोराङ्गों की शक्ति और प्रभुता का भी परिज्ञान हो चुका था। अतएव उसने एक जाति बना डालने की कल्पना की और अन्य-जाति के हबशियों को भी .ज़ुलू-जाति में मिलाने लगा। उसने यह भी फ़र्मान जारी किया कि जितने नवयुवक हैं, वे विवाह करने से बाज़ आएँ और .ज़ुलू-सेना में भर्ती हों। जो इस राजाज्ञा

को भङ्ग करता, उसे मृत्यु का दण्ड मिलता। चाका बड़ा क्रूर और निर्दयी था। कभी-कभी तो वह अपनी सेना के नवयुवकों की छाती मज़बूत करने के ख़्याल से अनेक औरत, बच्चे और बूढ़े आदमियों को खुले मैदान मरवा डालता था। उसने अपनी सेना की कई टुकड़ियाँ बनाईं और सैनिकों को तीर चलाने की शिक्षा दी। चाका के वक़्त में हबशी-जाति एक फ़ौजी जाति बन गई और जो लोग मरने-मारने से डरते थे, वे सब विकट जङ्गलों में जा छिपे। ज़ुलू-फ़ौज जिधर जाती, उधर ही विजय की ध्वजा फहराने लगती।

सन् १८२४ ई० में मुट्ठीभर अङ्गरेज़ नेटाल में आए; और उन्होंने बसने के लिए चाका से जगह माँगी। उनकी प्रार्थना स्वीकृत हुई, और समुद्र-तट पर बसने की राजाज्ञा दे दी गई; किन्तु चाका ने यह साफ़ कह दिया कि गोराङ्ग रहन-सहन, सभ्यता और सम्प्रदाय को हम घृणा की दृष्टि से देखते हैं। सन् १८२८ ई० में चाका ख़ास अपने दो भाइयों के हाथ से बध किया गया। एक भाई—महलाङ्ग ने पीछे से हमला किया, और दूसरे भाई—डिङ्गान ने सामने से तीर चलाया। कहा जाता है कि उस समय दिन डूब रहा था और चाका के खून पर सूर्य की किरणें अपूर्व रङ्ग दिखा रही थीं। दम छोड़ने से पहले चाका ने कहा—तुम समझ रहे हो कि मेरे चले जाने के बाद तुम इस देश पर शासन कर सकोगे, किन्तु मैं तो यह देख रहा हूँ कि गोरे लोग आ रहे हैं और वे ही तुम्हारे स्वामी बनेंगे।

चाका की भविष्यद्वाणी सुनकर डिङ्गान बहुत भयभीत हुआ। उसने सैन्य-सङ्गठन की ओर ध्यान तो दिया, किन्तु इसमें न चाका की भाँति शक्ति ही थी और न योग्यता ही। उसी समय डच-प्रवासी केप-प्रान्त छोड़कर नेटाल पहुँचे और उनका एक शिष्ट-मण्डल जाकर डिङ्गान से मिला। पहले तो इसने शिष्ट-मण्डल वालों का .खूब आगत-स्वागत किया और नेटाल में जहाँ चाहें वहाँ बसने की आज्ञा भी दे दी; किन्तु जब शिष्ट-मण्डल बिदा होने लगा, तो इसने उसके सभ्यों को अपने पास बुलाया। वहाँ नाच-रङ्ग और मद्य-पान का पूरा इन्तजाम था। डच-प्रवासी निःशस्त्र थे; उनसे कह दिया गया था कि राजमहल में कोई हथियार लेकर नहीं जा सकता। जब महफ़िल .खूब जम गई, तब डिङ्गान के केवल एक सङ्केत से हबशियों ने डच-प्रवासियों की हत्या कर डाली। डिङ्गान का यह विश्वासघात ही उसके पतन का मुख्य कारण हुआ।

इस घटना से बोअरों में बड़ी अशान्ति फैली। इधर डिङ्गान को भी शान्ति कहाँ थी? उसने डच-प्रवासियों का नामोनिशान मिटा देने के लिए फ़ौज भेजी। उस समय डचों की जो-जो दुर्गति हुई, वह वर्णनातीत है। जब यह समाचार केप में पहुँचा, तो वहाँ के डचों में बड़ी उत्तेजना फैली और डचों का एक सङ्गठित दल बदला लेने की ग़रज़ से रवाना हो गया। बफ़ला नदी पर इस सेना से .जुलू-सेना की मुठभेड़ हुई। चार बार जुलू-सेना जान पर खेल-कर डचों पर कूदी, पर तोप के गोले और बन्दूक़ की गोलियों के

सामने उनका क्या वश चलता ? स्वाधीनता के इस प्रथम युद्ध में असंख्य हबशियों ने अपने प्राण बलिदान कर दिए, और बफलो नदी उनके लहू से लाल हो उठी। अतएव इस नदी का नाम ही 'ख़ून की नदी' (Blood river) पड़ गया है, और १६ दिसम्बर बोअरों के लिए 'डिङ्गान डे' के नाम से एक पवित्र त्योहार बन गया है। यहाँ की कुछ घटनाएँ भारत के इतिहास से साम्य रखती हैं। जिस प्रकार चाका ने मरते समय अपने उत्तराधिकारी से कहा था कि मैं देख रहा हूँ कि गोरे लोग आ रहे हैं और वे ही तुम्हारे स्वामी बनेंगे, उसी प्रकार बङ्गाल के नवाब अलीवर्दीख़ाँ ने अपने उत्तराधिकारी सिराजुद्दौला से कहा था कि मुझे मराठों का नहीं, किन्तु गोराङ्गों का बड़ा भय है और इनसे तुम अधिक सावधान रहना। यद्यपि कलकत्ते की काल-कोठरी की घटना कल्पित, निराधार और मिथ्या सिद्ध हो चुकी है; किन्तु यदि अङ्गरेज़-इतिहासकारों की बात मानी जाय, तो वह डिङ्गान के बध-गृह से कुछ समानता रखती है। यदि कहीं वैषम्य है, तो वह पलासी और 'रक्त-नदी' के युद्धों में। मातृभूमि की स्वाधीनता की बलि-वेदी पर जहाँ असभ्य, अशिक्षित और अज्ञानी हबशियों ने ख़ून की नदी बहा दी, वहाँ पलासी में भारतीय स्वाधीनता के नाम पर क़रीब दर्जन-दो दर्जन आदमी भूल-चूक से मर मिटे थे।

आगे चलकर जिस प्रकार मीर जाफ़र ने क्लाइव से मिलकर सिराजुद्दौला का नाश किया था, उसी प्रकार डिङ्गान के ख़ास भाई पण्डा ने डच-प्रवासियों से मिलकर उसे रसातल में पहुँचाया।

जिस तरह मीर जाफ़र ने अपने गोरे सहायकों को ख़ुश करने के लिए धन और धरती लुटाई थी, उसी प्रकार पण्डा भी सब कुछ गोरे-प्रभुओं के चरणों में अर्पित कर केवल ज़ुलूलैण्ड का राजा बनने में सन्तोष मान बैठा। जिस प्रकार मीर जाफ़र के जीवन में ही उसका दामाद मीर क़ासिम नवाब बन गया था, ठीक उसी प्रकार पण्डा की ज़िन्दगी में ही केचवायो ज़ुलूलैण्ड का कर्त्ता-धर्त्ता बन बैठा। जिस तरह मीर क़ासिम को अङ्गरेज़ों का अनुचित विस्तार देखकर भय हुआ था, उसी प्रकार केचवायो भी गोराङ्ग-प्रभुता की वृद्धि देखकर जलने लगा। सन् १८७२ ई० में अपने पिता की मृत्यु के बाद केचवायो अखिल तन्त्र-स्वतन्त्र हो गया। उसने अपनी सेना का सङ्गठन किया और कुछ वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्र भी मँगवाए। अङ्गरेज़ भी अचेत नहीं थे, और वे केचवायो की नीति का बड़ी सावधानी से अध्ययन कर रहे थे। इसका अन्तिम परिणाम युद्ध के रूप में प्रकट हुआ। सन् १८७९ ई० की २२ वीं जनवरी को अङ्गरेज़ों और केचवायो से प्रथम युद्ध हुआ। इस युद्ध में ज़ुलू लोग जान पर खेल गए और अङ्गरेज़ी सेना का कोई बिरला ही जीता-जागता बचा होगा। इसके बाद और भी कई छोटी-मोटी लड़ाइयाँ हुईं और बहुत से ज़ुलूओं ने स्वाधीनता के लिए अपने प्राण त्यागे। अन्तिम युद्ध में वे अङ्गरेज़ी गोले और गोलियों की आग में स्वाधीनता के नाम

पर पतङ्ग की भाँति जल मरे और संसार को दिखा दिया कि जङ्गली जाति में भी अपनी स्वतन्त्रता के लिए कितना अकृत्रिम प्रेम है। इस युद्ध में योरोप की जो सबसे बड़ी हानि हुई, वह थी संसार-विजयी नैपोलियन बोनापार्ट के एकमात्र पुत्र प्रिन्स इम्पीरियल की मृत्यु। इसकी मृत्यु से नैपोलियन के वंश का दीपक ही बुझ गया। सन् १८८० ई० में नैपोलियन की पत्नी उस स्थान को देखने के लिए नेटाल पधारी थीं, जहाँ उनकी एकमात्र आशा ने सदा के लिए आँखें मूँद ली थीं। अन्त में केचवायो पकड़ गया और केप-टाउन में नज़रबन्द रक्खा गया। इस युद्ध के बाद ज़ुलूलैण्ड सम्पूर्णतः अङ्गरेज़ों के हाथ में आ गया। केवल नाममात्र के लिए डिने-ज़ुलू को राजा बना दिया गया था; किन्तु सन् १८८९ ई० में उस पर भी राज-द्रोह का मामला चला और उसे दस वर्ष का कारावास-दण्ड देकर सेण्ट-हैलीना भेज दिया गया, जहाँ नेपोलियन ने घुल-घुलकर प्राण त्यागे थे। अब तो ज़ुलूलैण्ड पर अखण्ड अङ्गरेज़ी राज्य है।

इस अभागी हबशी-जाति के लिए सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि गोराङ्गों ने दक्षिण अफ्रिका को अपना उपनिवेश बना लिया है, इससे हबशियों की स्थिति बहुत बुरी हो गई है। अब तो दक्षिण अफ्रिका गोराङ्गों की मातृभूमि बन रहा है, और जिनकी वह असली मातृभूमि है, उनका उस पर कोई अधिकार नहीं है। राज्य-विधान या नगर-व्यवस्था में उनकी कोई पूछ नहीं है। कोई भी सरकारी नौकरी उन्हें नहीं मिल सकती। केवल अपने भाई-

बन्धुओं को हथकड़ी पहिनाने के लिए पुलिस हो सकते हैं। व्यापार में गोरे और हिन्दुस्तानियों के सामने टिक ही नहीं सकते। सब की सब अच्छी और उपजाऊ जमीन गोरों की बपौती हो चुकी है, और उनके रहने के लिए खास-खास 'लोकेशनों' की सृष्टि हो गई है। उनके लिए अब केवल दो ही उपाय रह गए हैं—या तो गोरों की ग़ुलामी करें या भूखों मरें। कभी-कभी इनमें असन्तोषाग्नि की दो-चार लपटें निकल पड़ती हैं; किन्तु वह बड़ी बेदर्दी से बुझा दी जाती हैं। सन् १९०६ ई० में जुलू-बगावत के नाम से इन पर जो अत्याचार किए गए थे, उसकी कथा पढ़-सुन कर हृदय काँप उठता है। इतनी बुरी स्थिति में भी कुछ नेता उज्ज्वल भविष्य की आशा से अपनी जाति को उठाने में लगे हुए हैं, और उनमें जान डूबे का स्थान बहुत ऊँचा है। अब आइए, इनके आश्रम का दर्शन करें।

पहले विद्यालय में चलिए। यह विद्यालय डूबे की शिक्षा-प्रियता और त्याग का नमूना है। इसमें अङ्गरेजी और जुलू-भाषा की पढ़ाई होती है। इसमें साहित्य, गणित, भूगोल, विज्ञान आदि आवश्यक और उपयोगी विषयों की शिक्षा दी जाती है। विद्यालय की इमारत दुमञ्जिला है। नीचे विद्यालय है, और ऊपर छात्रालय, जिसमें विद्यार्थियों के रहने की बहुत सी कोठरियाँ हैं। इस पक्की इमारत को बनाने में काफी धन खर्च हुआ है। विद्यालय के विशाल भवन में एक ओर डीने-जुलू और दूसरी ओर जान डूबे के चित्र लटकाए गए हैं। इन दोनों के बीच में भारत-सपूत

महात्मा गाँधी और स्वर्गीय माननीय गोखले के चित्र शोभा दे रहे हैं। इससे पता लग सकता है कि यहाँ के हवशियों के हृदय में भी महात्मा गाँधी के प्रति कितनी श्रद्धा है। इस विद्यालय के एक विभाग में दस्तकारी, चित्रकारी, टाइप-रायटिङ्ग, शॉर्ट-हैण्ड आदि कलाएँ सिखाई जाती हैं।

इसके पास ही कन्या-विद्यालय है। इसकी इमारत बड़े ही उत्तम ढङ्ग से बनाई गई है। यह पत्थर की बनी हुई और दुमञ्जिला है। इसे विद्यार्थियों ने ही बनाया है। इसके नीचे के भाग में पढ़ाई होती है और ऊपर के भाग में विद्यार्थिनियाँ रहती हैं। यहाँ भी ऊपर लिखी रीति से ही कन्याओं को शिक्षा दी जाती है। डूबे का यह दृढ़ विश्वास है कि कन्याओं को अशिक्षित रखने से कोई भी जाति उन्नति नहीं कर सकती। जाति के पतन और उत्थान में स्त्रियों का बहुत बड़ा भाग होता है। वे जिस साँचे में चाहेंगी, जाति को ढालेंगी। हवशियों में स्त्री-शिक्षा का यह भाव देखकर हम दङ्ग रह गए, और अपने देश के उन मनुष्यों की राय पर एक लम्बी आह निकल पड़ी, जो सभ्य होने के दावेदार होते हुए भी स्त्री-शिक्षा के विरोधी बने हुए हैं।

इसके पास ही शिल्प-विद्यालय है। इसके दो विभाग हैं। एक विभाग में बढ़ई का काम सिखाया जाता है। इसमें कुर्सी, मेज़, आलमारी आदि बनाने की कारीगरी सिखाकर विद्यार्थियों को जीविकोपार्जन के योग्य बना दिया जाता है। दूसरे विभाग में लुहारी की कला सिखाई जाती है। जान डूबे बड़े दूरदर्शी और

जाति-भक्त हैं। उनका ख्याल है कि विद्यार्थियों को शिल्प-कला की शिक्षा न देना, मानों उन्हें गुलाम बनने के लिए छोड़ देना है। आपने यह विद्यालय खोलकर हबशी-जाति की बड़ी भारी सेवा की है। इसमें शिक्षा देने के लिए एक निग्रो महाशय अमेरिका से बुलाए गए हैं।

जान डूबे पादरी भी हैं, और अपने भाइयों में ईसाई-धर्म का बराबर प्रचार करते रहते हैं। विद्यार्थियों के लिए भी आपने एक सुन्दर गिर्जाघर बनवाया है। इसके अतिरिक्त आप अङ्गरेज़ी और ज़ुलू-भाषा में एक साप्ताहिक समाचार-पत्र भी निकालते हैं। इस पत्र ने हबशी-जाति के अन्दर अच्छी जाग्रति उत्पन्न कर दी है, और हबशी लोग मनुष्यता का अधिकार समझने लगे हैं। इस प्रकार जान डूबे ने जातीय उत्थान के हरेक पहलू पर पूरा ध्यान दिया है।

आश्रम देखकर हम लोग बिदा हुए। उस समय बड़ी कड़ाके की भूख लगी थी। रविवार का दिन था। सब दूकानें बन्द थीं। पास में खाने की कोई चीज़ न थी। थोड़ी ही दूर पर एक दूकान मिली, हम लोग भूख की ज्वाला बुझाने की ग़रज़ से वहाँ पहुँचे। दूकान वाले से बहुत प्रार्थना की कि हम लोग बहुत भूखे हैं, दाम लेकर कुछ खाने को दे दीजिए; किन्तु उस हृदय-हीन दूकानदार ने एक न सुनी—दूकान तक न खोली। उस समय हमारे साथियों की क्रोधाग्नि इतनी भड़क उठी, जिसका हदोहिसाब नहीं। मैंने उन्हें समझा-बुझाकर किसी तरह शान्त किया। वहाँ से आगे बढ़ने पर फिर एक दूकान मिली। इस दूकान में खाने-

पीने की पूरी व्यवस्था हो गई। डबल रोटी, मुरब्बा और क्रीम-सोडा उड़ाकर हम लोग अघा गए—मुरझाया हुआ चेहरा हरा हो गया।

वहाँ से रवाना होकर हम लोग इनन्दा के जल-प्रपात (Inanda Falls) पर पहुँचे। यह बड़ा प्रसिद्ध जल-प्रपात है। दूर-दूर के लोग इसे देखने आते हैं। यहाँ आने पर हमारी सारी थकावट दूर हो गई तीन ओर पहाड़ हैं। नीचे थोड़ा सा मैदान है। एक तरफ़ के पहाड़ से अमजियाएटी नदी की अटूट धारा नीचे गिरती है, जिससे बड़े ज़ोर की 'हरहर' ध्वनि होती है। ऊपर से कोई सौ फ़ीट नीचे पानी गिरता है। यह दृश्य बड़ा ही मनोहर है। प्रकृति की छटा बहुत ही अनोखी है।

पिनिक्स के गाँधी-आश्रम से श्री० छगनलाल गाँधी, कुमारी वेस्ट आदि सज्जन और महिलाएँ भी यहाँ मनोरञ्जनार्थ आई थीं। उनके मिलाप से ख़ूब ही आनन्द आया। वे लोग बिस्कुट, आम, अनन्नास और रोटी लाए थे, जिससे उन्होंने हमारा ख़ूब ही आतिथ्य-सत्कार किया।

इनन्दा के जल-प्रपात से हिन्दी-आश्रम को आते समय राह में नारायण स्वामी का मन्दिर मिला। मन्दिर मद्रास-प्रान्त के निवासी श्री० नारायण स्वामी ने अपने ख़र्च से बनवाया है; इसलिए यह मन्दिर संस्थापक ही के नाम से विख्यात है। मन्दिर की इमारत बड़ी सुन्दर बनी है। इस प्रकार घूमते-फिरते हम लोग अपने आश्रम को लौट आए।
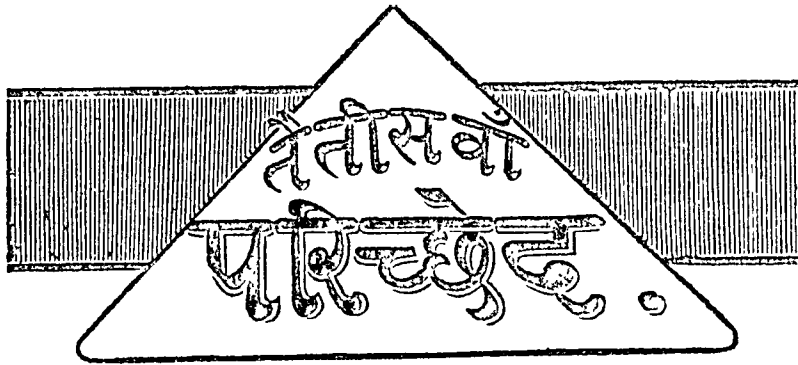
नेटाल में धर्म-प्रचार
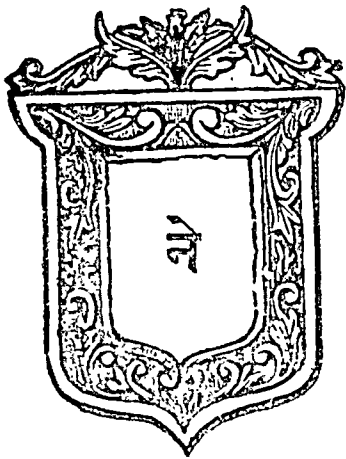
नेटाल के हिन्दुओं की धार्मिक अवस्था के विषय पर पिछले किसी अध्याय में कुछ लिखा जा चुका है। संसार में कोई सभ्य जाति ऐसी नहीं है, जो धर्म को किसी न किसी रूप में न मानती हो। यद्यपि धर्मान्धता, सङ्कीर्णता और असहिष्णुता को मैं पाप का मूल मानता हूँ, तो भी मेरा ख़्याल है कि धर्म का सच्चा स्वरूप जाने बिना मानवी जीवन का सुधार होना असम्भव है। आत्मा को पुष्ट बनाने के लिए धर्म की उतनी ही ज़रूरत है, जितनी कि शरीर के लिए भोजन की। वर्त्तमान हिन्दू-धर्म में जो बुराइयाँ घुस गई हैं, उन्हें कौन नहीं जानता? आज सभी अच्छी-बुरी रूढ़ियाँ हिन्दू-धर्म का अङ्ग बन गई हैं, और भद्दी से भद्दी कुरीतियों को भी लोग पुरातन-

धर्म या बाप-दादों की रीति के नाम से पुकारते हैं। इस अपूर्व अन्ध-विश्वास ने हिन्दुओं को अनेक विभागों में विभक्त करके विधर्मियों के आक्रमण के लिए मार्ग साफ़ कर रक्खा है।

नेटाल में जो हिन्दू शर्तबन्धी लिखाकर आए, उनकी अनेक पुरानी रूढ़ियाँ तो छूट गईं, पर अफ़सोस कि जो अच्छी रूढ़ियाँ थीं, उनका तो लोप हो गया; किन्तु जिनसे जाति का अधःपतन होता है, उनका बाल भी बाँका न होने पाया। मैंने देखा कि वैदिक-धर्म के सिवाय इनके उद्धार का और कोई उपाय नहीं है, अतएव मैंने धर्म-प्रचार का कार्य भी प्रारम्भ किया। स्थान-स्थान पर जाकर व्याख्यान देना, शङ्का समाधान करना और हवन करना मेरे प्रचार का प्रथम सोपान था। मैं चाहता था कि अभी कुछ दिनों तक इसी तरह हिन्दू-जीवन में विचार-शक्ति का प्रादुर्भाव किया जाय, किन्तु अकस्मात् एक ऐसा प्रसङ्ग आ पड़ा कि जिससे मेरे कार्य-क्रम की गति बदल गई

स्प्रिङ्गफ़ील्ड में दो मुसलमान-नवयुवक थे। दोनों माता-पिता विहीन थे। श्री० जयनारायण नामक एक हिन्दू के घर बचपन से पले थे, इसलिए हिन्दू-संस्कृति के सिवाय यह जानते ही न थे कि मुसलमानी मजहब क्या वस्तु है? हिन्दू-परिवार में रहने के कारण उनपर हिन्दुत्व का पूरा रङ्ग चढ़ गया था, इसलिए जब वे सोचते कि वे मुसलमान हैं, तब उन्हें बड़ी ग्लानि और वेदना होती। एक दिन इन युवकों ने अपने पालक जयनारायण से पूछा—क्या हम लोग किसी प्रकार हिन्दू नहीं हो सकते?

आह ! यह कैसी करुण-याचना थी, और इसमें कितनी वेदना भरी हुई थी ? जयनारायण का हृदय भर आया, और वे मेरे पास पहुँचे। मैंने शुद्धि करने की स्वीकृति दे दी। ता० १० दिसम्बर सन् १९१६ ई० को ये दोनों युवक लगभग ५०० मनुष्यों की उपस्थिति में शुद्ध किए गए। धार्मिक क्रिया में दो सनातनी ब्राह्मणों ने भी भाग लिया। मैंने उनका मुसलमानी नाम बदलकर रामपाल और शिवपाल रक्खा। शुद्धि के पश्चात् प्रीति-भोज हुआ, जिसमें लगभग २०० मनुष्यों ने शुद्ध हुए युवकों के साथ बैठकर भोजन किया। इससे एक मास पूर्व दरबन की आर्य-युवक-सभा ने लालबहादुर नान्हू को शुद्ध करके मुसलमान से हिन्दू बनाया था, किन्तु इस सार्वजनिक शुद्धि से बड़ी हलचल मच गई। मुसलमानों का अप्रसन्न होना तो स्वाभाविक ही था, किन्तु कट्टर हिन्दू भी मुझ पर बेतरह बिगड़ उठे।

"कहीं गधी से गाय बन सकती है ? भला ख़तना किया हुआ चमड़ा कैसे जुड़ सकेगा ? बाप-दादों ने क्या कभी ऐसा कुकर्म किया था ?" इत्यादि ऊटपटाङ्ग प्रश्नों की भरमार होने लगी ! मैं अपने अबोध भाइयों की इन हास्यजनक शङ्काओं का समाधान तो करता जाता था, किन्तु बाप-दादों की रीति से एक इञ्च भी इधर-उधर न हटने वाले भाइयों के सामने मेरी दलीलों की क़ीमत ही क्या थी ? उसपर तुर्रा यह कि कट्टर लोग प्रायः कहा करते कि हिन्दुस्तान में तो ऐसा कभी हुआ ही नहीं, और न हम लोगों ने कभी आर्य-समाज का नाम ही सुना। यह सब अधर्म तो यहीं

के लोगों के मग्ज़ की उपज है। इस अनोखी बात पर मुझे अफ़सोस की हँसी आया करती। ये बेचारे न तो हिन्दुस्तान के प्रगतिशील जीवन की कुछ जानकारी रखते थे, और न अख़बार ही पढ़ने का कष्ट उठाते थे। प्रत्येक मनुष्य अपने गाँव को ही हिन्दुस्तान समझता और उसके गाँव में जो अच्छी-बुरी रूढ़ियाँ प्रचलित थीं, उसे ही वह सनातन-धर्म के नाम से पुकारता। कुछ अपढ़-कुपढ़ ब्राह्मण भी उनके इस धर्म-भाव की रक्षा के लिए पूर्ण प्रयत्नशील रहते; किन्तु मुझे केवल खेद होता था उन शिक्षित और सुधार के महत्व जानने वाले भाइयों की बुद्धि पर, जो हिन्दू-जाति के पतन पर ध्यान न देकर, केवल अपढ़ लोगों से पाँव पुजवाने के लिए उनके राग में राग मिला देते, और मुझे आर्य-समाजी कहकर उपहास उड़ाया करते। गाँवों से गए हुए उन बेचारे अपढ़ भाइयों को क्या मालूम कि आर्य-समाज देश की उस महान् शक्ति का नाम है, जिसने हिन्दू-जाति की काया पलट दी है। उनके विचार में तो जो लोग मुसलमान या क्रिस्तान को शुद्ध करके अपने में मिला सकते हैं, वे उनकी श्रेणी से भी अधम एवं तिरस्कार के योग्य हैं। मेरे इस कार्य से कितने अपने बिराने बन गए, किन्तु यदि मैं सबको ख़ुश रखने की चेष्टा करता, तो सुधार-सम्बन्धी कार्यों से हाथ खींच लेना पड़ता। मेरा यह अटल विश्वास है कि समाज के लिए सुधार की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि देश के लिए स्वराज्य की। हम उस स्थिति में अब अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकते, जिस हालत में रहते आए हैं। हिन्दू-जाति को हड़प

जाने के लिए अनेक सम्प्रदाय वाले बाज़ी लगाकर खड़े हैं। यदि इस सङ्घर्ष की उष्णता से भी हिन्दुओं में जाग्रति नहीं हुई, तो यह उनके लिए केवल दुर्भाग्य की बात ही नहीं, बल्कि मौत की अमिट निशानी है।

इसके बाद ही एक छोटी सी घटना हुई, किन्तु उससे भी कट्टर लोग बहुत नाराज़ हुए। मेरे कहने से सिकौलेक के एक नवयुवक ज़ालिमसिंह ने अपने पिता की मृत्यु के बाद पिण्ड-दान न किया, और अपने इष्ट-मित्रों को बुलाकर वैदिक-विधि से हवन करा दिया और बस। इस पर कट्टरों का क्रोध और भी बढ़ गया, और वे ज़ालिमसिंह को लानत-मलामत देने लगे। एक ने कहा—ऐसे-ऐसे सपूत जब पैदा होने लगे, तो अब पितरों को पिण्डा-पानी मिल चुका।

दूसरा बोला—कलियुग है भैया, कलियुग! इस युग में जो कुछ हो जाय, सो सब थोड़ा ही है।

तीसरा बोला—राम-राम! यह ऐसा कपूत निकला कि संसार में इसके जैसा दूसरा कोई न होगा।

चौथा बोल उठा—धिक्कार है इसको! इसने बाप को न पानी दिया और न पिण्ड! भाड़ में जाय ऐसा कपूत। इतने ही से कट्टरों को सन्तोष न हुआ, बल्कि ज़ालिमसिंह कुछ दिनों के लिए जाति-बहिष्कृत भी किया गया।

इस घटना से वे वृद्ध पुरुष बहुत चिढ़े, जो मृत्यु को आलिङ्गन

करने को प्रस्तुत थे। उन्हें बड़ा भय हुआ कि यदि यह हवा बह चली, तो मरने के बाद हम लोग भी पिण्डा-पानी बिना तरसेंगे। अतएव बूढ़ों ने अपने-अपने घर के युवकों पर दबाव डालना शुरू किया कि वे मेरी सङ्गति में उठना-बैठना छोड़ दें। फल यह हुआ कि हिन्दी-आश्रम के पुस्तकालय से जो युवक लाभ उठाते थे, उनमें से बहुतों का आना-जाना बन्द हो गया। पाठशाला में बच्चों की संख्या भी घट गई। बूढ़ों की मजलिस में मैं ही चर्चा का विषय बन गया। इस विकट परिस्थिति में भी जिन युवकों ने प्रह्लाद का अनुकरण किया, वे वास्तव में मनुष्य बन गए और आज वे ही वृद्ध उनके सद्गुणों पर मुग्ध होकर उनकी प्रशंसा कर रहे हैं; किन्तु जिन युवकों ने पितृ-भक्ति का परिचय दिया, उनमें से कुछ तो चाल-चलन बिगड़ जाने के कारण जेल की हवा तक खा आए। अस्तु—

बहिष्कार का बाजार कुछ गर्म हो उठा। ज़ालिमसिंह ने पिण्ड-दान नहीं किया, अतएव बहिष्कृत हुआ। कुञ्जबिहारी-सिंह ने होली में कँदई-कीच लगाना और गाली बकना अनुचित बतलाया, इसलिए उनको भी बहिष्कृत करने का प्रस्ताव पास हो गया। शब्दी ने अपने घर पर हवन कराया, बस वह भी बहिष्कार के योग्य सिद्ध हो गया। भगवानदीन, लक्ष्मण, हीरासिंह, बोधसिंह इत्यादि युवकों ने हिन्दी-आश्रम से सम्बन्ध बनाए रक्खा, अतएव उन्हें भी 'न्यारिया' हो जाने की सनद मिल गई, किन्तु वर्ष-डेढ़ वर्ष के अन्दर ही इस कट्टरता का अन्त हो

गया, और लोगों में सुधार के विरोध करने की प्रवृत्ति कम हो गई।

इस प्रकार छोटे-मोटे सुधार तो होने लगे, किन्तु सबसे भद्दी थी विवाह-पद्धति। इसमें सुधार करने का कोई साहस नहीं करता था। सुधार के विरोधी भी इस बात से बहुत सन्तुष्ट थे, क्योंकि उनका ख़्याल था कि सुधारक चाहे हजार चिल्लाया करें, किन्तु समय आने पर पुरानी रूढ़ियों की शरण में आए बिना निर्वाह कहाँ है ? हिन्दू-विवाह-पद्धति में जो निकम्मी रूढ़ियाँ घुस गई हैं, वे ही सबसे अधिक हानिकारक हैं। अन्य अवसरों पर तो शायद ही अन्य धर्मी आमन्त्रित होकर आते हैं, किन्तु विवाहोत्सव पर सभी हित-मित्रों का जमाव हो जाता है; चाहे वे सहधर्मी हों या अन्य धर्मी। हमारी अनुचित रूढ़ियों को देखकर अन्य धर्मी हँसी उड़ाते हैं, जिससे हमारे युवकों को बड़ी लज्जा और ग्लानि होती है। यद्यपि इस देश में एक भी रण्डी नहीं है, तो भी भारतीय प्रकृति नाच बिना कहाँ चैन लेने वाली ? किसी छोकरे को नचाकर इस कमी की पूर्ति कर दी जाती है। दूल्हे का जो स्वाँग बनाया जाता है, उसे देखकर कोई भी हँसे बिना नहीं रह सकता। शरीर पर पुराने ज़माने का जोड़ा-जामा, सिर पर काग़ज़ का मौर, गले में कण्ठा, हाथ में हथकड़ा, कान में बाला और आँखों में काजल पोत दिया जाता है। जब दूल्हाराम शहर की सड़कों, रेलवे के स्टेशनों या किसी सार्वजनिक स्थान से गुज़रने लगते हैं, तब इनका रूप-रङ्ग देखकर विदेशियों और विधर्मियों की भीड़

लग जाती है। कन्या के द्वार पर हिन्दू-कुलाङ्गनाओं के मुख से निकली हुई गन्दी से गन्दी गालियाँ चाहे कुछ कट्टरों को भले ही रसमय प्रतीत होती हों, किन्तु सभ्य युवक तो लज्जा से गड़ जाते हैं। मैंने अनुभव किया कि यदि युवक-युवतियों के सामने हिन्दू-विवाह का अच्छा आदर्श न रक्खा गया, तो निकट-भविष्य में घातक परिणाम होने की सम्भावना है।

हार्टिङ्गस्प्रुट के एक झोपड़े से विवाह में सुधार का सूत्रपात हुआ। मित्रवर जीवनराम की एक कन्या थी, जिसकी अवस्था बीस वर्ष की हो चुकी थी। यह लड़की कुछ पढ़ी-लिखी थी और सुधार का महत्व समझती थी। जीवनराम ने मेरे विशेष अनुरोध से इस कन्या का विवाह वैदिक-विधि से करना स्वीकार कर लिया, और ता० ७ अप्रैल सन् १९१७ ई० को यह विवाहोत्सव निर्विघ्न पूरा भी हो गया। बड़ी बात यह हुई कि हिन्दू-धर्म के सभी सम्प्रदाय के मनुष्य इस विवाह में सम्मिलित हुए, और उन्होंने प्रत्येक कृत्य को बड़े ध्यान से देखा। बृहत् यज्ञ का अनुष्ठान और वेद-मन्त्रों के पाठ से दर्शकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। महर्षि दयानन्द-प्रणीत संस्कार-विधि के अनुसार ही सारा कार्य हुआ और किसी भी रूढ़ि को आश्रय न दिया गया। वर-कन्या ने स्वयं मन्त्र-पाठ किया, देवियों ने देश-भक्तिपूर्ण गायन गाए और आगत सज्जनों का यथायोग्य स्वागत हुआ।

इस विवाह से नेटाल भर में हलचल मच गई, और मुझे अब गालियों से सत्कार किया जाने लगा। मेरे प्रचार की सफलता देख

कर कट्टर लोग बड़े हताश हुए; और जब प्रतिकार का कोई उपाय न सूझा, तब यह कहकर सन्तोष करने लगे कि अरे भैया ! जीवन-राम तो एक शूद्र है, उसने भवानीदयाल का कहना मान लिया, किन्तु भला कोई बड़ी जाति का आदमी ऐसा करे तो ? कट्टरों की यह आशा भी मृगतृष्णा ही सिद्ध हुई । सुधार के लिए चारों ओर क्रान्तिकारी भाव पैदा हो रहे थे, और उसे रोकने का प्रयास करना उतना ही हास्यजनक था, जितना कि नदी की अटूट धारा रोकने की चेष्टा । प्रथम विवाह के एक ही मास के पश्चात् द्वितीय विवाह भी हो गया । इस बार मेरीत्सबर्ग के श्री० पदमसिंह ने अपने दो पुत्रों का विवाह सदरलैण्ड के श्री० हरदेवसिंह की कन्याओं से वैदिक-विधि से कर डाला । अब तो कट्टर लोगों के मुँह में ताले लग गए, और उन्होंने 'कलि-काल' की दुहाई देकर धैर्य धारण किया । फिर तो सुधार की ऐसी आँधी चली कि उसके सामने विरोध के घास-फूस का ठहरना कठिन हो गया । क्लेर-स्टेट के भगवानदीन ने अपना; सिडनम के ग़रीब खुशियाल ने अपनी बहिन का; दरबन के आर० भगवान् ने अपनी पुत्री का और आर्य-युवक-सभा के जीवन-धन एस० डी० शङ्कर ने अपना विवाह वैदिक रीत्यनुसार करके सुधार का रास्ता खोल दिया । विवाह के सम्बन्ध में यह एक साधारण बात हो गई कि इस बन्धन में बँधने से पहले ही कन्या-वर एक दूसरे को देख लें, आपस में बातचीत कर लें, और विवाह के लिए स्वीकृति दे दें । कट्टर लोग भी धीरे-धीरे समझने लग गए कि समाज का कोई भी नियम अटल और

अचल नहीं है, देश-काल के अनुसार उसमें परिवर्त्तन करना अस्वाभाविक और अधर्म नहीं है। यदि कोई जाति अपने सामाजिक नियमों में कोई परिवर्त्तन करने से डरती है, तो समझना चाहिए कि उसकी उन्नति की गति रुक गई है, और जो जाति अपनी बुरी से बुरी पुरानी रूढ़ियों पर अभिमान करती है, उसे तो बुद्धिभ्रष्ट समझने में कोई अत्युक्ति नहीं है।

एक ओर तो हिन्दुओं के सामाजिक नियमों में संशोधन हो रहा था, और दूसरी ओर शुद्धि का काम भी जारी था। हिन्दी-आश्रम में जान मुहम्मद की शुद्धि हुई और उसका नाम रामप्रसाद रक्खा गया। यह पहले हिन्दू था, किन्तु मुसलमानों की सङ्गति में पड़कर अपने धर्म से अलग हो गया था। इसके बाद आर्य-युवक-सभा के प्रबन्ध से मैंने ग़रीब दुबरदास, जगनन्दन, जगरूप, राजपति देवी इत्यादि कितने ही युवक-युवतियों को शुद्ध करके ईसाई से हिन्दू बनाया। टोङ्गाट, मेरीत्सबर्ग और एस्परेन्ज़ा में भी कई मुसलमान और ईसाइयों की शुद्धि हुई। हिन्दू लोग अनुभव करने लगे कि हमारे अन्दर जितनी सामाजिक निर्बलताएँ हैं, उनमें सबसे हानि-कारक यह है कि हम अपने हृदय के टुकड़े को फेंक देना जानते हैं, और उसको वापिस लाने में घबराते हैं। यह ऐसी अज्ञानता है कि हमारी जाति की जड़ हिल चुकी है, और करोड़ों भाई हमसे नेह-नाता तोड़कर अलग हो गए हैं। हमारे ख़ज़ाने का दरवाज़ा खुला हुआ है। जो चाहता है उसमें से रत्न निकाल ले जाता है और आमदनी की कोई सूरत नहीं है। इस आत्म-ज्ञान से हिन्दुओं के

भाग्याकाश में चैतन्यता-चन्द्र की जीवनदायिनी रश्मियाँ छिटकने लगीं। नेटाल में अर्द्ध-शताब्दी तक पराधीनतामय रात्रि में अपमान, कलङ्क और लज्जास्पद जीवन व्यतीत करने वाली हिन्दू-जाति के सामने उषा की वह अरुण-प्रभा दिखाई दी, जिसमें उज्ज्वल भविष्य का आशापूर्ण सङ्केत था।

एक और बड़ी भारी उलझन मेरे सामने थी, जिसको सुलझाने में मेरी बुद्धि थक गई और मुझे सफलता नहीं हुई। हबशिन या वर्णसङ्करी कामिनियों के साथ हिन्दू-युवकों का जो सम्बन्ध हो जाता है, उसके विषय में क्या किया जाय? यदि उनको शुद्ध करके हिन्दू बना लिया जाता है, तो अन्य युवकों के लिए यह दृष्टान्त-रूप हो जाता है, और यदि उन्हें इसी प्रकार छोड़ दिया जाय, तो न जाने किस घाट पर उनकी जीवन-नौका जाकर अटके? चाहे जो कुछ हो, किन्तु मैं वर्णसङ्करी युवतियों को शुद्ध करने का साहस न कर सका, और इस विषय पर जिन्होंने मेरे पास प्रार्थना-पत्र भेजे, उन्हें निराश ही होना पड़ा। अन्तर्राष्ट्रीय विवाह के पक्षपाती मेरी इस निर्बलता पर अवश्य हँसेंगे, किन्तु मुझे तो चिन्ता है उन हिन्दू-कन्याओं की, जिनकी संख्या अनुमान से अधिक बढ़ रही है, और यदि हमारे युवकों के लिए कलर्ड-कामिनियों से खुल्लमखुल्ला विवाह कर लेने का मार्ग खुल गया, तो फिर हिन्दू-कन्याओं का बेड़ापार कैसे होगा?

एक धनाढ्य क्षत्रिय महाशय के घर में जाकर देखा कि उनके एक सपूत ने अपनी विवाहिता पत्नी को त्याग दिया था और एक

काली-कलूटिन हबशिन को घर में ला बैठाया था। उससे कई बच्चे भी पैदा हो चुके हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि इनकी शादी किस जाति में होगी? शायद ही कोई सच्चा हिन्दू उनसे सम्बन्ध करना पसन्द करे, और यदि हिन्दुओं ने उन बच्चों को नहीं अपनाया, तो भगवान् ही जाने कि उनकी क्या गति होगी? गोरे लोग ही इस नवीन-जाति के सिरजनहार हैं; किन्तु बच्चे पैदा करके उन्होंने उनको अपने भाग्य पर छोड़ दिया है। इन वर्णसङ्करी लड़कियों में से कुछ तो बहुत ही सुन्दरी होती हैं, और अपने रहन-सहन, बोलचाल, वेष-भूषा और हाव-भाव में गोरी-युवतियों से टक्कर लेती हैं। अतः हमारे अङ्गरेज़ी पढ़े-लिखे कुछ युवक, जो हर दृष्टि से अङ्गरेजी चाल-चलन पसन्द करते हैं, स्वभावतः इनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। नेटाल और ट्रान्सवाल के वर्त्तमान क़ानून के अनुसार योरोपियन लेडियों के साथ भारतीयों का विवाह कर लेना नाजायज़ ही नहीं, अपराध भी है। इसी कमी की पूर्ति कलर्ड-कामिनियों के द्वारा हो जाती है। यह बड़ा ही पेचदार सवाल है, और इसको हल कर लेना कुछ सहज नहीं है। कितने ही घरों में हबशिन और वर्णसङ्करी महिलाएँ बैठी हुई हैं, और उनकी सन्तानों का भविष्य अभी अन्धकार के गर्भ में छिपा हुआ है। अतएव इस विषय पर समाज-सुधारकों से विचार करने के लिए मैं प्रार्थना करता हूँ।

एक और श्रेणी के हिन्दू मेरे देखने में आए, जिनको हिन्दू की अपेक्षा हबशी कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। डेनहौसर में

एक बजरङ्गबली मिले थे। नाम के सिवाय हिन्दुत्व की सम्पूर्ण संस्कृति को उन्होंने तिलाञ्जलि दे दी थी। नेटाल के जङ्गलों में भ्रमण करते हुए ऐसे अनेक लोग मुझे दृष्टिगोचर हुए। वैदिक-धर्म-प्रचार के लिए जब मैं रिचमौण्ड गया, तो वहाँ इसी श्रेणी का एक हिन्दू मिला। उसकी कहानी उसी की ज़बानी सुनिए :—

"मेरा नाम चेखुरी अहीर है! बाप का नाम था लक्ष्मण अहीर। मैं गाँव इमिलिया, थाना वजीरगञ्ज, जिला गोंड़ा का रहने वाला हूँ। मैं पाँच वर्ष की शर्तबन्धी (गिरमिट) लिखाकर नेटाल में आया। जिस गोरे ने मुझे काम करने के लिए ख़रीदा, वह बड़ा निर्दयी और क्रूर था। मेरे साथ तीन और अभागे हिन्दुस्तानी काम करते थे। मेरी पीठ पर नित्य ही चाबुकों की मार पड़ती थी। उससे व्याकुल हो मैंने फाँसी लगाकर मर जाने की ठान ली, लेकिन आत्म-हत्या के लिए जिस हिम्मत की ज़रूरत है, वह मुझमें न थी। इसलिए मैं वहाँ से भाग निकला। जङ्गल-जङ्गल घूमने लगा और पेड़ों के फल और पत्ते खा-खाकर पेट भरता रहा। जब मैं किसी हिन्दू के घर पर जाता था, तो वह मुझे काम से भगा हुआ गिरमिटिया कहकर दुरदुरा देते (क्योंकि भगेड़ू मज़दूर को आश्रय देना भी क़ानून से अपराध था)। अन्ततः अपने भाइयों से सहायता पाने की आशा त्याग कर मैं जङ्गली हबशियों में जा मिला। मैंने वस्त्र पहिनना छोड़कर मोचा (चमड़े का लगोट) बाँधा, हबशियों के साथ बैठकर ज्वाला (शराब) पीने लगा, और बैल तथा सुअर का मांस तक खाना शुरू कर

दिया। मैंने अपना नाम बदल कर हवशी नाम 'लाठा' रख लिया, और हिन्दी में बातचीत करना भी छोड़ दिया, ताकि मुझे कोई हिन्दुस्तानी न समझ ले। जब मैं पूर्णरूप से हबशी बन गया, तब एक हबशिन युवती से मेरी शादी भी होगई। इस समय मेरे कई लड़के और लड़कियाँ हैं। बड़ी लड़की की मैंने एक हवशी के साथ और बड़े लड़के की एक हवशिन के साथ शादी भी कर दी है। पहले यह जीवन मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ था, किन्तु अब तो इसी में आनन्द आ रहा है।"

इस कहानी को सुनकर मेरा हृदय भर आया और मैंने उसे बहुत समझाया। जिस समय मैं उसकी सोई हुई हिन्दुत्व की स्मृति को जाग्रत करने लगा, उस समय उसकी आँखों से अश्रु-धारा प्रवाहित हो चली। मेरे साथी श्री० सन्दराजसिंह और श्री० सत्यदेव भी बहुत दुखित हुए। उस दिन रिचमौण्ड में जो सभा हुई, उसमें श्री० गुदरराम की विशेष प्रेरणा से हिन्दू 'लाठा' ने कई वर्षों के पश्चात् हिन्दी में बातचीत की, जिसे सुनकर रिचमौण्ड के हिन्दू, जो अब तक उसे हवशी ही समझे हुए थे, बहुत चकित हुए।

इस प्रचार के प्रसङ्ग में मैंने दो पुस्तकें भी लिखीं। एक का नाम था 'वैदिक-धर्म और आर्य-सभ्यता' और दूसरी का 'नेटाली हिन्दू'। पहली पुस्तक भास्कर-प्रेस, मेरठ से और दूसरी सरस्वती-सदन, इन्दौर से प्रकाशित हुई। पहली में पुरातन-धर्म और सभ्यता का दिग्दर्शन था, और दूसरी में हिन्दुओं की वर्त्तमान

दशा का निदर्शन। 'नेटाली हिन्दू' आख्यान के रूप में लिखी गई थी, इसलिए नेटाल में उसका बड़ा प्रचार हुआ। इसकी कहानी सैकड़ों औरत, मर्द और बच्चों को कण्ठ हो गई, और इससे हिन्दुत्व का भाव फैलाने में मुझे बड़ी सहायता मिली।

जब मैं प्रचार करता हुआ ट्रान्सवाल पहुँचा, तो वहाँ श्री० नारायण जी मिस्त्री से मुलाक़ात हुई। यह महाशय गुजरात-प्रान्त के निवासी थे, और आर्य-समाज के कट्टर अनुयायी तथा हिन्दुत्व के बड़े अभिमानी थे। इन्होंने ट्रान्सवाल आर्य-समाज की स्थापना की थी, जिसमें मेरे कई व्याख्यान हुए; किन्तु श्री० नारायण जी मिस्त्री की सबसे बड़ी सेवा जोहन्सबर्ग में हिन्दू-श्मशान का निर्माण था। जोहन्सबर्ग में हिन्दुओं के लिए मृतक-दाह का कोई स्थान नहीं था, विवश होकर मुर्दे को ज़मीन में गाड़ देना पड़ता था। इस धार्मिक सङ्कट से मिस्त्री जी बड़े दुखित थे। सन् १९११ ई० में ही आपने महात्मा गाँधी से अपनी इच्छा प्रकट की, और उस समय महात्मा जी के उद्योग से कुछ जगह भी मिली; लेकिन वह जगह मिस्त्री जी को पसन्द न आई; क्योंकि एक तो वह ज़मीन शहर से बहुत दूर थी और दूसरी बात यह थी कि उस ज़मीन में पहले से ही मुर्दे गाड़े जाते थे, इसलिए वहाँ श्मशान बनाना आपको उचित नहीं जँचा। महात्मा जी के यहाँ से चले जाने पर मिस्त्री जी का यह विचार कुछ दिनों तक शिथिल रहा, किन्तु उत्साह में शिथिलता न आने पाई। आपने पोलक साहब से मिलकर पुनः उद्योग प्रारम्भ किया। इस बार

शहर के निकट ही जगह मिल गई, और नारायण जी के अथक परिश्रम से हिन्दुओं का कीर्ति-स्तम्भ खड़ा हो गया। यह श्मशान क्या है, दूर से देखने में विद्यालय मालूम पड़ता है। लगभग पौन बीघा ज़मीन में चारों ओर पक्की दीवारें खड़ी हैं। उसके अन्दर एक मकान में पुस्तकालय है; उसके पास ही बहुत बढ़िया बैठकालय है; उसके आगे सुन्दर स्नानागार बना हुआ है, और दाह-कर्म की सामग्री रखने के लिए भी एक ख़ास घर है। बीच में देवालय की भाँति एक दर्शनीय गुम्बजदार बैठक बनी हुई है, जिसके बीच में फ़व्वारा लगा हुआ है। फूँकने के लिए जो घर बना है, उसमें लोहे के तीन दरवाज़े लगे हुए हैं और धुआँ निकलने की चिमनी (Chimney) ५० फ़ीट ऊँची बनाई गई है। इन इमारतों के खड़े होने के बाद जो ज़मीन बच गई है, उसमें फुलवारी लगाई गई है। विशाल फाटक पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ है—हिन्दू-श्मशान। रविवार को यहाँ काले और गोरे दर्शकों की बड़ी भीड़ रहती है। सन् १९०८ ई० में इस श्मशान का उद्घाटन जोहन्सबर्ग के मेयर मि० टी० एफ़० एलेन के हाथों से हुआ था, और इस श्मशान में पहले-पहल एक योरोपियन ही जलाया गया था। यद्यपि यह हिन्दू-श्मशान है, तो भी किसी भी जाति के मुर्दे इसमें जलाए जा सकते हैं। सन् १९०५ ई० में इन्हीं नारायण जी मिस्त्री के उद्योग से प्रिटोरिया में भी हिन्दू-श्मशान बना था। इसमें सन्देह नहीं कि इस त्यागी आर्य-समाजी की सेवा से ट्रान्सवाल की हिन्दू-जाति को बड़ा लाभ पहुँचा है।

यद्यपि मैंने अपने व्याख्यानों में किसी सम्प्रदाय की निन्दा करके उसके अनुयायियों के दिल दुखाने की कभी चेष्टा नहीं की—मेरा उद्देश्य तो प्रवासी-हिन्दुओं का सङ्गठन और सुधार करना था, तो भी एक 'सनातनी' महाशय मेरे विषय पर भारत में भ्रम फैलाना ही अपना कर्त्तव्य मान बैठे थे। उनका नाम था श्री० शिवशङ्कर दुबे। उनके लेख ऐसे आपत्तिपूर्ण, निरर्थक और वाहियात होते थे कि कोई विचारशील सम्पादक उसे प्रकाशित करना पसन्द न करता; किन्तु इटावा के 'ब्राह्मण-सर्वस्व' में दुबे जी के लेखों को स्थान मिल जाता था। एक लेख में दुबे जी ने लिखा कि मेरा व्याख्यान सुनकर एक समाजी इतने जोश में आ गया कि उसने एक सनातनी के घर में आग लगा दी। इस पर टिप्पणी करते हुए सम्पादक-प्रवर ने लाला लाजपतराय से अपील की थी कि वे विदेशों में आर्य-समाजियों की करतूतों पर ग़ौर करें। जब मेरीत्सबर्ग में द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हुआ, तब भी 'ब्राह्मण-सर्वस्व' में दुबे जी का एक लेख निकल गया। ज़रा उसकी चाशनी तो चखिए:—

"मातृभाषा का प्रचार करना; वैदिक-धर्म का डङ्का पीटना और संसार की कुरीतियों का दूर करना—यही इनका मुख्य उद्देश्य है, परन्तु यह सब बातें कहने मात्र के लिए या भोले-भाले मनुष्यों को समाजी मत में खींचने के निमित्त हैं। इसका पूरा उदाहरण इस सम्मेलन में हम लोगों को मालूम हुआ। सर्व-प्रथम एक झुण्ड कन्याएँ, जिनकी उम्र बारह-तेरह वर्ष से किसी प्रकार कम

न होगी, वे आकर बीच सभा में, जहाँ हारमोनियम बाजा बजता था, उसी बाजे पर अपना स्वर मिलाकर ख़ूब सुरीली गति से गाने लगीं। उसके बाद उन्हीं छोकरियों के हाथ से हवन हुआ और हवन के पश्चात् एक लड़की ने हाथों में फल लेकर इस तरह से शिर उघार कर भाषण दिया :—

"मेरे प्यारे महाशयो! मैं आप लोगों से यह प्रतिज्ञा कराती हूँ कि आप लोग शपथपूर्वक बोलिए कि मैं आज से आर्य-समाज का मेम्बर होऊँगा तथा इस धर्म को मनसा, वाचा, कर्मणा मानूँगा। यही सच्चा वैदिक-धर्म है, इसे कदापि मत छोड़िएगा।' इस व्याख्यान की पुष्टि में मन्त्री भवानीदयाल जी ख़ूब हँसते हुए कहने लगे कि इसी प्रकार की देवियाँ भारत में थीं, परन्तु जब से दुष्ट पोपों का राज्य हुआ और उन भारत के शत्रुओं (ब्राह्मणों) ने पवित्र वैदिक-मार्ग को एकदम बन्द कर दिया, और झूठे पुराणों की शरण में आर्य-जाति को ढकेल दिया, तभी से हमारी यह दशा हो गई। पोपों ने ही हमारी अधोगति की है, परन्तु अब पोपों की दाल गलने की नहीं है, इत्यादि ख़ूब ब्राह्मणों की निन्दा, जहाँ तक मन्त्री जी को याद थी, की; तथा और भी बहुत से कटु-वाक्यों का प्रयोग करके मन्त्री जी ने अपनी आवाज़ धीमी की।"

यह साम्प्रदायिक पक्षपात और अदूरदर्शिता की हद है। कहाँ साहित्य-सम्मेलन, जिसमें सभी सम्प्रदाय के हिन्दू उपस्थित थे और कहाँ दुबे जी का यह कल्पित संवाद! इसीसे पाठक सोच सकते

हैं कि मेरा काम कितना कष्टपूर्ण था, किन्तु मैं कभी निराश नहीं हुआ और अपने काम में उत्साह से बराबर लगा रहा, जिसका फल यह हुआ कि न केवल नगरों में रहने वाले अमीरों के महलों में ही, बल्कि किसानों और मजदूरों के झोपड़ों में भी वैदिक-धर्म का सन्देश पहुँच गया !!

राजनीतिक जीवन पर एक दृष्टि

स्वधर्म और स्वभाषा की उन्नति के साथ ही भ राजनीतिक जीवन की प्रगति से भी अचेत न था। सन् १९१३ ई० की महान् हड़ताल और सन् १९१४ ई० के गाँधी-स्मट्स-समझौते के पश्चात् यह विश्वास हो चला था कि अब भारतीय विद्वेष की अग्नि शान्त हो जायगी, और हम लोग धार्मिक सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी अवस्था की ओर ध्यान दे सकेंगे; किन्तु यह आशा दुराशामात्र थी। गोराङ्गों के दृष्टिकोण में कोई विशेष अन्तर नहीं आया, और महायुद्ध के उस सङ्कट के समय में भी उन्होंने भारतीय विद्वेष का जो परिचय दिया, वह वास्तव में खेदजनक है।

सबसे पहले ट्राम-गाड़ी की व्यवस्था पर एक दृष्टि डालिए। नेटाल की ट्रामों पर गोरे लोगों की शरारत देखकर बड़ा दुःख होता है। वे लोग अपने बड़प्पन के नशे में बेतरह चूर रहते हैं, और उनका

ख़्याल है कि भगवान् ने ही उनके चेहरे पर श्रेष्ठता की मुहर लगाकर संसार में भेजा है। इसके सबूत में वे अपनी सफ़ेद चमड़ी की सनद पेश करते हैं। गोरों की दिव्य-दृष्टि में भारतीयों के लिए कोई इज्ज़त नहीं है। ट्रामों पर देखिए, एक और मैले कपड़े पहिने हुए, शराब के नशे में चूर, चाल-चलन में गुण्डों को मात करने वाले और हर सूरत में लुच्चे-लफ़ङ्गे मनुष्य भी केवल गोरी चमड़ी की बदौलत ट्राम की अगली बैठकों पर जा डटते हैं, और सफ़ेदपोश कॉण्डेक्टर उनके चमड़े पर सफ़ेदी देखकर चूँ तक नहीं करता, और दूसरी ओर इज्ज़तदार, मालदार और शिक्षित हिदुस्तानियों के लिए भी यह क़ायदा है कि वे ट्राम के दोनों बाज़ू की केवल पिछली तीन बैठकों पर ही हबशियों के साथ बैठ सकते हैं। हमें हबशियों के साथ बैठने में कोई भी आपत्ति नहीं हैं। वे भी तो मनुष्य हैं, और परमात्मा के पुत्र हैं; लेकिन हमें योरोपीय लोगों के विचित्र बर्त्ताव पर दुःख की हँसी आती है। उनकी तराज़ू पर केवल गोरी चमड़ी का वज़न भारी है, उसके सिवाय संसार की सभी जाति के लोग हलके हैं। ट्रामों में गोरों और गोरों की दोग़ली सन्तान के लिए केवल पिछली छः को छोड़कर बाक़ी सभी बैठकें रिज़र्व कर दी गई हैं। क्या मजाल कि कोई हिन्दुस्तानी रिज़र्व बैठकों पर बैठ जाय—कान पकड़-कर तुरन्त उठा दिया जायगा। पिछली छः बैठकें भी नाम के लिए तो हबशी और हिन्दुस्तानियों के लिए हैं, किन्तु अगली बैठकें जब भर जाती हैं तो पिछली पर भी गोरों का डेरा जम जाता है,

और बेचारे हिन्दुस्तानी या तो खड़े रहते हैं या नीचे उतार दिए जाते हैं। एक बार मैं अमगेनी की ट्राम पर सवार हुआ। कॉण्डक्टर ने आकर अचानक मुझे ऐसा धक्का दिया कि मैं नीचे जा गिरा। शिकायत करने पर ट्रामवे-मैनेजर ने मुझे विश्वास दिलाया कि भविष्य में आपको ऐसी शिकायत करने का मौक़ा न मिलेगा यह बात पत्रों में भी प्रकाशित हुई, किन्तु दूसरी बार मुझे इससे भी कटु-अनुभव हुआ। एक दिन ट्राम-गाड़ी के इन्तज़ार में मेरी पत्नी ट्रामवे-स्टेशन की एक बेञ्च पर तीन बच्चों के साथ बैठी हुई थीं। एक अङ्गरेज़ आया, और जगरानी को बेञ्च से उठ जाने की आज्ञा दी। बच्चे घबड़ाकर उठ गए। पर जगरानी ने उठने से इन्कार कर दिया। इस पर उस बेहूदे अङ्गरेज़ ने गालियाँ देना शुरू किया और उनको हाथ पकड़कर उठा देने के लिए आगे बढ़ा। पर उसी क्षण मैं वहाँ आ पहुँचा, और डण्डा लेकर उस पर झपटा। डण्डे के डर से वह अङ्गरेज़ वहाँ से चलता बना।

ट्रान्सवाल की तो और भी बुरी अवस्था है। जब मैं जोहन्सबर्ग गया, तो वहाँ भी ट्रामवे का टण्टा चल रहा था। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि ट्रान्सवाल के किसी नगर में हिन्दुस्तानी लोग ट्राम पर नहीं बैठ सकते। बहुत लड़ाई-भिड़ाई और अदालती कार्रवाई के बाद भारतीयों को केवल जोहन्सबर्ग की ट्रामों पर बैठने का अधिकार मिला है। उस समय जोहन्सबर्ग की म्युनिसिपलिटी में यह चर्चा चल रही थी कि भारतीयों को

अलग ही बैठने की व्यवस्था की जाय। इस विषय पर मैंने एक लेख लिखा, जिसमें म्युनिसिपलिटी के विचारों का बलपूर्वक विरोध किया गया था। यह लेख प्रसिद्ध दैनिक 'रेण्ड डेलीमेल' में प्रकाशित हुआ। इस लेख को 'इण्डियन ओपिनियन' ने भी उद्धृत करके मेरे विचारों को भारतीय लोकमत का यथार्थ उद्‌गार बतलाया।

मेरे इस लेख की बड़ी चर्चा हुई। एक अङ्गरेज़ लेखक ने उत्तर देते हुए यह भविष्यद्वाणी की कि यदि काले आदमियों को योरोपियनों के साथ एक ही ट्राम पर बैठने की इजाज़त दे दी गई, तो मैं समझता हूँ कि उपद्रव हुए बिना नहीं रहेगा। यह बात इतनी सत्य सिद्ध हुई कि एक अभागे हिन्दुस्तानी को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। सन् १९१७ ई० के अप्रैल मास में भुलाभवन नाम का एक गुजराती युवक जोहन्सबर्ग की एक ट्राम पर जा बैठा। बस, गोरे यात्रियों के क्रोध की आग भड़क उठी। एक कुली की इतनी ढिठाई कि वह सफ़ेद साहबों के साथ ट्राम में बैठ जाय! भला, इस अपमान को गोरे प्रभु कैसे सह सकते? उस भारतीय शरीर से कुलीपने की ऐसी दुर्गन्धि निकलती थी कि यदि इसका शीघ्र इलाज न किया जाता, तो गोरे प्रभुओं की अँतड़ी सड़ जाती। अपनी वीरता बघारने के लिए उनमें से एक हट्टा-कट्टा मज़बूत डचमैन उठ पड़ा, और भुलाभवन को चलती ट्राम से नीचे फेंक दिया। वह ट्राम के दुमञ्ज़िले से पक्की सड़क पर गिरा और छटपटा कर प्राण त्याग दिए। उस समय उस ट्राम

पर जितने गोरे सवार थे, उन्हें इस निर्दोष प्राणी की हत्या पर ज़रा भी दया न आई और न कॉण्डक्टर ने ही कुछ पर्वाह की। मनुष्यता के नाम पर चिल्लाहट मचाने वाले गोरों की यह मनोवृत्ति! मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए इस युवक की देखभाल करना या पुलिस को सूचना देकर अस्पताल भेजवा देना तो दूर की बात रही, किसी ने उस गोरे-हत्यारे को पकड़ने की भी कोशिश नहीं की।

इस घटना से भारतीय जनता में बड़ा असन्तोष फैला। जोहन्सवर्ग, केप-टाउन और दरबन में भारतीयों की सार्वजनिक सभाएँ हुईं और इस घटना की ओर सरकार का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया गया। अन्ततः फिलिप जेकोब्स विल्जनट नाम का हत्यारा रूस्तनबर्ग जिले में पकड़ा गया और उस पर ख़ून का मामला चला। भारतवासी इस मामले का परिणाम जानने के लिए बड़े उत्सुक थे, किन्तु जज वार्ड ने हत्यारे को नौ मास की क़ैद या पचास पाउण्ड जुर्माने की सज़ा देकर छोड़ दिया। जज साहब ने फ़ैसला सुनाते समय कहा—मेरी समझ में नहीं आता कि इस मामले में क्या करना चाहिए।

इस पर 'नेटाल एडवर्टायज़र' ने टीका करते हुए बहुत ठीक लिखा था—जज महोदय ने जो कुछ किया वह भी शायद उनकी समझ में आया या नहीं? नौ में से आठ जूरियों के दोषी कहने पर भी जज वार्ड ने हत्यारे को इतनी हलकी सज़ा क्यों दी? यह समझ लेने के लिए किसी असाधारण मस्तिष्क की आवश्यकता

नहा है। मुलाभवन भारतीय था और उसका हत्यारा था गोरा! आज तक योरोपियनों के मरण के लिए जो थोड़े बहुत भारतीय कारणभूत हुए, उन सबको फाँसी की टिकटी में लटकना पड़ा, परन्तु भारतीयों की जान मारने के अपराध में आज तक एक भी गोरा यहाँ फाँसी पर नहीं चढ़ा। यह है न्याय की विषमता! शायद राज्य-कर्त्ताओं की जात-बिरादरी के नाते गोरों के प्राणों का मूल्य भारतीयों के प्राणों की अपेक्षा सामान्य राज्यकीय व्यवहारों में अधिक समझा जाय, किन्तु यह बात याद रखनी चाहिए कि ईश्वर के दरबार में मनुष्य-मात्र के प्राणों की क़ीमत बराबर है।

सन् १९१८ ई० के प्रारम्भ में रेलवे का नया क़ानून गढ़ा गया। इस क़ानून का तात्पर्य यह था कि भारतीय डाकगाड़ी या तेज़ चलने वाली मुसाफिर गाड़ी पर यात्रा नहीं कर सकेंगे। यह क़ानून था या क़ानून का कलङ्क? स्टेशनों पर पहले और दूसरे दर्जे के मुसाफिरखानों में हिन्दुस्तानी लोग पाँव भी नहीं रखने पाते, फिर चाय-गृह इत्यादि में प्रवेश करना तो दूर की बात है। बाहर जो बैञ्च पड़ी हुई होती हैं, उन पर एकाध को छोड़कर सब पर 'केवल योरोपियनों के लिए' (Only Europeans) लिखा रहता है। पहले और दूसरे दर्जे के भारतीय यात्रियों के लिए रेलगाड़ी में खास डिब्बे होते हैं। जिसमें उन्हें हबशियों के साथ बैठना पड़ता है। दरबन इत्यादि कुछ स्टेशनों के सिवाय नेटाल के प्रायः सभी स्टेशनों पर भारतीयों के लिए अलग टिकिट-घर भी बन गए हैं। यह सब रङ्ग-द्वेष-मूलक

विधान तो था ही, किन्तु नवीन क़ानून से जले पर नमक की कहावत चरितार्थ हो गई। इस क़ानून की मोटी-मोटी बातों पर ही ज़रा ध्यान दीजिए और फिर सोचिए कि एक ब्रिटिश-उपनिवेश में ब्रिटिश-भारतीयों के साथ यह बर्ताव क्यों? क़ानून में कहा गया था कि प्लेटफ़ॉर्म पर भारतीयों के लिए ख़ास जगह रिज़र्व कर दी जायगी इसका अर्थ आप समझे? यदि नहीं, तो सुनिए—जो जगह भारतीयों के लिए रिजर्व कर दी जायगी, उसके सिवाय प्लेटफ़ॉर्म के अन्य भागों में उनका चला जाना अपराध समझा जायगा। डाकगाड़ी और शीघ्रगामी मुसाफ़िर-गाड़ी में तो बैठने का अख़्तियार ही न रहेगा; किन्तु साधारण गाड़ी में बैठने पर भी स्टेशन-मास्टर और गार्ड को यह सत्ता रहेगी कि जब चाहे तभी उसमें से निकाल बाहर करे। पहले और दूसरे दर्जे में बैठने के लिए किराया देने के सिवाय यह भी आवश्यक होगा कि सूट-बूट और हैट धारण कर लेना। इस क़ानून का बड़ा ज़ोरदार विरोध किया गया और तत्कालीन रेलवे-विभाग के मन्त्री मि० ब्रर्टन की बुद्धिमत्ता से क़ानूनी-किताब इस कलङ्क से बच गई।

सन् १९१७ ई० में भारतीयों से म्युनिसिपल-वोट का अधिकार भी छीन लेने के लिए घोर आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। नेटाल के कुछ नगरों में भारतीयों को म्युनिसिपल-मताधिकार प्राप्त है। यद्यपि कोई भी हिन्दुस्तानी म्युनिसिपल-काउन्सिल का सदस्य नहीं हो सकता, तो भी वह किसी ऐसे गोरे-उम्मीदवार को वोट दे सकता है, जो उसके समीप भारतीयों की हित-रक्षा के लिए वचन-

बद्ध हो। कुलियों के पास जाकर वोट की भिक्षा माँगना गोरे लोगों को बहुत खटक रहा है, और अब से ग्यारह वर्ष पहले भी नेटाल-सरकार ने भारतीयों को इस अधिकार से वञ्चित करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उस समय साम्राज्य-सरकार ने इस रङ्ग-द्वेषपूर्ण नीति को स्वीकार करना उचित नहीं समझा। उसके एक वर्ष बाद लॉर्ड एल्गिन ने अपनी कूट-नीति का जाल पसारकर भारतीयों के इस स्वत्व पर घात करना चाहा। उनका वक्तव्य यह था कि भारतीय व्यापारियों को अपने लाइसेन्स के लिए हाईकोर्ट तक अपील करने का अधिकार दिया जाय, और उनसे म्युनिसिपल-वोट देने का अधिकार छीन लिया जाय, किन्तु उस समय यहाँ की म्युनिसिपलिटियाँ लाट साहब के विचारों से सहमत नहीं हुईं, और भारत के तत्कालीन वायसराय लॉर्ड कर्ज़न ने भी इस वक्तव्य का विरोध किया था। तब से यह मामला कुछ शान्त रहा, किन्तु सन् १९१७ ई० में स्थानीय स्वराज्य का जो मसौदा (Draft of Local Government Ordinance) बनाया गया, उसमें भारतीयों से यह स्वत्व हड़प लेने के लिए एक ख़ास धारा जोड़ दी गई।

इस विषय पर विचार करने के लिए लेडिस्मिथ में नेटाल म्युनिसिपल-एसोसियेशन का जो अधिवेशन हुआ, उसमें दरबन के मेयर निकोलन साहब ने वर्ण-सङ्कर लोगों की वकालत करते हुए यहाँ तक कह डाला कि भारतीय उनसे भी नीच हैं। उनके इस वक्तव्य से भारतीयों में बड़ी हलचल मची, और दरबन की एक सभा में मेयर साहब को बुलाकर जवाब भी तलब किया गया। मेयर ने

फ़र्माया कि मेरे वक्तव्य का आशय यह था कि क़ानून में केवल 'योरोपियन' शब्द रहने से वर्ण-सङ्कर या फ्रेञ्च क्रिवेल भी मताधिकार से वञ्चित हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में इसका यही अर्थ हुआ कि भारतीय भले ही मताधिकार से वञ्चित किए जायँ, किन्तु वर्ण-सङ्कर नहीं। हुआ भी यही, मसौदे में 'योरोपियन' की जगह 'योरोपियन और उनके वंशज' शब्द जोड़ दिए गए। हरे! हरे!! संसार में वर्ण-सङ्करों का दर्जा बहुत हलका समझा जाता है, किन्तु दक्षिण अफ्रिका में राम और कृष्ण के वंशज, मुहम्मद की औलाद, ज़रथोस्त के अनुयायी और ईसा के हिन्दुस्तानी भक्त उनसे भी नीच माने गए। इस सम्बन्ध में भारतीयों की जो विराट् सभा 'यूनियन थियेटर' में हुई थी, उसमें ली साहब को तथा मुझको व्याख्यान देने के लिए ख़ास अवसर दिया गया था। बहुत आन्दोलन करने पर यह क़ानून भी अनिश्चित समय के लिए स्थगित हो गया। सच बात तो यह है कि हमारे आन्दोलन की अपेक्षा महायुद्ध की नाज़ुक स्थिति ही इस प्रस्तावित क़ानून को रोकने में कारणभूत हुई। उस समय भारतीयों की राजभक्ति की शङ्ख-ध्वनि से ब्रिटिश-साम्राज्य का वायुमण्डल गूँज रहा था।

सन् १९१८ ई० में एक और मार्के की घटना घटी और नेटाल की सुप्रीम कोर्ट ने भारत के देशी राज्यों की प्रजा को 'ब्रिटिश-प्रजा' के अधिकारों से वञ्चित करके 'विदेशी प्रजा' घोषित कर दिया। बात यह हुई कि इसा जानमुहम्मद नाम का एक हिन्दुस्तानी सन् १८९६ ई० से नेटाल का प्रवासी था। उसके पास

प्रवास की पुरानी सनद थी, और सन् १९११ ई० में उसने उसे बदल कर नई सनद भी ले ली थी। वह तीन बार भारत गया और वहाँ से लौटकर नेटाल आया। इस बार जब वह मातृभूमि का दर्शन करके लौटा, तो इमिग्रेशन-अमलदार ने उसे वर्जित-प्रवासी ठहराया और अपील-बोर्ड ने भी इस निर्णय पर मुहर लगा दी। अन्ततः जानमुहम्मद ने सुप्रीम कोर्ट का दरवाज़ा खटखटाया। उसके वकील ने सन् १९१३ ई० के इमिग्रेशन रेग्युलेशन-ऐक्ट के २२ वें क़ायदे की तीसरी धारा के अनुसार इस मामले में विचार करने के लिए प्रार्थना की, किन्तु अटर्नी जनरल ने यह कहकर आपत्ति की कि जानमुहम्मद ब्रिटिश-प्रजा नहीं है। उसके पास-पोर्ट से मालूम होता है कि वह भावनगर नामक देशी रियासत का रहने वाला है, इसलिए उसे सुप्रीम-कोर्ट में अपील करने का कोई अधिकार नहीं है। प्रार्थी के वकील ने साबित किया कि प्रार्थी जिस राज्य की प्रजा है, वह राज्य ब्रिटिश-साम्राज्य के अधीन है, किन्तु प्रधान जज ने अपने निर्णय में कहा कि भारत के देशी राज्य ब्रिटिश-भारत से पृथक् हैं और ब्रिटिश-साम्राज्य के अधीन होते हुए भी वे अपनी राज्य-व्यवस्था में स्वतन्त्र हैं। सबूतों से साफ़ मालूम होता है कि प्रार्थी देशी-राज्य का निवासी है, अतएव वह ब्रिटिश-प्रजा नहीं, किन्तु परदेशी है और उसे सुप्रीम-कोर्ट में अपील करने का कोई हक़ नहीं है। अन्य दो जजों ने भी प्रधान जज के निर्णय का समर्थन किया। इस निर्णय का बड़ा घातक परिणाम हुआ, और देशी-राज्य की प्रजा नेटाल के प्रवास-

अधिकार से वञ्चित हो गई। भारत के जिन रजवाड़ों ने अपनी फ़ौज लड़ाई के मोहड़े पर भेजी; अङ्गरेजों के लिए अपने ख़ज़ाने के दरवाजे खोल दिए और जो ब्रिटिश-साम्राज्य की रक्षा के लिए अहर्निश चिन्तित थे, उन्हीं के राज्य में बसने वाली प्रजा नेटाल की सुप्रीम-कोर्ट से परदेशी ठहराई गई, और उसे न्याय-देवी के पवित्र मन्दिर में घुसने का भी अधिकार नहीं रहा।

जब शर्तबन्धी ग़ुलामी का युग था, उस वक्त मज़दूर रखने वाले मालिक को फ़ी आदमी नौ पेनी के हिसाब से मैडिकल टैक्स भरना पड़ता था, इसके बदले में उसके मज़दूरों के बीमार हो जाने पर सरकार की ओर से चिकित्सा का प्रबन्ध होता था। अब जबकि शर्तबन्धी का ज़माना बीत चुका था, और इस टैक्स की कोई ज़रूरत नहीं रह गई थी, अधिकारियों ने इसको स्थायी रूप दे देने का निश्चय किया। इण्डियन-इमिग्रेशन-ट्रस्ट बोर्ड ने इस आशय की एक विज्ञप्ति प्रकाशित की कि शर्तबन्ध मज़दूर या शर्तबन्धी से स्वतन्त्र हो जाने वाले भारतीय अथवा उनके वंशज को कोई नौकर रक्खे तो प्रत्येक मनुष्य के लिए नौ पेनी टैक्स भरना क़ानून से अनिवार्य है। इसके विरुद्ध भी कई सभाएँ हुईं और गोविन्द सामी नामक एक ग़रीब भारतीय ने इस मामले को प्रिवी-काउन्सिल तक पहुँचाया, किन्तु अफ़सोस कि इस टैक्स की बला से भारतीयों को छुटकारा न मिला। वास्तव में इस टैक्स की सन् १८९१ ई० में सृष्टि हुई थी और युग-धर्म के अनुसार इसकी उपयोगिता अब नष्ट हो चुकी थी; किन्तु इससे इमिग्रेशन-बोर्ड

को खासी आमदनी होने की आशा थी; फिर इसे क्यों हाथ से जाने दिया जाता।

इन्हीं दिनों भारतीय व्यापारियों के विरुद्ध एक ज़बरदस्त आन्दोलन खड़ा हुआ। इस आन्दोलन के सञ्चालक थे किसान और मज़दूर-वर्ग के भारतवासी। वास्तव में महायुद्ध के कठिन अवसर पर भारतीय व्यापारियों ने बड़ी ही हृदय-हीनता का परिचय दिया। जो चावल २४ शिलिङ्ग फ़ी बोरा बिकता था, उसका मूल्य ४२ शिलिङ्ग तक बढ़ा दिया गया। परिणाम यह हुआ कि ग़रीब वर्ग के भारतीयों के भूखों मरने का वक्त आ गया। इस आन्दोलन में मैंने भी पूरा भाग लिया था। दरबन में रेवरेण्ड सी० एम० वोन की अध्यक्षता में जो सभा हुई थी, उसमें मैंने व्याख्यान भी दिया था। इस व्याख्यान में मैंने साफ़ कहा था कि युद्ध के समय अन्न को छिपा रखना और दुगने-तिगुने मूल्य पर बेचना निस्सन्देह नैतिक अपराध है, और जब ग़रीब लोग भूखों मरने लगेंगे, तो लूट-खसोट का पाप बढ़ना इसका स्वाभाविक फल होगा। अन्य कई मित्रों ने भी मेरे कथन का समर्थन किया, जिनमें श्री० बेनी सिंगामणि और गार्डन ली साहब मुख्य थे। हमारे वक्तव्य के समर्थन में ता० ३ सितम्बर सन् १९१७ ई० को 'नेटाल एडवर्टायज़र' ने सम्पादकीय लेख लिखकर इस ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया और 'इण्डियन ओपिनियन' ने भी व्यापारियों की इस नीति का तीव्र प्रतिवाद करते हुए हमें भी यह चेतावनी दी कि इस मामले में व्यवस्थित आन्दोलन के

सिवाय शारीरिक बल का प्रयोग करना अनुचित और हानिकारक होगा। अन्ततः सरकार की आँखें खुलीं और चावल का मूल्य निश्चित कर दिया गया।

सन् १९१८ई० के अन्त में 'टायफ़स' बुख़ार के यत्र-तत्र लक्षण दिखाई पड़े और अधिकारियों के अनुरोध से मैंने सिडनम के पोस्ट ऑफ़िस के सामने हज़ारों भारतीय महिलाओं की उपस्थिति में व्याख्यान देकर इस रोग से बचने का उपाय बतलाया। परमात्मा की कृपा से टायफ़स बुख़ार तो फैलने न पाया, किन्तु इन्फ़्लुएन्ज़ा ने अपना भयङ्कर रङ्ग दिखाया। इस ज्वर से दक्षिण अफ्रिका में लगभग ६० हज़ार मनुष्य काल के गाल में चले गए। मेरे सिवाय मेरे घर के समस्त प्राणी इस रोग से ग्रस्त हुए और उचित पथ्य-पानी के व्यवहार से आरोग्य भी हो गए। उस समय डॉक्टर का मिलना कठिन हो गया था; क्योंकि कौन ऐसा घर था, जहाँ दो-चार मनुष्य कफ-ज्वर की वेदना से कराहते न हों। हिन्दी-आश्रम के आसपास के रोगियों के लिए तो मैं ही डॉक्टर बन गया था, और जितने रोगियों की मैंने सेवा-शुश्रूषा की, ईश्वर की दया से वे सब बच गए। हाँ, एक मद्रासी भाई को दवा-दारू में विश्वास न था और वह बराबर काली-माई की पूजा करते रह गए। इसका परिणाम बड़ा भयङ्कर हुआ और उनके घर के अधिकांश प्राणी परलोक चल बसे।

सन् १९१७ ई० के अन्त में अमगेनी नदी में जो बाढ़ आई थी, उसे मैं कभी नहीं भूल सकूँगा। उस बाढ़ से

हमारे हिन्दी-आश्रम के आसपास के सैकड़ों मनुष्य घर-बार विहीन हो गए। सन् १९०५ ई० में अम्बीलो नदी बढ़ी थी और सन् १९१२ ई० में भी बाढ़ आई थी; किन्तु ऐसी भयङ्कर बाढ़ दरबन के इलाक़े में इससे पहले कभी नहीं आई। आश्रम तो बहुत ऊँचे स्थान पर था, इसलिए यहाँ तक बाढ़ का असर न होने पाया, किन्तु बटरी प्लेस की समतल भूमि जल-मग्न हो गई। बाढ़ भी आई अन्धकारपूर्ण मध्य रात्रि के समय, जिससे लोगों की दुर्गति की सीमा न रही। दूसरे दिन सवेरे बटरी का दृश्य देखकर मेरा रोम-रोम काँप उठा। कितने लोग अपने घरों के छप्पर पर खड़े होकर सहायता के लिए चिल्ला रहे थे, और कितने अगम जल में बहे चले जा रहे थे। कुछ नावें आ गईं और बहुत से मनुष्यों के प्राण बचा लिए गए। जिन युवकों ने जान पर खेलकर आपद-ग्रस्त मनुष्यों की रक्षा की थी, उनको उचित पुरस्कार देकर सम्मानित किया गया था।

सन् १९१९ ई० के प्रारम्भ में मैं ट्रान्सवाल गया। वहाँ अपने चिर-परिचित मित्र लालबहादुरसिंह से मुलाक़ात की। यह उनसे मेरी अन्तिम भेंट थी, क्योंकि इसके साल भर बाद ही वे स्वर्ग को सिधार गए। मेरे अनुज देवीदयाल अब तक जर्मिस्टन में ही रहते थे, उन्हें मैं अपने साथ नेटाल लाया। उनके एकमात्र पुत्र कृष्णदत्त की अवस्था छः साल की थी और उसे मैं अपने पुत्र रामदत्त के साथ गुरुकुल में दाखिल करने का इरादा रखता था। देवीदयाल और उनकी पत्नी ने इसमें कोई आपत्ति न की। मैंने

अपने परिवार को रहने के लिए नेटाल और ज़ुलूलैण्ड की सीमा पर लोअर टुगेला में व्यवस्था की और स्वयं राम और कृष्ण को लेकर भारत-यात्रा की तैयारी की। इस यात्रा में रिचमौण्ड के मेरे मित्र श्री० गुदरराम भी साथ हो लिए। यद्यपि मेरी पत्नी जगरानी उस समय असाध्य रूप से बीमार थीं, और मैं अपनी यात्रा को स्थगित कर देना चाहता था; किन्तु जगरानी ने साफ़ कहा—मेरी चिन्ता न करो। इन बच्चों को गुरुकुल की गोद में सौंप आओ। मुझे जान पड़ता है कि मेरी मृत्यु निकट है, तो भी प्राण छोड़ने के वक्त मुझे यह सोचकर सन्तोष होगा कि मेरे बच्चे गुरुकुल माता की शरण में पहुँच गए हैं! इतना कहकर वे मौन हो गईं, उनकी आँखें डबडबा आईं, और हृदय भर आया। उनकी इच्छा को पूर्ण करने के लिए मैं भी प्रस्तुत हो गया!!
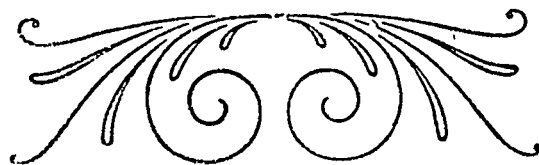
दरबन से कलकत्ता

त वर्ष प्रवासी-भाइयों की सेवा में विताकर जब मैं स्वदेश-दर्शन के लिए तैयार हुआ, तब मुझे अनेक प्रकार से रोकने की चेष्टा की जाने लगी। किसी ने भारत में असन्तोष का जिक्र करके कहा कि यह समय भारत-यात्रा के लिए उपयुक्त नहीं है, और किसी ने पञ्जाव के 'मार्शल लॉ' की दुहाई देकर मुझे कुछ दिनों के लिए रोकना चाहा; किन्तु मातृभूमि की दर्शन के उत्कट अभिलाषा ने मुझे इन सब कठिनाइयों पर सोचने का अवसर ही नहीं दिया। आर्य-युवक-सभा के श्री० सत्यदेव ने यात्रा-सम्बन्धी तैयारी में मेरी यथेष्ट सहायता की।

यद्यपि मैंने पहले ही से यह बात कह दी थी कि मेरी बिदाई के उपलक्ष में किसी तरह का धूम-धड़ाका न किया जाय, किन्तु इस वात को सुनता कौन था? बहुत-कुछ कहने-सुनने पर दूर-दूर

के भाई तो मान गए, पर ख़ास दरबन के भाइयों को समझाना कठिन हो गया। उनके हार्दिक प्रेम के सामने मुझे विवश होकर शीश झुका देना पड़ा। क्लेर-स्टेट का हिन्दी-आर्य-आश्रम, दरबन की आर्य-युवक-सभा और रायकोपिस की विद्या-प्रचारिणी सभा ने आधुनिक सभ्यता के अनुसार अभिनन्दन-पत्र देकर मेरी यात्रा के लिए मङ्गल-कामना की। इन सब बातों से छुट्टी पाकर अपने मित्र श्री० गुदरराम, पुत्र रामदत्त और भतीजा कृष्णदत्त के साथ ता० ३० जुलाई सन् १९१९ ई० को मैंने 'काठियावाड़' जहाज़ पर सवार होकर मातृभूमि को प्रस्थान कर दिया। जिस समय हम जहाज़ पर सवार हुए, उस समय का दृश्य अत्यन्त करुणाजनक था। झुण्ड के झुण्ड नर-नारी बन्दरगाह पर खड़े थे और सभी के नेत्रों से प्रेमाश्रु बह रहे थे। निश्चित समय पर जहाज़ ने कूच का बिगुल बजाया। उस समय हम लोगों की परस्पर टकटकी बँध गई। जब जहाज़ समुद्र की छाती पर तैरने लगा, तब रूमाल हिला-हिला कर प्रेम का प्रदर्शन होता रहा, किन्तु कुछ ही समय में एक-दूसरे की दृष्टि से अदृश्य हो गए।

जहाज़ के अथाह सागर में प्रवेश करने पर ऊँची-ऊँची लहरें उठने लगीं! लहरों की टकराहट से भयानक कोलाहल होने लगा। महासागर में हमारा जहाज़ बत्तख़ की भाँति जा रहा था और जल के प्रक्षोभ से उसके डगमगाहट का ठिकाना नहीं रहा। जहाज़ बहुत छोटा था। कभी वह आकाश की ओर शिर उठाता और कभी रसातल भेजने की धमकी देता। नाविक लोग तो अपने-

अपने काम पर मुस्तैद थे, किन्तु यात्रियों की दशा अत्यन्त भयावह हो उठी। हम लोग डैक-क्लास के यात्री थे। डैक में कुल १५ मनुष्य थे, जिनमें ५ तो नाविक थे; लेकिन शेष यात्रियों की हालत बेतरह बिगड़ गई। सबके सिर में चक्कर आने लगे और क्षण-क्षण पर उल्टी होने लगी। उल्टी भी ऐसी-वैसी नहीं, बल्कि अँतड़ियों को खींचकर बाहर निकालने लगी। बच्चों की दशा बड़ी शोचनीय हो गई; वमन करते-करते उनका शरीर शिथिल हो गया। बड़ी कठिनता से रात को नींद आई। दूसरे दिन भी हालत ज्यों की त्यों रही। किसी के मुख में अन्न-जल नहीं गया। सब के सब मछली की भाँति छटपटाते रहे। मैंने बड़ी हिम्मत से तरकारी बनाई, किन्तु किसी ने उसे खाना पसन्द न किया। चक्कर के मारे लोगों का मुँह ऐसा बिगड़ गया था कि खाना हलाहल विष जान पड़ता था। प्यास लगने पर लोग पानी पीते, पर वह तुरन्त बाहर निकल आता। उठकर बैठने पर ऐसा चक्कर आ जाता कि लोग धड़ाम से गिर पड़ते; खड़ा होना तो और भी कठिन था। दिनभर सब बेहोश पड़े रहे और रातभर शरीर की सुधि न रही। तीसरे दिन हम लोग डॉक्टर शैलेन्द्रनाथ मित्र की शरण में पहुँचे। आप बड़े योग्य और मिलनसार सज्जन थे। आपने एक तरह का चूर्ण खाने के लिए दिया। इस दवा से आशातीत लाभ हुआ, और हम लोगों का चित्त शान्त हुआ।

हमने खाने-पीने की सब सामग्री रख ली थी। श्री० गुदरराम भोजन बनाने के कार्य में प्रवृत्त हुए और हम लोगों की घड़ी

चैन से कटने लगी; लेकिन हमारे साथ स्त्री-पुरुष का एक जोड़ा था। इनकी अवस्था इतनी दयनीय हो गई थी कि बिस्तर पर से उठना भी कठिन था। हम लोग अपने चौके में इन्हें भी खिलाने-पिलाने लगे और आधी यात्रा खतम हो जाने के बाद कहीं इनकी दशा सुधरी। खाने की व्यवस्था यह थी कि प्रातः चाय, कॉफ़ी या कोको के साथ डबल रोटी और बिस्कुट का कलेवा होता; दोपहर को दाल-भात और तरकारी बन जाती और शाम को केवल खिचड़ी पर सन्तोष कर लेना पड़ता।

इस जहाज़ के कप्तान साहब बड़े विचित्र जीव थे। आपके क्रोध का पारा इतना चढ़ा रहता कि आप किसी से बातचीत तक करना पसन्द न करते। जहाज़ के अन्य कर्मचारी साधारणतया अच्छे थे और यात्रियों के साथ कोई दुर्व्यवहार नहीं होने पाता था। डॉक्टर शैलेन्द्रनाथ मित्र से जहाज़ में काम करने वाले छोटे-बड़े सभी खुश थे। जहाज़ के मुन्शी जी भी बड़े भलेमानस थे। इस जहाज़ में गुजराती-पुस्तकों का एक संग्रहालय था, जिससे गुजराती यात्री फ़ायदा उठा सकते थे। रात को पढ़ने-लिखने का भी सुभीता था, क्योंकि सूर्यास्त होते ही समग्र जहाज़ में बिजली की रोशनी हो जाती थी। नहाने-धोने की कोई तकलीफ़ नहीं थी।

यदि कुछ दुख था तो यही कि जहाज़ की चाल बड़ी धीमी थी। पहले दो-चार दिन तो उसने १२ मील प्रति घण्टे के हिसाब से रास्ता तय किया, पर उसके दो चूल्हे खराब हो गए, जिससे उसकी

चाल बहुत धीमी पड़ गई और केवल ८ मील प्रति घण्टे के हिसाब से यात्रा होने लगी। इस चाल से यात्रियों के नाकों दम आ गया और सबने मिलकर इस बात की शिकायत कप्तान साहब से की। तब कहीं उन चूल्हों की मरम्मत की गई और फिर जहाज़ १० मील प्रति घण्टे के हिसाब से चलने लगा।

कभी-कभी जब किसी द्वीप-समूह का दर्शन हो जाता था, उस समय यात्रियों की उत्सुकता इतनी बढ़ जाती थी कि जब तक वह आँखों की ओझल न हो जाता, तब तक उसी ओर सबकी टकटकी लगी रहती। इस जहाज़ में कुछ चीनी यात्री भी थे, जो दूसरे दर्जे में यात्रा कर रहे थे। उनके रहन-सहन और स्वभाव से परिचित होने का हमें अच्छा अवसर मिला। इस बार की यात्रा में हमें यह भी अनुभव हुआ कि किस तरह बेचारे मल्लाह काम करने के लिए मछली की भाँति जाल में फँसाए जाते हैं। जहाज़ में काम करने वाले भारतीय मल्लाहों को शर्त-बन्धी का पट्टा लिख देना पड़ता है। उनमें से अधिकांश को यह भी नहीं मालूम होता कि समुद्र-यात्रा किस बला का नाम है? उनको बड़े-बड़े प्रलोभन दिए जाते हैं, और जब वे इस जाल में फँस जाते हैं, तब उनके साथ ऐसा व्यवहार होता है कि देख-सुन कर कलेजा काँप उठता है।

मैं जिस 'काठियावाड़' जहाज़ पर सवार था, उसी के सम्बन्ध में यहाँ कुछ लिखना अधिक प्रासांगिक होगा। इस जहाज़ पर तीन जाति के नाविक थे—अर्थात् योरोपियन, चीनी और भारतवासी।

योरोपियन मल्लाहों के विषय में क्या कहना ? उनके लिए सजे हुए कमरे और आराम का समुचित प्रबन्ध ! चीनी मल्लाहों के लिए भी अच्छी व्यवस्था; काम भी मिस्त्री अर्थात् बढ़ई का और वेतन तदनुरूप ही ! दिनभर काम करके शाम को ये लोग खासे जैन्टिलमैन बन जाते थे; किन्तु भारतीय मल्लाहों के विषय में कुछ लिखते हुए लेखनी सकुचाती है । इनकी गन्दी रहन, इनके गन्दे घर और इनके गन्दे भोजन का सच्चा चित्र वही खींच सकता है, जिसकी लेखनी में कुछ बल हो । भारतीय मल्लाहों को २०-२५ रुपया मासिक वेतन मिलता है । किसी को इससे कुछ अधिक और किसी को इससे भी कम । इनको इस जाल में फँसाने वाले दलाल होते हैं, और वे इनसे दलाली के रूप में कुछ न कुछ वसूल भी कर लेते हैं । एक बार इस जाल में आ जाने पर फिर तब तक छुटकारा पाना असम्भव है, जब तक कि शर्त की मियाद पूरी न हो जाय, अथवा किसी भयानक रोग के पञ्जे में न फँस जायँ । प्रश्न यह होता है कि क्या भारतवासी इस संसार में केवल कुली-कबाड़ी के काम करने ही के लिए भेजे गए हैं ?

जहाज़ पर सवार हो जाने के बाद इन अभागे मल्लाहों को मालूम होता है कि किस तरह की नौकरी पल्ले पड़ी है । जब जहाज़ बन्दरगाह से रवाना होकर अथाह सागर में प्रवेश करता है, लहरों की टकराहट से जहाज़ डोलने लगता है, तब इनको इस नौकरी का रहस्य विदित होता है । एक तो ये अभागे चक्कर से

बुरी तरह बेहोश होकर छटपटाने लगते हैं, और दूसरी ओर सारङ्ग (सरदार) को सताने का अच्छा मौक़ा हाथ लग जाता है। इन पर जूतों की मार पड़ती है, और बेचारी माँ-बहिनों की गालियों से सत्कार होता है एक ओर वह अभागा अर्द्ध-चेतन अवस्था में पड़ा है और दूसरी ओर सारङ्ग काम के लिए उसकी ठोक-पीट करता है। एक ओर उसकी जान की आफ़त है, और दूसरी ओर काम की पड़ी है। एक ओर निर्धन, निर्बल और निस्सहाय नाविक और दूसरी ओर सबल, शक्तिशाली और सत्ताधारी सरदार। इस दुर्गति का सच्चा अनुभव वही कर सकते हैं, जो कभी इस दुर्गम पथ की यात्रा कर चुके हैं। जब सरदार देखता है कि यह किसी प्रकार काम करने के योग्य नहीं है, तब उससे कुछ रुपए ऐंठने के अभिप्राय से कहता है कि अगर तू अपने वेतन से इतनी रक़म मुझे दे, तो मैं तुझको दो-चार दिनों के लिए रिहा कर दूँ। वह बेचारा बिना चूँ-चारा किए इस प्रस्ताव को मञ्जूर कर लेता है। इसी प्रकार जो मल्लाह पूरा काम नहीं कर सकता, उसके वेतन का भी कुछ हिस्सा सरदार के पेट में हज़म हो जाता है। मुझे यूसुफ़ नाम के एक युवक मल्लाह ने अपनी कहानी इस प्रकार सुनाई :—

"मैं रङ्गून में भर्ती हुआ और पहले एक महीने का वेतन दलाल को अर्पित करना पड़ा। जहाज़ का सरदार मुझे बहुत सताता था, और गालियों से बात किया करता था। विवश होकर मुझे अपने वेतन की आधी रक़म सरदार को देकर काम हलका कर लेना पड़ा। मेरे पास कपड़े नहीं थे, इसलिए जब जाड़े के

मौसम में मैं लिवरपूल और ग्लासगो के बन्दरगाहों पर पहुँचा, तो वहाँ की सर्दी से मेरे आधे प्राण निकल गए। सबेरे जब डैक पर बर्फ़ जम जाती थी, तो हाथ-पैर निकम्मे हो जाते थे। रात केवल एक चादर से काटनी पड़ती और दिनभर सर्द हवा खानी पड़ती। फल यह हुआ कि मैं काम के योग्य नहीं रह गया और बीमार होकर अस्पताल पहुँचा। दरबन आने पर मुझे नौकरी से बरखास्त कर दिया गया। अब मैं इस जहाज़ से घर वापिस जा रहा हूँ।"

मेरे जहाज़ में एक ऐसा आदमी था, जो दोयम-बबर्ची का काम करने के लिए नाम लिखाकर आया था, किन्तु वह बेचारा इस कला से बिलकुल अनभिज्ञ था। नतीजा यह हुआ कि उसे नित्य ही मुख्य बबर्ची की लात और गाली खानी पड़ती थी। एक बार कोयला झोंकने वाला एक मल्लाह बीमार पड़ गया। डॉक्टर ने भी उसे बीमार बतलाकर काम से छुट्टी दे दी, किन्तु सरदार को भला उस अभागे की जान की क्या पर्वाह? वह दौड़ा हुआ डॉक्टर के पास आया। मैं भी उस समय डॉक्टर की कैबिन में बैठकर बातचीत कर रहा था। उसने आते ही उस अभागे को भला-बुरा बकना शुरू किया और डॉक्टर से आज्ञा माँगी कि उसे काम पर जोतने में कोई आपत्ति न की जाय। डॉक्टर साहब भी चुप रहे और बोले कि उसे कोई इतनी अधिक बीमारी तो नहीं है, जिससे वह काम करने के योग्य न हो। बस, अब क्या कहना था? उसको काम पर हाजिर होने के लिए ज़ारशाही

आज्ञा हो गई। वह अभागा घबड़ाकर जहाज़ के ऊपरी हिस्से पर इस विचार से चढ़ गया कि वहाँ से समुद्र में कूदकर जीवन का अन्त कर डाले; किन्तु ऊपर पहुँचकर वह बेहोश हो गया और तिलमिलाकर तख्ते पर गिर पड़ा। जहाज़ में उसकी खोज होने लगी, और यह अनुमान किया जाने लगा कि वह समुद्र में कूद पड़ा अन्ततः वह मूर्च्छित दशा में पड़ा हुआ पाया गया। इस प्रकार न जाने कितने अभागे अपने जीवन की समाप्ति कर डालते हैं, और जल-जन्तु उनके हाड़-मांस का अहार कर जाते हैं। मेरा सङ्केत केवल 'काठियावाड़' जहाज़ की ओर नहीं है, किन्तु भारतीय मल्लाहों की साधारणतः सर्वत्र यही दशा है, और उनपर अत्याचार करने वाले योरोपियन नहीं, बल्कि भारत-जननी के ही कपूत होते हैं।

उन्नीस दिन की दीर्घ समुद्र-यात्रा के पश्चात् ता० १८ अगस्त को प्रातः चार बजे हम कोलम्बो (लङ्का) पहुँचे। हमें रातभर नींद नहीं आई थी, क्योंकि समुत्र-यात्रा से जी उकता गया था और भूमि देखने के लिए चित्त व्यग्र हो उठा था। कोलम्बो के बन्दरगाह पर अनेक देशों के बहुत से जहाज़ खड़े थे, उनपर बिजली की रोशनी जगमगा रही थी, और अन्धकारमयी रजनी में यह दृश्य बड़ा ही सुहावना जान पड़ता था। उषा की अरुण-प्रभा के साथ ही लङ्कापुरी का दर्शन हुआ। यदि लङ्का को जहाज़ों का जङ्कशन कहा जाय, तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। यहाँ संसार के हर भाग के जहाज़ दृष्टिगोचर हुए। जापान के जहाज़ अपने ढङ्ग

के निराले ही थे, सैकड़ों जहाजों के बीच में वे बड़ी आसानी से पहिचाने जा सकते थे। कई जहाज़ तो कोयला-पानी के बजाय बिजली की शक्ति से चलने लगे हैं। दुनिया की जहाज़ी ताक़त देखने पर पता लग जाता है कि इस सम्बन्ध में हिन्दुस्तान कितना पिछड़ा हुआ देश है।

आठ बजे के समय डॉक्टर और पुलिस वाले आए। उन्होंने यात्रियों की नब्ज़ तथा पास-पोर्टों का मुलाहिज़ा किया। तत्पश्चात् हमें जहाज़ से उतरने की स्वतन्त्रता मिली। हम लोग नाव पर सवार होकर किनारे गए और किसी हिन्दू-होटल की तलाश करने लगे। पर हिन्दू-होटल मिलना दुर्लभ हो गया। हमने एक गुजराती-मुसलमान की दूकान पर जाकर दरियाफ़्त किया, तो मालूम हुआ कि यहाँ कुछ काठियावाड़ी हिन्दू रहते हैं, और उनकी एक 'बीसी' भी है। हम लोगों ने काठियावाड़ी महाशय के पास जाकर प्रार्थना की कि यदि आप हमें कहीं दो-चार दिन ठहरने का प्रबन्ध कर दें, तो हम आपके बड़े कृतज्ञ होंगे, लेकिन बेलाग जवाब मिला—हम गुजराती हैं और आप हिन्दुस्तानी, इसलिए हमारी और आपकी नहीं निभ सकती। अलबत्ता मैं आपको एक हिन्दू-होटल का पता बताता हूँ, यदि आप वहाँ जायँ तो अवश्य समुचित प्रबन्ध हो सकता है।

हिन्दू के प्रति हिन्दू का यह व्यवहार देखकर हार्दिक दुख हुआ, किन्तु क्या करता? उनका प्रस्ताव मानने के सिवाय और उपाय ही क्या था? हम लोग कई गली-कूचे पार करते हुए उनके

बतलाए हुए होटल में पहुँचे। दरवाज़े पर एक तोंदधारी मद्रासी महाराज मिले। आपने तुरन्त ही दो टूक जवाब दे दिया कि यहाँ मद्रासियों के सिवाय और किसी के ठहरने के लिए स्थान नहीं है।

उस समय कड़ाके की धूप पड़ रही थी; लड़कों के मुँह लाल हो गए; भूख-प्यास से वे तड़फड़ाने लगे। वहाँ की सङ्कीर्ण गलियों में हवा की ज़रा भी गुञ्जाइश नहीं थी, इससे हम लोग और भी व्याकुल हो उठे। अब क्या करें, कहाँ जायँ और किस तरह भूख-प्यास को शान्त करें? मेरे साथ एक मुसलमान सज्जन थे, उन्होंने मुझे बम्बई-होटल में चलने की सलाह दी। वहाँ जाने पर ज्ञात हुआ कि यह होटल मुसलमानों का है। ख़ैर, हम लोग वहाँ केवल शीतल शर्बत पीकर आगे बढ़े। स्टेशन के सामने हमें न्यू सेण्ट्रल होटल मिला। पूछने पर ज्ञात हुआ कि इस होटल के मालिक बौद्ध-धर्मावलम्बी हैं, और यहाँ निरामिषहारियों के लिए भी व्यवस्था हो सकती है। अतः हम लोगों ने इसी होटल में डेरा जमाया।

इस होटल में कई योरोपियन भी ठहरे हुए थे, यह मेरे लिए एक नई बात थी; क्योंकि दक्षिण अफ़्रिका के किसी होटल में 'गोरों' के साथ 'श्याम' वर्ण के मनुष्य नहीं ठहर सकते और ख़ासकर भारतीयों के लिए तो होटल के दरवाज़े बन्द ही रहते हैं। इसलिए लङ्का के एक बौद्ध-होटल में गोराङ्गों की भीड़ देखकर मुझे आश्चर्य हुआ, किन्तु पीछे पूछताछ करने पर ज्ञात हुआ कि ये

लोग इङ्गलैण्ड के नहीं, प्रत्युत योरोप के अन्य देशों के निवासी हैं, और निर्धन होने के कारण ही गोराङ्गों के खर्चीले होटल की अपेक्षा यहाँ ठहरे हुए हैं। इस होटल में प्रातः डबल रोटी और चाय, दोपहर को भात, साग-पात और केला तथा शाम को रोटी और तरकारी मिलती थी। भोजन की व्यवस्था 'अप-टु-डेट' थी।

यहाँ की धार्मिक अवस्था के सम्बन्ध में जाँच करने पर विदित हुआ कि इस समय ईसाई-पादरी बड़े जोर-शोर से अपने मत का प्रचार कर रहे हैं। मुझे एक बौद्ध-भिक्षुक ने बतलाया कि यहाँ के निवासियों को ईसाई बनाने के लिए बड़े-बड़े घृणित उपायों से काम लिया गया था। ईसाइयों ने धर्म के नाम पर संसार में जो-जो अत्याचार किए, उनसे इतिहास-प्रेमी अपरिचित नहीं हैं। डच और पोर्तगीज़-पादरियों ने लोगों को क्रिस्तान बनाने के लिए उन उपायों का अवलम्बन किया था, जिन्हें सभ्य-संसार में पाशविक अत्याचार के नाम से पुकारा जाता है। इनके प्रचार का फल यह हुआ कि बहुत से लङ्कावासी ईसाई हो गए और अब तो वे एक बड़ी संख्या में नज़र आते हैं। बौद्ध-धर्म यहाँ का सर्वप्रधान धर्म है, और मुसलमानी मज़हब की छटा भी छिटक रही है, किन्तु हिन्दू-धर्म अपने अछूतों को गिर्जाघर के दरवाजे पर पहुँचाने से बाज़ नहीं आता।

बौद्ध लोग दो श्रेणियों में विभक्त हैं। एक तो भिक्षुक और दूसरे गृहस्थ। बौद्ध-संन्यासी पीताम्बर धारण करते हैं और गृहस्थ लोग लुङ्गी पहिनते हैं। औरत और मर्द की पोशाक में कोई अन्तर

नहीं होता; दोनों वर्ग लुङ्गी और कुर्ता पहिनते हैं, और सिर खुला रखते हैं। कभी-कभी तो स्त्री और पुरुष को पहचानना कठिन हो जाता है। हिन्दू लोग धोती पहिनते हैं, और मुसलमान तो अपनी वस्त्र-विभिन्नता के कारण तुरन्त ही पहिचाने जा सकते हैं। ईसाइयों की तो बात ही मत पूछिए। यदि उनके चमड़े पर श्यामलता न होती, तो शायद यह पहिचानना कठिन हो जाता कि ये योरोपियन हैं या लङ्कावासी! इनके सूट, बूट, कालर, नैकटाई, हैट इत्यादि देखकर कुछ समय के लिए दक्षिण अफ्रिका में जन्मे हुए भारतीय युवकों का फ़ैशन मुझे भूल गया। इन्होंने अपने शरीर और आत्मा को योरोपीय सभ्यता के चरणों पर चढ़ाकर सन्तोष कर लिया है। जहाँ तक मैंने अनुभव किया, यदि यहाँ पर सार्वभौमिक हिन्दू-धर्म के प्रचार की कोई व्यवस्था न हुई, तो निकट-भविष्य में यहाँ खोजने पर भी हिन्दू न मिलेंगे, और उनकी स्मृतियाँ अजायब-घर की शोभा बढ़ाने के लिए रह जायँगी। कहाँ हैं वे आर्य-समाजी, जो योरोप में वैदिक-धर्म-प्रचार का स्वप्न देखा करते हैं, और कहाँ हैं वे सनातनी, जो आर्य-समाज को खरी-खोटी सुनाकर ही अपने कर्त्तव्य की इति-श्री कर देते हैं? यदि वे आँखें खोलकर देखें, तो उन्हें सर्वत्र ही हिन्दू-जाति और संस्कृति का ह्रास दिखाई देगा।

लङ्का में पाली और तामिल-भाषा का विशेष व्यवहार होता है, किन्तु अङ्गरेज़ी ने जिस तरह यहाँ के निवासियों पर अपना सिक्का जमाया है, उसे देखकर तो हमें दाँतों तले उँगली दबा लेनी

पड़ी। यहाँ जितने मनुष्यों से मुझे मिलने का अवसर मिला, सबके सब कुछ न कुछ अङ्गरेज़ी बोल सकते थे। साधारण पुलिस से लेकर उच्चाधिकारी तक तो अङ्गरेज़ी जानते ही हैं, किन्तु जब मैंने यहाँ के अशिक्षित मज़दूर और रिक्शा-गाड़ी खींचने वालों को भी टूटी-फूटी अङ्गरेज़ी बोलते देखा, तब तो मेरे आश्चर्य की सीमा न रही।

एक दिन हम लङ्का का अजायबघर देखने को निकले। दूर होने के कारण हमने दो रिक्शा-गाड़ी किराए पर कीं। रिक्शा वाले ने प्रति घण्टे ५० सेण्ट के हिसाब से भाड़ा तय किया, और यही भाड़ा क़ानून से भी जायज़ है; किन्तु नगर से बाहर जाते ही इन पाजियों ने रिक्शा-गाड़ी खड़ी कर दी और एक रुपया किराए का तक़ाज़ा किया। घड़ी देखी तो अभी १५ मिनिट भी नहीं हुए थे। इस पर वाद-विवाद शुरू हुआ, और पुलिस तक जाने की नौबत पहुँची। इसके बाद एक 'परोपकारी' सज्जन मिल गए। आपने फ़र्माया कि चलिए मैं आपको यहाँ का अजायबघर दिखला लाऊँ, किन्तु मैंने उनकी इस कृपा के लिए धन्यवाद देकर निवेदन किया कि आप मेरे साथ आने का कष्ट न उठाइए। पर आप कहाँ मानने वाले थे, मेरे पीछे हो लिए। यहाँ पर ऐसे बहुत से बेकार आदमी घूमा करते हैं, जो परदेशियों के पीछे लग जाते हैं और उनसे मनमानी फ़ीस वसूल कर लिया करते हैं। यदि कोई उनकी मुँह-मांगी फ़ीस देने से इन्कार करे, तो यह कहेंगे कि क्या हम तुम्हारे बाप के ग़ुलाम थे, जो तुमने हमारा वक़्त बर्बाद किया। परदेशियों

को इनसे पिण्ड छुड़ाना मुश्किल हो जाता है। योरोप आदि देशों में भी मार्ग-प्रदर्शक (गाइड) होते हैं, किन्तु भारतीय गाइडों के विषय में मैं बहुत-कुछ सुन चुका था, अतएव मैंने इन महाशय से प्रार्थना की कि आप मेरा पिण्ड छोड़कर चले जाइए इतने पर भी आप न माने, और कहने लगे—मैं तो मुहब्बत के मारे आपके साथ चल रहा हूँ। आप जो कुछ दे देंगे, उसी में मुझे सन्तोष हो जायगा। इस बात से मुझे बड़ी हँसी आई कि भला इनसे मेरी कब की मुहब्बत है। यह तो वही कहावत हुई कि 'मान न मान मैं तेरा मेहमान।' अन्त में मुझे विवश होकर कुछ कड़े शब्दों का प्रयोग करके 'प्रेमी' महाशय से पिण्ड छुड़ाना पड़ा।

हम अजायबघर पहुँचे। यहाँ विशेषतः बुद्ध, शिव, पार्वती और काली की मूर्तियाँ देखने में आईं। दो हज़ार वर्ष पहले के पत्थर के किवाड़ और खिड़की देखकर ज्ञात हुआ कि किसी समय यहाँ का कला-कौशल बहुत उन्नत अवस्था में था। एक कपड़े पर राम-विवाह और राम-रावण-युद्ध का चित्राङ्कन हुआ था और उसके साथ ही अङ्गरेजी में संक्षिप्त इतिहास भी दे दिया गया था। इसके अलावा लङ्का की भिन्न-भिन्न जातियों की मूर्तियाँ, सामुद्रिक जन्तुओं के अस्थि-पिञ्जर, डचों के समय की पुरानी आलमारियाँ इत्यादि बहुत सी चीज़ें यहाँ रक्खी हुई थीं, जिनका सिलसिलेवार वर्णन करने की कोई ज़रूरत नहीं है। पुरानी चीज़ें अनिरुद्धपुर और केण्डी से लाई गई थीं।

चार दिन लङ्का में निवास करके हम अपने जहाज़ पर वापिस आए और कलकत्ता के लिए रवाना हो गए। ता० २८ अगस्त को हमारा जहाज़ गङ्गा-सागर में प्रविष्ट हुआ। दक्षिण अफ्रिका में रहते हुए जिस मातृभूमि के नाम की माला मैं सदैव जपता रहा; रोम-रोम में जिसके प्रति प्रेमानुराग भरा हुआ था; जिसकी मन्जुल मूर्ति आठों याम हृदय में बसी रहती थी, आज उसी मातृभूमि की गोद में अपने को पाकर हृदय-वल्लियाँ फड़क उठीं, और उसके चरणों में श्रद्धा से मस्तक झुक गया।

बन्दरगाह पर पं० अयोध्याप्रसाद जी बी० ए० तथा अन्य अनेक आर्य-समाजी भाई मिले, जिन्होंने मेरा यथार्थ आगत-स्वागत किया और आर्य-समाज मन्दिर में ठहरने की व्यवस्था हुई। मेरे आगमन के साथ ही 'भारतमित्र' और 'विश्वमित्र' में प्रवासी-भाइयों के सम्बन्ध में अग्रलेख निकले। मुझे पहले-पहल पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, श्री० मूलचन्द अग्रवाल बी० ए० इत्यादि प्रसिद्ध पत्रकारों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। दो-चार दिन वहाँ ठहरकर मैं बिहार होता हुआ इन्दौर पहुँचा।

प्रवासी भाइयों के कुछ शुभचिन्तक
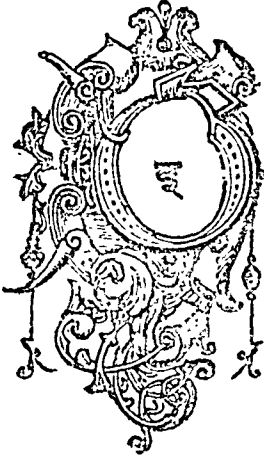
इन्दौर पहुँचकर मैं प्रवासी-साहित्य के प्रकाशक श्री० द्वारिकाप्रसाद सेवक का मेहमान बना। सेवक जी उस समय अपने सरस्वती-सदन द्वारा प्रवासी-भाइयों की अच्छी सेवा कर रहे थे, और 'प्रवासी-भारतवासी' 'दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास' इत्यादि कई ग्रन्थ प्रकाशित भी कर चुके थे। प्रवासी-साहित्य के प्रकाशन में आपकी बड़ी रुचि थी और तत्सम्बन्धी बहुत सी सामग्री आपने इकट्ठी कर ली थी। जातीय सेवा के आप बड़े-बड़े स्वप्न देखा करते और उन स्वप्नों को कार्य-रूप में परिणत करने की चेष्टा भी करते। 'नवजीवन' का सम्पादन और प्रकाशन ही आपकी शक्ति के लिए पर्याप्त था, किन्तु इतने से आपको सन्तोष कहाँ ? आपने आर्य-महिला-विद्यालय, आर्य-कन्या-विद्यालय,

आर्य-सेवा-समिति इत्यादि अनेक संस्थाओं की स्थापना की, और इनके सञ्चालन में घर की सारी पूँजी फूँक डाली। ऊपर से कई सहस्र रुपए के क़र्ज़दार भी बन बैठे। इस दुरवस्था में यदि कोई दूसरा होता, तो जातीय सेवा को दस डग दूर ही से नमस्ते करने लगता; किन्तु आपके पास एक ऐसा हृदय था, जो जातीय-जीवन की ज्योति पर पतङ्ग की भाँति जल मरने को तड़प उठता था। सच बात तो यह है कि यदि सेवक जी की स्कीमें सफल हो जातीं, तो आज वे एक बड़े प्रकाशक, बड़े साहित्यिक, बड़े धार्मिक और बड़े देशभक्त के गौरव से मण्डित होते; किन्तु असफलता ने उन्हें ज़िद्दी, अनुभव-शून्य, 'घर फूँककर तापने वाला' इत्यादि पदवियाँ दिलाकर छोड़ा।

आपके पिता डॉक्टर ओङ्कारप्रसाद जी एक बडे उत्साही पुरुष थे, और साथ ही व्यवहार-कुशल भी; किन्तु सेवक जी के कार्यों में उन्होंने कभी बाधा नहीं दी। सेवक जी की वृद्ध माता जी भी अनुभवी, कार्य-कुशल और स्नेहवती थीं; लेकिन सेवक जी के हाथ रोकने की शक्ति उनमें भी नहीं थी। तात्पर्य यह कि सेवक जी अपने विचार के अनुसार कार्य करने में सर्वतन्त्र स्वतन्त्र थे। सेवक जी में कोई व्यसन नहीं था, किन्तु परोपकार के पीछे मस्त फ़क़ीर बने फिरते थे। उस समय सेवक जी के नाते की फूआ श्रीमती ठकुरानी-बाई। और उनकी दो कन्याएँ—रुक्मिणीदेवी और सुशीलादेवी भी उनके साथ ही रहती थीं। मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि सेवक-परिवार के प्रत्येक सभ्य के हृदय में प्रवासी-भाइयों के

लिए दर्द और प्रेम था, और इसी कारण इस परिवार के साथ मेरा परिचय भी हुआ।

उस समय प्रवासी-भाइयों के जीवन-धन पण्डित बनारसी-दास चतुर्वेदी जी भी इन्दौर में थे। यहाँ के डेली-कॉलेज में आप हिन्दी के अध्यापक थे। 'प्रवासी-भारतवासी' के नाते 'एक भारतीय हृदय' का नाम तो मुझे जिह्वाग्र हो चुका था, किन्तु चतुर्वेदी जी ही वह गुमनाम व्यक्ति हैं, यह मैं अब तक नहीं जानता था। सेवक जी के मकान पर ही आपसे पहले-पहल मुलाक़ात हुई। आपकी सौजन्यता, सहृदयता और निरभिमानता ने मेरे ऊपर बड़ा प्रभाव डाला। प्रवासी-भाइयों के प्रश्नों के आप बड़े अच्छे ज्ञाता हो गए थे, और इस विषय पर पूर्ण अध्ययन और अनुशीलन के पश्चात् ही 'प्रवासी-भारतवासी' की रचना हुई थी। 'प्रवासी-भारतवासी' विशाल भारत का काव्य-चित्र है, प्रामाणिक इतिहास है; दासत्व-काल का दर्पण है; संसार-व्यापी भारतीय अपकीर्ति की करुण-कथा है और प्रवासी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है। इस विषय पर ऐसा श्रेष्ठ, ऐसा विचारपूर्ण और ऐसा मौलिक ग्रन्थ आज तक भारत की किसी अन्य भाषा में नहीं निकला। ऐसे महान् लेखक का इस समय हम यथोचित आदर नहीं कर रहे हैं, किन्तु भावी सन्तान अवश्य उसकी स्मृति की पूजा करेगी।

यहीं पर भाई कोतवाल बी० ए० से भी भेंट हुई। आप कुछ दिनों तक दक्षिण अफ्रिका में प्रवास कर वहाँ के भारतीय भाइयों

की सेवा कर चुके हैं। इस समय हिन्दी-संसार में आपको कौन नहीं जानता? मद्रास में हिन्दी-प्रचार कर आपने राष्ट्र-भाषा की जो गौरव-वृद्धि की है, वह सर्वथा स्तुत्य है। आप बड़े ही मिलनसार, उत्साही, विद्वान् और श्रद्धालु मनुष्य हैं। लोकमान्य तिलक के आप बड़े भक्त हैं, और इस विषय पर आपने गुजराती भाषा में एक पुस्तक भी लिखी थी, जो नेटाल के 'इण्डियन-ओपिनियन' प्रेस से प्रकाशित हुई थी। सन् १९१३ ई० की हड़ताल के समय आपने पूना के 'केसरी' में कई महत्वपूर्ण लेख लिखकर प्रवासी-भाइयों और उनके संग्राम की यथार्थ स्थिति देशवासियों के सामने रक्खी थी।

इन्दौर में ही दक्षिण अफ्रिका-प्रवासी हिन्दुओं में वैदिक-धर्म का प्रचार कर नवजीवन पैदा करने वाले श्री० स्वामी शङ्करानन्द जी के भी दर्शन हुए। यह मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात थी कि मेरा आमन्त्रण स्वीकार कर स्वामी जी काठियावाड़ से इन्दौर पधारे। आपका वह द्विव्यरूप देखकर और मधुर वाणी सुनकर मैं मुग्ध हो गया। आपने योरोप और अफ्रिका का बहुत-कुछ अनुभव प्राप्त किया है, और प्राचीन आर्य-आदर्श तथा वर्त्तमान आवश्यकताओं पर ख़ूब विचार भी। इसीलिए दक्षिण अफ्रिका में ही आपको पक्का विश्वास हो गया था कि सङ्गठन के बिना हिन्दुओं का उद्धार होना असम्भव है। आपने अपनी सारी शक्ति प्रवासी-हिन्दुओं के सङ्गठन में लगाई। वहाँ भी कुछ लोगों का यह ख़याल था कि हिन्दू-सङ्गठन का अर्थ है मुसलमानों से

द्वेष करना; किन्तु वास्तव में स्वामी जी का यह उद्देश्य नहीं था। वे एक हिन्दू-संन्यासी थे, और हिन्दू-जाति के बिखरे हुए फूलों को एकत्र करके एक माला में गूँथ देना ही उनका धर्म था; और अनेक आपत्तियों का सामना करते हुए भी स्वामी जी ने अपने धर्म का बड़ी योग्यता और निर्भयता से पालन किया। यदि स्वामी शङ्करानन्द जी की भाँति अन्य हिन्दू-संन्यासी भी अपने जीवन के दो-चार साल प्रवासी-भाइयों के लिए खर्च कर दिया करें, तो बीस लाख प्रवासी-भारतीयों के उद्धार का प्रश्न सहज ही में हल हो जाय। स्वामी जी की वाणी में बड़ा बल है। आप चाहे हिन्दी में बोलें या अङ्गरेजी में, किन्तु श्रोताओं पर असाधारण रूप से प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। इन्दौर में लगभग एक मास तक आपकी सत्सङ्गति से मैंने परा लाभ उठाया।

मेरे इन्दौर पहुँचने के पश्चात् ही प्रवासी-भारतीयों की सेवा में आत्मोत्सर्ग करने वाले संसार के सर्व-श्रेष्ठ महापुरुष महात्मा गाँधी की जन्म-जयन्ती आ गई। सेठ बालमुकुन्द भराणी आदि उत्साही पुरुषों के उद्योग से बजाजखाना-चौक में इन्दौर-निवासियों की सार्वजनिक सभा हुई। इस विराट् सभा में जनता समुद्र की भाँति उमड़ आई थी। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जनता ने इस सभा के लिए मुझे ही सभापति चुना। यद्यपि सभा-मञ्च पर मुझसे कई गुणे अधिक श्रेष्ठ, विद्वान् और योग्य व्यक्ति विद्यमान थे, तो भी मैं समझता हूँ कि एक 'प्रवासी' होने के कारण ही मुझे यह सम्मान प्रदान किया गया। इस सभा

में श्री० द्वारिकाप्रसाद सेवक; राव त्रिम्बकराव गोगटे बी० ए०; श्री० भानुशाह एम० ए०, एल्-एल्० बी०; भाई कोतवाल बी० ए०; श्री० सुखसम्पत्तिराय भण्डारी; श्री० हीरालाल सिङ्गी बी० एस-सी०; पं० श्रीकृष्ण शास्त्री; राव विनायक सीताराम सर्वटे बी० ए०, एल्-एल्० बी० इत्यादि सज्जनों के बड़े प्रभावशाली व्याख्यान हुए और सभी ने महात्मा जी की जन्म-स्मृति में श्रद्धा की पुष्पाञ्जलि चढ़ाई। इस सभा में मुझे इन्दौर के कई श्रेष्ठ पुरुषों से परिचित होने का अवसर मिला।

इसके बाद इन्दौर के हाईस्कूल में, श्रीविद्यार्थी हिन्दी-उत्कर्षक-समिति में और माहेश्वरी-मण्डल में मेरे व्याख्यान हुए; किन्तु जैनियों की एक सभा में मुझे बड़ा ही कटु-अनुभव हुआ। इसका नाम था श्रीवर्द्धमान-ज्ञान-प्रचारिणी सभा और इसके तृतीय वार्षिकोत्सव में इन्दौर के एक्साइज़-मिनिस्टर श्रीमन्त रायबहादुर सरदार किबे साहब एम० ए० की अध्यक्षता में अछूतोद्धार पर मेरा व्याख्यान होना निश्चित हुआ था। सभा में नगर-निवासियों का अच्छा जमाव हुआ, और किबे साहब भी प्रधान आसन पर सुशोभित हुए। ठीक उसी समय सभा के अधिकारियों में गहरा मतभेद हो गया। जैनियों की कट्टर जमात अछूतोद्धार पर कुछ चर्चा होने देना अनुचित समझ बैठी। जिन्होंने मुझसे मिलकर व्याख्यान का विषय निर्धारित किया था, उन्हें प्रभावशाली कट्टर लोगों के सामने झुक जाना पड़ा। वे बड़े लज्जित होकर मेरे पास आए और व्याख्यान का विषय

बदल देने के लिए प्रार्थना करने लगे; किन्तु मैंने उठकर साफ़ कह दिया कि जो जैनी कीटाणुओं पर भी दया दिखाने के लिए प्रसिद्ध हैं, मनुष्य-जाति के एक अङ्ग के साथ उनका यह व्यवहार निस्सन्देह निन्दनीय और दुखजनक है। मुझसे व्याख्यान का विषय बदल देने के लिए कहा जाता है, किन्तु मैं ग्रामोफ़ोन तो हूँ नहीं कि उसमें चाहे जो रेकर्ड भर दिया जाय। अतएव मैं सभापति और सभागत सज्जनों से क्षमा माँगकर यहाँ से बिदा होता हूँ। इतना कहकर मैं चलता बना।

भारत में जल-वायु के परिवर्त्तन के कारण मेरा स्वास्थ्य बिगड़ चला और १०५ डिग्री तक ज्वर चढ़ने लगा। सेवक जी के प्रबन्ध से इन्दौर के अच्छे-अच्छे डॉक्टर मेरा इलाज करने लगे। बीमारी से ज़रा फ़ुर्सत मिलते ही चित्तौड़गढ़ से निमन्त्रण आया। वहाँ की विद्या-प्रचारिणी सभा का वार्षिकोत्सव था, और चित्तौड़-वासियों ने मुझे ही इस उत्सव का प्रधान चुना था। शरीर के निर्बल होते हुए भी मैं चित्तौड़गढ़ जाने के लोभ का संवरन नहीं कर सका, और निश्चित तिथि को चित्तौड़ जा ही पहुँचा। स्टेशन पर ब्रह्मचारी हरि जी मिले। यह महाशय राजस्थान और विशेषतः मेवाड़ के बड़े भक्त थे, और सुप्रसिद्ध देशभक्त विजयसिंह पथिक के आदेशानुसार गाँव-गाँव घूमकर 'जागो-जागो रे मेवाड़ी भाइयो!' का मधुर सङ्गीत सुनाते फिरते थे। आज भी हरि जी राजस्थान-सेवा-सङ्घ की ओर से राजस्थानियों को जाग्रत करने के कार्य में कटिबद्ध हैं। चित्तौड़ के उत्साही कार्यकर्त्ता श्री० गोविन्दसिंह

पञ्चौली ने मेरे ठहरने और आराम के लिए बड़ी अच्छी व्यवस्था कर रक्खी थी। यहाँ भिन्न-भिन्न विषयों पर मेरे छः व्याख्यान हुए और चित्तौड़वासियों से मेरा बड़ा प्रेम हो गया। एक दिन मैं घोड़े पर सवार होकर चित्तौड़ का ऐतिहासिक दुर्ग देखने के लिए गया। उस समय मेरे हृदय में जो-जो भाव उत्पन्न हुए, उनका सम्यक् वर्णन करना वास्तव में बड़ा कठिन काम है। अहा! यह वही चित्तौड़ है, जिसके उद्धार के लिए महाराणा प्रतापसिंह वन-वन भटकते फिरे–

बच्चों का वह करुणा-क्रन्दन, भूख-भूख वह चिल्लाना!
दिन के दिन अनशन ही रहना, घास-पात फिर भी खाना!!

यह वही गढ़ है, जहाँ भारत की सहस्रों देवियों ने विदेशी शत्रुओं द्वारा अपमानित होने की अपेक्षा अग्नि-शिखा को आलिङ्गन कर जौहर-व्रत का महान् अनुष्ठान किया था; और यह वही भूमि है, जहाँ की एक-एक इञ्च भूमि रण-बाँकुरे राजपूतों के रक्त से सींची गई थी। यहाँ का एक-एक पत्थर और कङ्कड़ हिन्दुओं के आत्मोत्सर्ग का साक्षी है। गढ़ देखने के पश्चात् जब मैं एक शान्त और एकान्त स्थान पर बैठकर भारत के प्राचीन गौरव और अर्वाचीन पतन पर विचार करने लगा, तब सहसा मेरी आँखों से आँसू की धारा बह चली, और वहाँ बैठकर मैं घण्टों रोया। वास्तव में चित्तौड़गढ़ राष्ट्रभक्तों के लिए एक महातीर्थ है।

यहाँ से कुछ भाइयों के विशेष आग्रह और अनुरोध से मैं

उदयपुर गया। मेरी गाड़ी दिन के एक बजे उदयपुर पहुँची। स्टेशन पर सैकड़ों विद्यार्थियों को 'वन्देमातरम्' का घोष करते हुए देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, और पूछने पर मालूम हुआ कि बहुत-कुछ चेष्टा करने पर हाईस्कूल के केवल चार विद्यार्थियों को स्टेशन पर आने की आज्ञा मिली थी; किन्तु पाठशालाओं में जब दोपहर को छुट्टी हुई, तब समस्त छोटे-बड़े विद्यार्थी स्टेशन की ओर दौड़ पड़े। विद्यार्थियों की इस निरङ्कुशता पर मुझे खेद अवश्य हुआ, किन्तु मैंने यह भी अनुभव किया कि मेवाड़ के बच्चों के हृदयों में राष्ट्रीय सूर्य की सुनहरी किरणें छिटकने लगी हैं। मुझे आशङ्का थी कि कदाचित् विद्यार्थियों को आज्ञा-भङ्ग के अपराध में दण्ड दिया जाय, किन्तु अधिकारियों की बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता से ऐसा नहीं होने पाया, प्रत्युत अधिकारियों ने मुझे निमन्त्रण देकर हाईस्कूल के विद्यार्थियों के सामने एक व्याख्यान भी करा दिया। इसके बाद उदयपुर में मेरे कई सार्वजनिक व्याख्यान हुए। उदयपुर के राज्याधिकारियों ने मेरे साथ बहुत ही अच्छा व्यवहार किया, और भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक स्थानों के दर्शन के लिए पूरा प्रबन्ध कर दिया। यहाँ तक कि जिस दिन मुझे उदयपुर से बिदा होना था, उस दिन 'सहेलियों की बाड़ी' देखने में कुछ देर हो गई और गाड़ी का समय हो गया, किन्तु अधिकारियों ने मेरे लिए घड़ी भर गाड़ी रोक रक्खी, और जब मैं बाड़ी देखकर लौटा तब स्टेशन से गाड़ी खुली।

उदयपुर से इन्दौर लौटते हुए ग्वालियर राज्यान्तर्गत नीमच में भी

मैंने एक व्याख्यान दिया। यहाँ पर पुलिस की धींगा-धींगी देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। ज्यों ही स्टेशन से उतरकर मैं श्री० जीवन-लाल जी के मकान पर पहुँचा, त्यों ही वहाँ पुलिस वालों की भीड़ लग गई। पुलिसाध्यक्ष ने मेरा नाम-धाम पूछा सो तो मैंने बतला दिया, किन्तु जब हज़रत मेरे कमरे में आसन जमाकर अचल पाषाण की भाँति बैठ गए, तब मैं उनकी धृष्टता सहन न कर सका, और कमरे से निकल जाने की आज्ञा दी। बेचारा पुलिस-अमलदार वहाँ से बड़बड़ाता हुआ चला गया। शाम को जब व्याख्यान देने का समय हुआ, तब आप फिर दल-बल सहित पधारे और तड़पकर पूछ बैठे—यह भाषण किसकी आज्ञा से हो रहा है?

ग्वालियर-राज्य में वाक्-स्वतन्त्रता पर ऐसा कुठाराघात देखकर मैं क्रोध से अधीर हो उठा, किन्तु डॉक्टर जीवनलाल जी इत्यादि वहाँ के राज्य-नियम से परिचित थे, अतएव उन्होंने मैजिस्ट्रेट से आज्ञा ले रक्खी थी। आज्ञा-पत्र दिखा देने पर पुलिसाध्यक्ष की ज़बान बन्द हो गई, और मेरा व्याख्यान निर्विघ्न समाप्त हो गया। वास्तव में ग्वालियर-राज्य की अङ्गरेज़-भक्ति देखकर मैं दङ्ग रह गया।

इन्दौर से मथुरा पहुँचकर वहाँ की होमरूल-लीग के प्रबन्ध से पुरानी कोतवाली में मैंने दो व्याख्यान दिए। उन दिनों बड़े दिन की छुट्टियों में गुरुकुल-वृन्दावन का उत्सव हो रहा था, अतएव अपने बालकों को देखने और महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए मैं वृन्दावन पहुँचा। यह गुरुकुल संयुक्त-प्रान्त की आर्य-

प्रतिनिधि-सभा की ओर से महान् देशभक्त राजा महेन्द्रप्रताप जी प्रदत्त सुविस्तृत उद्यान में स्थापित है। श्रीमान् राजा साहब ने अपने इस बाग़ तथा अन्य भूमि सहित एक पक्का मकान, जो राजपुरा ग्राम के अन्तर्गत यमुना-तट पर वृन्दावन रेलवे-स्टेशन के सम्मुख आधी मील पूर्व की ओर स्थित है, गुरुकुल को दान देकर सन् १९११ ई० में राज्य-नियमानुसार रजिस्ट्री करा दी। यह स्थान अत्यन्त रमणीक, सघन, वृक्ष-वेष्टित और सुहावना है।

गुरुकुल की भूमि में प्रवेश करते ही एक अद्वितीय भाव का सञ्चार हो आया। शान्तिदेवी की मञ्जुल-मूर्ति का दर्शन हुआ। इतिहासों में पढ़े हुए प्राचीन ऋषियों के आश्रमों की प्रतिभा, तपोवन और तपोभूमि की गाथाओं का स्मरण हो आया। ब्रह्मचारियों के समान-रूप से पीत वस्त्र धारण, पंक्ति-बद्ध गमनागमन, मधुर भाषण और वेद-पाठ देखकर यह जान पड़ा कि मानो भारत में उस नवीन युग का आगमन हो गया, जिसके लिए इतने दिनों से आशा लगी थी। गुरुकुल का उद्देश्य शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की उन्नति करना है। इसलिए यहाँ के विद्यार्थी शारीरिक शक्ति के विकास के लिए दोनों समय नियमपूर्वक व्यायाम करते हैं। इसका फल केवल इतना ही नहीं हुआ कि गुरुकुल के ब्रह्मचारियों का स्वास्थ्य कॉलेजों के विद्यार्थियों की अपेक्षा अच्छा है, किन्तु कई ने तो यहाँ तक उन्नति की है कि प्रोफ़ेसर राममूर्ति की भाँति लोहे की मोटी-मोटी जञ्जीरें तोड़ देते हैं, मोटर रोक लेते हैं; एक-एक मन से अधिक भारी वस्तुओं को उठाकर

डेम्बल की तरह उनसे खेला करते हैं; भरी हुई बैल-गाड़ियों को छाती से उतार देते हैं। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को प्रायः प्रति वर्ष फ़ुटबॉल के एक-दो मैच कॉलेज और स्कूल के विद्यार्थियों से खेलने पड़ते हैं, किन्तु आश्चर्य तो यह है कि नङ्गे पैर से खेलने वाले ब्रह्मचारी बूटधारी विद्यार्थियों को परास्त कर दिया करते हैं। उपयोगी विषयों की मानसिक शिक्षा हिन्दी-भाषा के माध्यम से दी जाती है; अङ्गरेज़ी यहाँ की गौण-भाषा है, जो दूसरी भाषा (Second Language) की भाँति पढ़ाई जाती है। यह नहीं कहा जा सकता कि गुरुकुलों की शिक्षा सर्वाङ्गपूर्ण है; किन्तु त्रुटियों को सुधारने की ओर अधिकारियों का पूर्ण ध्यान रहता है, इससे उज्ज्वल भविष्य की सम्पूर्ण आशा है। शिक्षा की व्याख्या करते हुए मिल्टन ने बहुत उचित कहा है:—

Education is not intended to make lawyers or clergymen, soldiers or schoolmasters, farmers or artisans, but men. I call a complete and generous education which fits a man to perform justly, skilfully and magnanimously all the offices, both private and public, of peace and war.

उन दिनों गुरुकुल में अनेक प्रकार के सम्मेलन हो रहे थे। ता० २५ दिसम्बर की रात्रि को श्री० कुँवर हुक्मसिंह जी की अध्यक्षता में जो जाति-भेद-निवारण-सम्मेलन हुआ, उसमें मैंने निम्नलिखित प्रस्ताव उपस्थित किया :—

"यह सम्मेलन इस बात पर सहमत है कि भारत की सामाजिक कुरीतियों, अछूतों और स्त्रियों की पतित दशा तथा अन्य धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक उन्नति में बाधा का मुख्य कारण जाति-बन्धन है। भारत की उन्नति के लिए इस घृणित जाति-बन्धन का नाश अत्यन्त आवश्यक है। अतः इस कार्य के लिए एक समिति सङ्गठित की जाय, जिसके सदस्य व्यावहारिक रूप से जाति-बन्धन तोड़ने की प्रतिज्ञा करें। यह समिति जाति-बन्धन को तोड़ने के उपायों को सुसङ्गठित रीति पर सदैव चलाती रहे।"

इसका अनुमोदन करते हुए पं० द्विजेन्द्र जी सिद्धान्त-शिरोमणि ने बतलाया कि मद्रास में जाति-बन्धन के कारण दलित जातियों पर कैसे घोर अत्याचार होते हैं। इसके समर्थन में बाबू मदन-मोहन सेठ एम० ए० और पं० शङ्कर जी उपाध्याय ने जाति-बन्धन के विरुद्ध अनेक मार्के की बातें कहीं। इस प्रस्ताव पर बड़ा तहलक़ा मचा और मुझे कुछ आर्य-समाजियों की मानसिक दुर्बलता का बहुत अच्छा परिचय मिल गया। एक महाशय ने कहा कि सामाजिक दृष्टि से इस प्रस्ताव से सहमत होते हुए भी धार्मिक दृष्टि से हम इसे नहीं मान सकते। इसका उत्तर प्रोफ़ेसर धर्मेन्द्रनाथ जी तर्क-शिरोमणि ने दिया कि वर्ण-व्यवस्था धार्मिक सिद्धान्त है, और वर्ण-व्यवस्था के लिए कृत्रिम जाति-बन्धन का टूटना आवश्यक है। अतः यह प्रस्ताव धार्मिक दृष्टि से भी वाञ्छनीय है। श्री० गौरीशङ्कर जी ने यह संशोधन उपस्थित किया कि इस प्रस्ताव में 'राजनीतिक उन्नति में बाधा' शब्द निकाल

देने चाहिए, क्योंकि आर्य-समाज का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका उत्तर देते हुए श्री० मदनमोहन सेठ जी ने कहा कि यद्यपि आर्य-समाज सङ्गठन-रूप से राजनीतिक नहीं है, तो भी इसका यह मतलब नहीं है कि आर्यों को भी राजनीति से सम्बन्ध-विच्छेद कर देना चाहिए। अलीगढ़ के श्री० निद्धालाल ने यह संशोधन उपस्थित किया कि प्रस्ताव में 'मुख्य कारण' की जगह 'एक कारण' कर दिया जाय। इस पर प्रोफ़ेसर धर्मेन्द्रनाथ ने कहा कि जति-बन्धन सारी आपदाओं का एक कारण नहीं, अपितु मुख्य कारण है, और मेरी सम्मति में 'मुख्य-तम कारण' कर दिया जाय तो बहुत अच्छा है। श्री० विश्वम्भर-दयाल जी ने यह संशोधन पेश किया कि प्रस्ताव में 'पतित दशा' की जगह 'हीन दशा' कर दिया जाय, इस बात को मैंने स्वीकार कर लिया और अन्य आपत्तियों का यथाशक्ति उत्तर दिया। सम्मति लेने पर सब संशोधन गिर गए और मेरा प्रस्ताव मूल-रूप से स्वीकृत हुआ। इस प्रस्ताव के अनुसार उसी समय जाति-बन्धन तोड़ने की प्रतिज्ञा करने वालों की एक स्थायी समिति का सङ्गठन भी हो गया।

दूसरे दिन अर्थात् २६ दिसम्बर को गुरुकुल के विशाल मण्डप में आर्य-कॉन्फ्रेन्स की बैठक हुई। स्वागताध्यक्ष श्री० मदनमोहन जी सेठ एम० ए० थे और प्रधान थे श्री० स्वामी सत्यानन्द जी महाराज। इस सम्मेलन में मैंने निम्नलिखित प्रस्ताव उपस्थित किया :—

"सामाजिक उन्नति के लिए निम्न-साधनों का अवलम्बन किया जाय (१) महर्षि दयानन्द के लेखानुसार प्रतिनिधि-सभा के अन्तर्गत धर्म-सभा और विद्या-सभा स्थापित की जायँ; (२) हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने की दृष्टि से समस्त प्रान्तों में उसका विशेष रूप से प्रचार किया जाय; (३) अछूत कहलाने वालों की उन्नति की ओर पूरा ध्यान दिया जाय और उनको किसी प्रकार अनधिकारी अथवा नीच न समझा जाय; (४) स्त्रियों की शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया जाय और उनको पूर्ण सम्मान का पात्र समझा जाय।"

इसका अनुमोदन प्रोफ़ेसर धर्मेन्द्रनाथ तर्क-शिरोमणि ने और समर्थन 'आर्य-प्रकाश' के सम्पादक श्री० परधूभाई ने किया और यह सर्व-सम्मति से पास हुआ।

गुरुकुल-प्रवास के समय मुझे महात्मा नारायण स्वामी जी, पं० घासीराम जी एम० ए०; कुँवर हुक्मसिंह जी; प्रोफ़ेसर धर्मेन्द्रनाथ तर्क-शिरोमणि; पं० गङ्गाप्रसाद जी एम० ए०; श्री० मलखानसिंह बी० एस्-सी०; श्री० मदनमोहन सेठ एम० ए०; श्री० पूर्णचन्द्र जी बी० ए०; पं० शिवनारायण जी शुक्ल बी० ए०; श्री० विश्वम्भरदयाल जी; प्रोफ़ेसर ज्वालाप्रसाद जी एम० ए० इत्यादि संयुक्त-प्रान्त के आर्य-नेताओं से मिलने और सत्सङ्ग करने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। वहाँ से मैंने राष्ट्रीय महासभा में सम्मिलित होने के लिए अमृतसर को कूँच किया !!

अमृतसर के राष्ट्रीय तीर्थ में

२७ दिसम्बर सन् १९१९ ई० को भुवन-भास्कर के उदित होते ही मैं अमृतसर पहुँचा। स्टेशन पर बड़ी भीड़ थी। जनरल डायर की ख़ूनी करतूतों से उन दिनों अमृतसर भारतीयों के लिए एक महान् राष्ट्रीय तीर्थ बन गया था, और सहस्रों तीर्थ-यात्रियों के आगमन से अमृतसर नगर काशी या प्रयाग का मेला बना हुआ था। सबके हृदयों में देशभक्ति की उमङ्गें उठ रही थीं, और नौकरशाही के प्रति घृणापूर्ण धिक्कारें। मैं स्टेशन से सीधा कॉङ्ग्रेस के गाँधी-फाटक पर पहुँचा। राष्ट्रीय फ़ौज दरवाज़े पर पहरा दे रही थी। यद्यपि अन्दर जाने की मनाही थी, तो भी परिचय देने पर अन्दर जाने की इजाज़त मिल गई। मैंने अन्दर जाकर देखा कि एक कमिटी बैठी हुई है, और उसमें कुछ ज़रूरी चर्चा हो रही है। सभापति के

आसन पर श्री० स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज सुशोभित हैं। मैं एक पेड़ के नीचे खड़ा हो गया और एक स्वयंसेवक द्वारा अपने नाम का कार्ड अन्दर भिजवाया। स्वामी जी ने तुरन्त मुझे अन्दर बुला लिया और मैंने वहाँ पहुँचकर भारत के उस महान् संन्यासी के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया। कुशल-क्षेम के अनन्तर स्वामी जी ने मुझे अपने खेमे में बैठने का अनुरोध किया, किन्तु उस दिन मुझे चुपचाप बैठना भला कैसे अच्छा लग सकता था। मैं कॉङ्ग्रेस के अहाते में इधर-उधर चक्कर काटने लगा। कुछ देर में दस की घण्टी बजी। देखा, बाबू विपिनचन्द्रपाल पहुँच गए, उनके मुखारविन्द से सिगरेट के धुएँ का गुबार निकल रहा है। वह देखो, श्रीमती एनी बिसेण्ट की सवारी आई और उनके साथ भक्त तैलङ्ग भी हैं। कुछ ही देर बाद वोमन जी, जीतेन्द्र-लाल बनर्जी, सत्यमूर्ति, सैयदहुसेन, जिन्ना और हसरतमोहानी साहब भी आ गए। वह देखो, पं० मदनमोहन मालवीय जी एक मोटर पर पधारे और उनके पीछे महात्मा गाँधी जी भी आए। मैंने भारत के इन दोनों महापुरुषों की पद-रज माथे पर चढ़ाई। इतने में पं० मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु चित्तरञ्जन-दास आ गए। इन दोनों त्यागमूर्तियों से मेरा परिचय आरा नगर में हो चुका था। अन्त में एक मोटर आई, उसमें मराठी पगड़ी बाँधे हुए तीन-चार सज्जन विराज रहे थे। मैंने बड़े ग़ौर से देखा और मुझे पहचानने में तनिक भी दिक़्क़त न हुई कि इनमें एक भारत-भाल-तिलक लोकमान्य तिलक महाराज हैं, और उनके

आसपास पं० नरसिंह चिन्तामणि केलकर और डॉक्टर मुञ्जे बैठे हुए हैं।

अमृतसर के लोगों ने जिस तल्लीनता के साथ कॉङ्ग्रेस का प्रबन्ध किया था, वह प्रशंसनीय था। पिण्डाल के अन्दर केवल पन्द्रह सहस्र मनुष्य बैठ सकते थे, किन्तु लगभग २० सहस्र मनुष्य राष्ट्रीय महासभा में सम्मिलित हुए। पिण्डाल में समय से पहले ही तिल रखने की भी जगह नहीं थी, इसलिए महात्मा गाँधी की प्रधानता में एक कॉङ्ग्रेस अलग करने की घोषणा भी की गई; और लोगों को यह भी प्रलोभन दिया गया कि जेल से छूटकर आए हुए पञ्जाबी-नेता भी उस कॉङ्ग्रेस में बोलेंगे, परन्तु कोई भी पिण्डाल से बाहर नहीं गया। सवा दो बजे प्रधान पं० मोतीलाल नेहरू के साथ माननीय श्री० निवास शास्त्री, रामस्वामी अय्यर, हसनइमाम, कस्तूरी रङ्गा आयङ्गर, बी० चक्रवर्ती, हकीम अजमलखाँ इत्यादि महानुभावों के भी दर्शन हुए। अरे वह देखो, लाला हरकिशनलाल, पं० रामभजदत्त चौधरी, डॉक्टर सत्यपाल, डॉक्टर किचलू और लाला धर्मदास सूरी आदि जेल के सीखचों से निकलकर फूल-मालाओं से सुशोभित, 'वन्देमातरम्' की ध्वनि के साथ मञ्च पर पधारे। प्रवासी होने के कारण मुझे मञ्च के समीप ही बैठने के लिए स्थान दिया गया था। उस समय लोगों में इतना जोश था कि जो बयान से बाहर है। स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अपना जोरदार भाषण हिन्दी में पढ़ा। एक स्थान पर ओडायर

के नाम के आगे 'श्रीमान्' शब्द होने के कारण लोगों में कोलाहल मच गया और स्वामी जी को वह शब्द काट देना पड़ा। बीच-बीच में 'डायर हत्यारा' और 'ओडायर कायर' की आवाज़ उठ रही थी। मालूम होता था कि भारत अपनी पराधीनता पर पश्चात्ताप कर रहा है। प्रधान नेहरू जी के भाषण के बाद कॉङ्ग्रेस की पहली बैठक समाप्त हुई।

दूसरे दिन की बैठक में मौलाना शौकतअली और मुहम्मद-अली के भी दर्शन हुए। आज प्रवासी-भाइयों के प्रश्नों पर ख़ूब चर्चा हुई। महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रिका सम्बन्धी निम्नलिखित प्रस्ताव उपस्थित किया:—

"(क) दक्षिण अफ्रिका में, विशेषकर ट्रान्सवाल में बसे हुए भारतवासियों की अब तक की भोगी हुई सम्पत्ति तथा व्यापार-सम्बन्धी अधिकार छीनने का जो प्रयत्न हो रहा है, उसका यह कॉङ्ग्रेस प्रतिवाद करती है, और आशा करती है कि हाल में वहाँ जो क़ानून बनाया गया है, भारत-सरकार उससे दक्षिण अफ्रिका-प्रवासी भारतीयों की पद-प्रतिष्ठा सुरक्षित रखने का उपाय करेगी। (ख) इस कॉङ्ग्रेस की राय में इस समय पूर्व अफ्रिका में भारतीयों के विरुद्ध जो आन्दोलन हो रहा है, वह बेईमानी से भरा हुआ है और कॉङ्ग्रेस को विश्वास है कि भारत-सरकार भारत से पूर्व अफ्रिका में बेरोक-टोक जा सकने तथा पूर्व अफ्रिका में (जर्मनी से जीत कर लिए हुए प्रदेश में भी) बसे हुए भारतीयों के समस्त राजनीतिक और नागरिक अधिकारों की रक्षा करेगी।"

इस प्रस्ताव को उपस्थित करते हुए महात्मा जी ने हिन्दी और अङ्गरेजी में बड़ा ही प्रभावशाली व्याख्यान दिया। इसके अनुमोदन और समर्थन में श्री० नटराजन, दक्षिण अफ्रिका के नादिरशाह कामा, पूर्व अफ्रिका के एस० पी० ठाकुर और जञ्जीवार के भाई बी० एन० अनन्तार्णी के भाषण हुए। तत्पश्चात् पं० मदनमोहन मालवीय ने निम्नलिखित प्रस्ताव पेश किया:—

"(क) यह कॉङ्ग्रेस वायसराय की इस घोषणा से कि इस साल के अन्त में फ़िजी के शर्तबन्धी कुली सम्भवतः मुक्त कर दिए जायँगे—सन्तोष और कृतज्ञता प्रकट करती है, और आशा प्रकट करती है कि साल ख़तम होने से पहले ही सरकार इस आशय की निश्चित घोषणा करेगी। कॉङ्ग्रेस को विश्वास है कि किसी क़िस्म की, किसी भी नाम से शर्तबन्ध कुलियों के चलान की प्रथा फिर जारी नहीं की जायगी। (ख) फ़िजी, पूर्वी और दक्षिण अफ्रिका के भारतीयों की निस्स्वार्थ सेवा के लिए यह कॉङ्ग्रेस श्री० सी० एफ़० एण्ड्रयूज़ के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है।"

इसका अनुमोदन माननीय वी० नरसिंह शर्मा ने किया और समर्थन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रवासी-भाइयों के सम्बन्ध के उक्त दोनों प्रस्ताव सर्वानुमत से स्वीकृत हुए और इसके साथ ही उस दिन की बैठक भी समाप्त हुई।

महासभा के आदि से अन्त तक के सभी अधिवेशनों में मैं उपस्थित हुआ। सुधार-योजना के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण

चर्चा हुई। उस समय महात्मा जी सहयोग के पक्ष में थे, और लोकमान्य प्रतिसहयोग के। लोकमान्य और देशबन्धु शासन-सुधार को 'अपर्याप्त, असन्तोषजनक और निराशापूर्ण' बतला रहे थे और महात्मा जी मूल प्रस्ताव से 'निराशाजनक' शब्द निकलवा देना चाहते थे; किन्तु अन्त में समझौता हो गया और मूल प्रस्ताव माण्टेगू साहब के धन्यवाद के साथ पास हुआ।

* * * *

इसी अवसर पर राजपूताना-मध्यभारत सभा का द्वितीय वार्षिक अधिवेशन श्री० हरदयाल दुर्गादत्त की धर्मशाला में बैरिस्टर गिरिधारीलाल के सभापतित्व में हुआ। इन्दौर, ग्वालियर, टीकमगढ़, बूँदी, अलवर, धौलपुर, जोधपुर, जयपुर, किशनगढ़, बीकानेर, मेवाड़ आदि स्थानों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। कलकत्ता, बम्बई, कानपुर और अजमेर के कितने ही मारवाड़ी-भाई और काठियावाड़ की रियासतों के प्रजामण्डल के मन्त्री श्री० मणिलाल जी कोठरी, बी० ए०, एल्०-एल्० बी० भी पधारे थे। इनके अतिरिक्त सभा के उद्देश्यों से सहानुभूति रखने वाले ब्रिटिश-भारत के अनेक सज्जन उपस्थित थे।

मैं भी इस सभा में ठीक समय से कुछ पहले ही पहुँचा और एक कोने में बैठकर इधर-उधर देखने लगा। वहाँ कई मनुष्य बैठे हुए थे, किन्तु मेरी दृष्टि एक विशिष्ट पुरुष पर इस तरह गड़ गई कि हटाए नहीं हटती थी। जाड़े की ऋतु थी, अमृतसर का जाड़ा मुझे ट्रान्सवाल का स्मरण दिला रहा था। इसलिए उस

पुरुष का शरीर, जिस पर मुझे स्वाभाविक रूप से श्रद्धा उत्पन्न हो रही थी, एक देशी धुस्सा से ढँका हुआ था और शीश पर पगड़ी शोभ रही थी। मुखमण्डल पर वीरता की रेखा और नेत्रों में देश-भक्ति की झलक दिखाई पड़ती थी। राजपूती दाढ़ी छटा से फहरा रही थी। मैं उस पुरुष को देखने में इस तरह तन्मय हो रहा था कि मुझे और किसी ओर कुछ ध्यान ही नहीं था। अचानक ब्रह्मचारी हरि को उसके पास पहुँचकर कुछ कहते हुए देखा। वह पुरुष तुरन्त अपनी जगह से उठकर मेरी ओर बढ़ा और मुझ पर एक स्नेहपूर्ण दृष्टि डाली। अब मुझे यह समझने में दुविधा न रही कि वह भद्र पुरुष मुझसे ही मिलने आ रहा है। मैं भी उठकर उसी ओर चला! जब हम एक-दूसरे के पास पहुँच गए, तब हरि जी ने मुझे बतलाया कि आप ही पथिक जी हैं। अहा! पथिक का नाम सुनते ही मेरे शरीर में बिजली दौड़ गई, और मेरे हर्ष की सीमा नहीं रही। चाहा कि उनके चरण स्पर्श कर लूँ, किन्तु उस सत्यपुरुष ने मुझे ऐसा करने नहीं दिया। उसके विशाल हृदय ने मेरे क्षुद्र हृदय को आश्रय दिया। मेवाड़ में पथिक जी की कीर्ति-कथा सुनकर उनसे मिलने की बड़ी अभिलाषा थी, वह पूर्ण हो गई। इसके बाद फिर पथिक जी से कभी मेरी भेंट नहीं हुई, किन्तु शेरमर्द विजयसिंह पथिक से मेरी घनिष्ठता और मित्रता बढ़ती ही गई। अस्तु—

यहाँ मैंने बिजौलिया की निरीह प्रजा की करुण-कहानी सुनी और मेरी आँखों से बेअख्तियार आँसू निकल पड़े। बिजौलिया

की प्रजा उस समय कष्ट, आपत्तियों और कठिनाइयों से अधीर हो उठी थी, और अन्याय की वेदी पर बलिदान होने के लिए प्रस्तुत थी। वहाँ के नृशंस और जघन्य अत्याचार की कथा सुनकर मुझे कुछ समय के लिए प्रवासी गोरों के अत्याचार की गाथा भूल गई। मनुष्य के प्रति मनुष्य की ऐसी पाशविक वृत्ति ! छिः-छिः !! राम-राम !!! सत्याग्रही किसानों को पकड़कर हृदय हिला देने वाली दुर्गति की जाती। पहले दोनों पैरों के बीच में एक गज़ का अन्तर रखकर खड़ा किया जाता; फिर दोनों हाथ कन्धों की सीध में लम्बे कराकर हर एक हाथ पर छः-छः सेर का पत्थर रख दिया जाता, और लगभग दस-दस सेर का एक-एक पत्थर दो-दो लकड़ियों के सहारे पेड़ू पर बाँध दिया जाता और फिर कन्धे, कोहनी तथा कलाइयों की जोड़ों पर डण्डे लगाए जाते। बेचारों के जगह-जगह गाँठें बँध जातीं और कोहनियों से खून बहने लग जाता। यह दण्ड भुगतने के बाद जब वे अभागे बिलकुल बेदम हो जाते, तब काठ मँगाया जाता और हरएक का एक पैर पहले छेद में और दूसरा चौथे छेद में फँसा दिया जाता। काठ का हर एक छेद एक-दूसरे से साधारणतया एक हाथ और कम से कम पौन हाथ की दूरी पर होता। इस असह्य वेदना की अवस्था में वे दिन भर रक्खे जाते, और उनके ऊपर नालदार जूतों की ठोकरें लगाई जातीं। जब तक सत्याग्रही किसान लगान देने पर राज़ी न होते, तब तक इस प्रकार की यन्त्रणाओं से छुट्टी न मिलती।

इन अत्याचारों का मूल कारण यह था कि बिजौलिया के

किसानों पर अनेक प्रकार के टैक्स लगाए गए थे, और इस अन्याय के विरुद्ध प्रजा ने सत्याग्रह का अवलम्बन किया था। प्रजा-शक्ति की जाग्रति देखकर राज-शक्ति उन्मत्त होकर नग्न-नृत्य करने पर तुल गई। मेवाड़ के इतिहास में यह एक ऐसी घटना थी, जिसकी ओर समस्त देश का ध्यान आकर्षित हो गया था। इस परिस्थिति की जाँच के लिए सभा ने एक कमीशन चुना, जिसका एक सदस्य मुझे भी बनाया गया। यद्यपि दक्षिण अफ्रिका-सम्बन्धी कार्यों की अधिकता से मुझे इस उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य में हाथ लगाने का अवकाश नहीं था, तो भी मैंने मनुष्यता के नाम पर और देश की भावी स्वतन्त्रता के नाम पर इस पद को अङ्गीकार कर लिया।

निश्चित समय पर मैं जाँच के लिए तैयार हुआ और अपने आने की सूचना उदयपुर के महाराणा जी को दी। वहाँ से तार द्वारा उत्तर मिला—श्रीमान् ने प्रजा की शिकायतों की जाँच करने के लिए पहला कमीशन नियुक्त किया है, जिसमें पं० रमाकान्त मालवीय भी सम्मिलित हैं। आपको उसकी रिपोर्ट प्रकाशित होने तक ठहर जाना चाहिए। मुझसे कहा गया था और मैंने पत्रों में भी पढ़ा था कि उदयपुर-राज्य की ओर से श्री० बिन्दुलाल भट्टाचार्य की अध्यक्षता में एक जाँच-कमीशन पहले भी चुना गया था, जिसकी रिपोर्ट प्रकाशित ही नहीं हुई। मैंने इस बात की भी शिकायत की थी; किन्तु मुझसे कहा गया कि यह पहला ही कमीशन है। ख़ैर, बिजौलिया-पञ्च बोर्ड और सभा की यही राय

हुई कि कमीशन की रिपोर्ट निकालने तक ठहर ही जाना उचित है।

* * *

उन दिनों जलियानवाला बाग़ राष्ट्रीय तीर्थों में महातीर्थ बन गया था, और प्रायः दिनभर इस बाग़ में दर्शकों का मेला लगा रहता था। मैं भी इस बाग़ में पहुँचा। अभी तक दीवारों पर गोलियों के निशान बने हुए थे और वीर-गति प्राप्त हुए शहीदों के रक्त के छींटे विद्यमान थे। वहाँ पहुँचते ही मेरी आत्मा विद्रोही हो उठी, और वह भगवान् को सम्बोधन कर कहने लगी—भक्त-वत्सल! आपने वचन दिया था कि जब-जब संसार में धर्म की हानि होती है और अन्यायी, असुर, अत्याचारी और आततायी बढ़ जाते हैं, तब-तब हम धर्म की रक्षा के लिए किसी महात्मा में अपनी शक्ति का सञ्चार करते हैं; और ऐसा आपने किया भी था। हिरण्यकश्यप का मद तोड़ने के लिए सत्याग्रही प्रह्लाद को सिरजा था; रावण-वंश के विध्वंस के लिए राम को भेजा और कंस के नाश के लिए श्रीकृष्ण को उपजाया। करुणानिधि! ऐसा कौन सा अन्याय, अत्याचार और अधर्म अभी शेष है, जिसकी प्रतीक्षा में आपका न्याय-चक्र ठहरा हुआ है। दयासागर! हिरण्यकश्यप ने तो केवल एक सत्याग्रही की परीक्षा ली थी, किन्तु आज तो सहस्रों देशभक्तों की अग्नि-परीक्षा हो रही है। भारतीयों को पेट के बल रेंगवाना और उनकी नङ्गी पीठ पर चाबुक लगवाना वर्त्तमान नौकरशाही के बाएँ हाथ का खेल हो रहा है। एक बालक

प्रह्लाद के लिए आप दौड़ पड़े थे, किन्तु इस बाग़ में तो अनेक निर्दोष बालक मशीन-गन से भून डाले गए। उनकी चीत्कार क्या आपके दरबार तक नहीं पहुँची। रावण तो भारतमाता की एक पुत्री सीता जी को हर ले गया था, और इस पाप-कुण्ड में उसे अपने सारे कुल को झोंक देना पड़ा; किन्तु वर्त्तमान नौकरशाही तो भारतमाता ही का हरण कर चुकी है—उस माता का, जिसकी गोद में कभी हरिश्चन्द्र, रघु, दलीप, गर्ग, गौतम, अङ्गिरा, राम, कृष्ण, बुद्ध इत्यादि पले थे' कंस के कारागार से वसुदेव-देवकी के बन्दी-मोचन के लिए आपको चिन्ता हुई थी; किन्तु नौकरशाही के राज्य में तो हजारों देशभक्त हथकड़ी और बेड़ी में बँधे हुए बन्दी-घरों से आपको पुकार रहे हैं। दुःशासन ने द्रौपदी का चीर पकड़कर खींचा था और उसको दण्ड देने के लिए आपने भीमसेन को तैयार किया; किन्तु वर्त्तमान दुःशासन ने पञ्जाब में हमारी बहिनों की अप्रतिष्ठा तक कर डाली। यह सब कुछ हुआ—दिन दहाड़े आपके प्रतिनिधि सूर्य के सामने, तो भी आप शान्त होकर बैठे हुए हैं। न्यायकारी! क्या आपके न्याय-चक्र की शक्ति घट गई? क्या आपको अब भारतीय स्त्रियों का अपमान नहीं अखरता? क्या मनुष्यता को नाक रगड़ कर रेंगते हुए देखकर आपको कुछ भी दया नहीं आती? क्या दीन-दुखियों की आहों से आपका हृदय नहीं पसीजता? हा नाथ! कब तक भारत की छाती पर अत्याचार—दैत्य का ताण्डव-नृत्य होगा?

* * *

अमृतसर में मैं सेवा-समिति के कार्यालय में ठहरा हुआ था। एक तो वैसे ही जाड़े का मौसम था, उस पर .खूब वृष्टि हो गई। फिर तो जाड़ा .खूब रङ्ग लाया। मेरे पास केवल दो कम्बल थे, जिससे वहाँ का जाड़ा बर्दाश्त करना बड़ा कठिन कार्य था। मेरी बग़ल में एक पञ्जाबी महाशय की चारपाई पड़ी हुई थी। मेरी दशा पर आपको बड़ी दया आई। जब मैं सो गया और मेरे घुटने मुँह को चूमने लगे, तब आपने मेरे ऊपर एक गर्म कम्बल डाल दिया। सोकर उठने पर मैंने उनको धन्यवाद दिया, किन्तु वह महाशय धन्यवाद के भूखे तो थे नहीं, प्रत्युत उनके विशाल हृदय में अपने देशवासियों के प्रति प्रेम की अटूट धारा वह रही थी। आप गौर वर्ण के लम्बे जवान थे, मुख पर देश-प्रेम की आभा प्रदीप्त थी, और शील-स्नेह की तो आप मानो जीवित मूर्ति ही थे। दोपहर को आपने अपने साथ भोजन करने के लिए मुझे निमन्त्रित किया और कहा—चलिए, किसी पञ्जाबी होटल में भोजन कर आएँ, और मैं अपने घर से घी लेता आया हूँ, उसे खाकर आप अवश्य सन्तुष्ट होंगे। भोजनान्तर हमारे अपरिचित मित्र महाशय लिखने के काम में लग गए। उनकी सज्जनता और सहृदयता देखकर, उनका परिचय प्राप्त करने की मुझे उत्कट इच्छा हुई। मैंने पूछा—आपका मकान कहाँ है ?

"मेरा मकान पञ्जाब में है।"

"आप क्या काम करते हैं ?"

"अभी तो मैं कोई काम नहीं करता। हाल ही में जेल से छूट कर आया हूँ।"

"जेल से! किस जेल से?"

"अण्डमान के कालेपानी की जेल से।"

"वर्त्तमान क़ानून के किस अपराध में?"

"अख़बार-नवीसी के।"

"कौनसा अख़बार?"

"उर्दू 'स्वराज्य।"

"क्या आप ही लाला नन्दगोपाल जी हैं?"

"जी हाँ।"

अब तो मैं अपने को सँभाल न सका और दौड़कर उनसे लिपट गया। पाठक! क्या आप जानना चाहते हैं कि इस देश-भक्त ने अण्डमान में कैसे-कैसे कष्ट झेले? अच्छा सुनिए, एक भुक्त भोगी श्री० उपेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय के मुख से सुनने में अधिक मनोरञ्जक और उपयुक्त होगा—

"प्रयाग के 'स्वराज्य' के सम्पादक श्री० नन्दगोपाल को भी कोल्हू घुमाने पर लगा दिया गया। वह पञ्जाबी खत्री था। लम्बा-चौड़ा जवान था। राजद्रोह के अपराध में दस साल के लिए कालेपानी में आया था। कोल्हू पर जाकर एडीटर साहब ने एक नया फ़िसाद खड़ा कर दिया। पहले तो बोले—इतने ज़ोर से मैं कोल्हू नहीं चला सकता। कोल्हू ख़ूब धीरे-धीरे चलने लगा। नतीजा यह हुआ कि दस बजे तक चौथाई भी तेल न निकला। दस बजे

खाना खाने के लिए नीचे आते थे और खाकर मामूली क़ैदी तो पाँच-चार मिनिट में ही कोल्हू घुमाने चले जाते थे, पर जेल के क़ानून के अनुसार दस से बारह तक का समय खाने और आराम करने का था, लेकिन क़ैदी ठहरते न थे, क्योंकि १५ सेर तेल निकालना बड़ा कठिन काम था। नन्दगोपाल को यह भय कहाँ? पेटी-अफ़सर ने आकर उन्हें झटपट खाकर काम पर लग जाने को कहा। नन्दगोपाल ने उससे हँसते हुए तन्दुरुस्ती के क़ायदे-क़ानून समझा कर कहा कि खाना खाकर फ़ौरन काम करने से मेदे की नलियों पर ज़ोर पड़कर किस तरह हाज़में की ताक़त मारी जाती है, और उन्हें जब दस वर्ष सरकार बहादुर का मेहमान रहना है, तब किसी तरह से अपनी तन्दुरुस्ती बिगाड़ कर वह सरकार को बदनाम करना नहीं चाहते। इसकी रिपोर्ट जेलर के पास पहुँची। जेलर ने आकर देखा कि नन्दगोपाल डॉक्टरों की राय के मुताबिक़ एक-एक गस्से को बत्तीस-बत्तीस दफ़ा चबाकर धीरे-धीरे गले के नीचे उतार रहे हैं। जेलर साहब ने गरज-गरज कर एडीटर साहब को यह बात समझाई कि अगर वक्त पर काम न हुआ, तो बेंत मारे जायँगे। वैसे ही हँसकर नन्दगोपाल ने जेलर साहब से कहा—सरकार बहादुर ने १० से १२ बजे तक का वक्त खाने और आराम करने के लिए मुक़र्रर कर दिया है; इसलिए मैं राज-भक्त आदमी सरकार के क़ानून को किसी तरह नहीं तोड़ सकता, बल्कि यह भी देखता रहूँगा कि आप कहीं सरकार के क़ानून को न तोड़ दें। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि जेलर साहब ग़ुस्से में

गरजते हुए विदा हुए। खाना खाकर नन्दगोपाल उठे। पेटी-अफ़सर ने समझा कि शायद अब एडीटर साहब काम पर लगेंगे, पर नन्दगोपाल जी एक कम्बल बिछाकर मजे में सो रहे। खूब बकने-झकने, पुकारने और चीखने से भी न उठे। बारह बजे उठ कर नन्दगोपाल ने कोल्हू चलाना शुरू किया। क़रीब दो घण्टे चलाया होगा; जब देखा कि सात सेर के क़रीब तेल हो गया तब बाक़ी नारियलों को छोड़कर आप मजे से बैठ गए। अफ़सर ने कहा—अभी तो आधा ही तेल निकला है, बाक़ी आधा कौन निकालेगा।

"नन्दगोपाल ने उत्तर दिया—मुझे क्या मालूम कौन निकालेगा। मैं आदमी हूँ, कोल्हू का बैल तो हूँ नहीं, जो दिनभर कोल्हू चलाऊँ। खाने को तो छः पैसे का भी नहीं देते और तेल निकलवाते हैं १५ सेर!

"जेल के अफ़सरों में तर्जन-गर्जन शुरू हुई, पर नन्दगोपाल वैसे ही हँसते-मुँह निर्विकार महापुरुष की भाँति बातें कर रहे थे। सुपरिण्टेण्डेण्ट ने देखा कि नन्दगोपाल से १५ सेर तेल निकालने की उम्मीद ही नहीं है, इसलिए पैरों में डण्डा-बेड़ी डालकर काल-कोठरी में बन्द कर दिया गया।" इस प्रकार अद्वितीय कष्ट-सहिष्णुता का परिचय देकर श्री० नन्दगोपाल जी ने कालेपानी के भगवान् के छक्के छुड़ा दिए।

* * *

तीसरी जनवरी को मैंने विहार जाने के लिए टिकिट ख़रीदा, और अपना विस्तर बाँध कर तैयार हुआ। नन्दगोपाल जी से मैं कुछ बातें कर रहा था। इतने में अमृतसर होमरूल-लीग के मन्त्री जी ने आकर मुझसे पूछा—आप ही का नाम भवानीदयाल जी है।?

मेरे 'हाँ' कहने पर मन्त्री जी ने कहा—आज वन्देमातरम्-हॉल में एक सभा होगी, जिसमें लोकमान्य तिलक महाराज का व्याख्यान होगा। लोकमान्य ने आपका हिन्दी-व्याख्यान कॉङ्ग्रेस में सुना था, इसलिए उनकी इच्छा है कि आप भी सभा में पधारें और प्रवासी-भारतीयों के सम्बन्ध में कुछ कहें। यद्यपि मैं स्टेशन जाने को तैयार बैठा था, तो भी नन्दगोपाल जी की विशेष प्रेरणा से मन्त्री जी को 'बहुत अच्छा' कहकर विदा किया। सभा में प्रवेश के लिए चार आने का टिकिट लगा था। तो भी वन्देमातरम्-हॉल में तिल रखने की जगह नहीं थी। यहाँ तक कि कुछ लोगों को निराश होकर लौट भी जाना पड़ा। बड़ी मुश्किलों से नन्दगोपाल जी को टिकिट मिला। डॉक्टर किचलू ने सभापति का आसन ग्रहण किया। लोकमान्य के पधारने पर जय-घोष और उनकी विधिवत् पूजा हुई। डॉक्टर किचलू के पूछने पर लोकमान्य ने कहा—पहले भाई भवानीदयाल का व्याख्यान कराइए, फिर मैं अङ्गरेजी में बोलूँगा। मैं तो उस समय लोकमान्य को देखने में तन्मय हो रहा था, और रह-रहकर यह पद्य स्मरण आता था:—

अति दूर घर से जाकर वर्षों वहाँ विताकर !
परिवार-सुख को छोड़ा तन ताप में तपाकर !!
आपत्तियों से जिसने सर को नहीं झुकाया !
सर में तिलक सुयश का जग में तिलक कहाया !!
दुखिनी स्वदेश-माता का एक यह सहारा !
जीवित रहे वहुत दिन प्यारा तिलक हमारा !!

खैर, सभापति की आज्ञा से मैं बोलने के लिए खड़ा हुआ; हृदय भक्ति की गङ्गा में डूब रहा था, और गला भर आया था। बहुत साहस कर कुछ देर तक प्रवासी-भारतीयों के सम्बन्ध में कुछ कह गया। फिर लोकमान्य तिलक, पं० नरसिंह चिन्तामणि केलकर और डॉक्टर मुञ्जे के व्याख्यानामृत पान करके मैं गाड़ी पकड़ने के लिए स्टेशन की ओर भागा और सौभाग्यवश मुझे गाड़ी भी मिल गई !!

The Searchlight

It can unhesitatingly be said that it can take its rank with any high class magazine.

***

The Indian Social Reformer

We have often noticed in these columns the excellent work done by the Hindi Journal—the CHAND. The Chand' has justified its existence as one of the best Hindi magazines.

***

The Forward

The neatness of the paper and its get-up leaves nothing to be desired. It has raised a general consciousness in the Hindi-knowing-world.

***

The Mysore Chronicle

Few vernacular papers and magazines can boast of such a well-conducted magazine as the " Chand."

***

The Bombay Chronicle

It has justly won a reputation all over India, Lovers of social regeneration in India, especially those who are well-off, can benefit themselves and also do a good turn to this magazine by being subscribers and donors.

***

The Sunday Times

It is no exaggeration, we believe, to say that the CHAND occupies a foremost place among the journals published in this country.

***

विद्याविनोद-ग्रन्थमाला

के

ग्राहक बनिए !

इस ग्रन्थमाला का उद्देश्य सामाजिक जीवन में क्रान्ति पैदा कर देना, स्त्रियों के स्वत्वों के लिए अन्यायी समाज से झगड़ना और स्त्रियों के हित की बातें उन्हें बतलाना है। इन्हीं सब बातों को सामने रख कर इसमें बराबर नई-नई और उत्तमोत्तम पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। यही कारण है कि इसके स्थायी-ग्राहक टक-टकी लगाए हमारी नई पुस्तकों की राह देखा करते हैं। आप भी इस ग्रन्थमाला के स्थायी-ग्राहक बन कर उसके लाभ देख लीजिए।

नियमावली

१—आठ आने 'प्रवेश-फ़ीस' देने से कोई भी स्थायी-ग्राहक बन सकता है। वह 'प्रवेश फ़ीस' एक साल के बाद, यदि मेम्बर न रहना चाहे, तो वापिस भी कर दी जाती है।

२—स्थायी-ग्राहकों को हमारे कार्यालय की प्रकाशित कुल पुस्तकें पौनी क़ीमत में दी जाती हैं।

३—ग्राहक बनने के समय के पहले प्रकाशित हुए ग्रन्थों का

लेना ग्राहकों की इच्छा पर निर्भर है; परन्तु आगे निकलने वाले ग्रन्थ उन्हें लेने पड़ते हैं।

४—वर्ष भर में कम से कम बारह रुपयों के मूल्य के (कमीशन काट कर) नवीन ग्रन्थ प्रत्येक स्थायी-ग्राहक को लेने पड़ते हैं। बारह रुपये से अधिक मूल्य की पुस्तकें, यदि एक वर्ष में निकलें तो १२) रुपए की किताबें लेकर शेष ग्रन्थों के लेने से ग्राहक, यदि वे चाहें तो, इन्कार कर सकते हैं।

५—किसी उचित कारण के बिना, यदि किसी पुस्तक की वी० पी० वापिस आती है, तो उसका डाक-ख़र्च आदि ग्राहक को देना पड़ता है। वी० पी० वापिस करने वालों का नाम ग्राहक-श्रेणी से अलग कर दिया जाता है।

६—'प्रवेश-फ़ीस' के आठ आने पेशगी मनीऑर्डर से भेजना चाहिए।

७—स्थायी-ग्राहक पुस्तकों की चाहे जितनी प्रतियाँ, चाहे जितनी बार, पौनी क़ीमत में मँगा सकते हैं।

८—स्थायी-ग्राहकों को अपनी पुस्तकों के अलावा सभी हिन्दी-पुस्तकों पर, जो हमारे यहाँ विक्रयार्थ प्रस्तुत रहती हैं, एक आना फ़ी रुपया कमीशन भी दिया जाता है।

पत्र-व्यवहार करने का पता :—

व्यवस्थापिका—

'चाँद' कार्यालय, २८ एल्गिन रोड, इलाहाबाद

विद्याविनोद-ग्रन्थमाला की विख्यात पुस्तकें

सन्तान-शास्त्र

[ले० विद्यावाचस्पति पं० गणेशदत्त जी गौड़ "इन्द्र"]

भूमिका-लेखक—

श्री० चतुरसेन जी शास्त्री

इस महत्वपूर्ण पुस्तक में बालपन से लेकर युवावस्था तक, अर्थात् ब्रह्मचर्य से लेकर काम-विज्ञान की उच्च से उच्च शिक्षा दी गई है। प्रत्येक गुह्य बात पर भरपूर प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक प्रकार के गुप्त रोग का भी सविस्तार विवेचन किया गया है। रोग और उसके निदान के अलावा प्रत्येक रोग की सैकड़ों परीक्षित दवाइयों के नुसख़े भी दिए गए हैं।
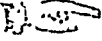
जो माता-पिता मनचाही सन्तान उत्पन्न करना चाहते हैं, उनके लिए हिन्दी में इससे अच्छी पुस्तक न मिलेगी। काम-विज्ञान जैसे गहन विषय पर यह हिन्दी में पहली पुस्तक है, जो इतनी कठिन छान-बीन करने के बाद लिखी गई है। सन्तान-वृद्धि-निग्रह का भी सविस्तार विवेचन किया गया है। किन-किन उपायों को काम में लाया जा सकता है, इस विषय पर भरपूर प्रकाश डाला गया है। पुस्तक सचित्र है—९ तिरङ्गे और २९ सादे चित्र भी आर्टपेपर पर दिए गए हैं। छपाई-सफ़ाई 'चाँद' के निजी प्रेस (दी फ़ाइन आर्ट प्रिन्टिङ्ग कॉटेज) में हुई है, इसलिए इसकी प्रशंसा करना व्यर्थ है। पुस्तक समस्त कपड़े की जिल्द से मण्डित तथा स्वर्ण-अक्षरों से अङ्कित है, ऊपर एक तिरङ्गे चित्र-सहित Protecting Cover भी दिया गया है। इतना होते हुए भी प्रचार की दृष्टि से मूल्य

५) रु० से घटाकर ४) रु० रक्खा गया है। फिर भी स्थायी-ग्राहकों को पुस्तक केवल ३) रु० में ही मिलेगी।

जो लोग झूठे कोकशास्त्रों से धोखा उठा चुके हैं, प्रस्तुत पुस्तक देखकर उनकी आँखें खुल जायँगी। शीघ्र ही इस सुन्दर पस्तक की एक प्रति लीजिए, नहीं तो पछताना पड़ेगा।

केवल विवाहित स्त्री-पुरुष ही इस पुस्तक को मँगावें

उपयोगी चिकित्सा

[ले० प्रोफ़ेसर कविराज पण्डित धर्मानन्द जी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य]

इस महत्वपूर्ण पुस्तक की एक-एक प्रति प्रत्येक सद्गृहस्थ के यहाँ होनी चाहिए। इस पुस्तक को आद्योपान्त एक बार पढ़ लेने से फिर आपको डॉक्टरों की खुशामदें न करनी होंगी—आपके घर के पास तक बीमारियाँ न फटक सकेंगी। इस पुस्तक में लगभग सभी रोगों की उत्पत्ति का कारण, उसकी पूरी व्याख्या, उससे बचने के उपाय तथा उसके इलाज दिए गए हैं। रोगी की परिचर्या किस प्रकार करनी चाहिए, इसकी भी भरपूर व्याख्या आपको मिलेगी। पुस्तक की भाषा इतनी सरल है कि ज़रा सा बच्चा भी आसानी से समझ सकता है। स्त्रियों के लिए तो यह पुस्तक वास्तव में बड़े काम की है। पृष्ठ-संख्या लगभग २२५; सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल १॥) रु०; स्थायी-ग्राहकों के लिए १=)

व्यवस्थापिका 'चाँद' कार्यालय, इलाहाबाद

विद्याविनोद-ग्रन्थमाला की विख्यात पुस्तकें

जननी-जीवन

स्त्रियों के लिए अनमोल पुस्तक

पुस्तक की उपयोगिता नाम ही से प्रकट है। इसके सुयोग्य लेखक ने यह पुस्तक लिख कर महिला-जाति के साथ जो उपकार किया है, वह भारतीय महिलाएँ सदा स्मरण रक्खेंगी। घर-गृहस्थी से सम्बन्ध रखने वाली प्रायः प्रत्येक बातों का वर्णन, पति-पत्नी के संवाद रूप में किया गया है। लेखक की इस दूरदर्शिता से पुस्तक इतनी रोचक हो गई है कि इसे एक बार उठा कर छोड़ने की इच्छा नहीं होती। पुस्तक पढ़ने से "गागर में सागर" वाली लोकोक्ति का परिचय मिलता है। इस छोटी सी पुस्तक में कुल २० अध्याय हैं, जिनके शीर्षक ये हैं :—

(१) अच्छी माता; (२) आलस्य और विलासिता; (३) परिश्रम; (४) प्रसूतिका स्त्री का भोजन; (५) आमोद-प्रमोद; (६) माता और धाय; (७) बच्चों को दूध पिलाना; (८) दूध छुड़ाना; (९) गर्भवती या भावी माता; (१०) दूध के विषय में माता की सावधानी; (११) बच्चों के मल-मूत्र के विषय में; (१२) बच्चों की नींद के विषय में माता की जानकारी; (१३) शिशु-पालन; (१४) पुत्र और कन्या के साथ माता का सम्बन्ध; (१५) माता का स्नेह; (१६) माता का सांसारिक ज्ञान; (१७) आदर्श माता; (१८) सन्तान को माता का शिक्षा-दान; (१९) माता की सेवा-सुश्रूषा और (२०) माता की पूजा !!

इस छोटी सी सूची को देख कर ही आप पुस्तक की उपादेयता का

विद्याविनोद-ग्रन्थमाला की विख्यात पुस्तकें

मङ्गल-प्रभात

[ले० स्वर्गीय चण्डीप्रसाद जी, बी० ए०, 'हृदयेश']

इस सुन्दर उपन्यास में मानव-हृदय की रङ्गभूमि पर वासना के नृत्य का दृश्य दिखलाया गया है। सामाजिक अत्याचार और बेमेल विवाह का भयङ्कर परिणाम पढ़ कर जहाँ हृदय काँप उठता है, वहाँ विशुद्ध प्रेम, प्रतुल सहानुभूति और समाज की हित-कामना इत्यादि के सुन्दर दृश्यों को देख कर हृदय में एक अनिर्वचनीय शान्ति का स्रोत बहने लगता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत उपन्यास में इस विश्व की रङ्गभूमि पर अभिनीत होने वाले पाप और पुण्य के कृत्यों का बड़ा ही मधुर-सुन्दर विवेचन किया गया है।

छपाई-सफ़ाई बहुत सुन्दर है, साथ ही मनोहर सुनहरी समस्त कपड़े की जिल्द से भी पुस्तक अलङ्कृत की गई है। पृष्ठ-संख्या लगभग ८००; काग़ज़ ४० पाउण्ड एन्टिक, मूल्य ५) मात्र। स्थायी-ग्राहकों के लिए ३॥।) रु०।

❋

मालिक-मन्दिर

[ले० श्री० मदारीलाल जी गुप्त]

इस पुस्तक की भूमिका में श्री० प्रेमचन्द जी लिखते हैं :—
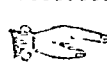
"उपन्यास का सबसे बड़ा गुण उसकी मनोरञ्जकता है। इस लिहाज़ से श्री० मदारीलाल जी गुप्त को अच्छी सफलता प्राप्त हुई है। पुस्तक

☞ व्यवस्थापिका 'चाँद' कार्यालय, इलाहाबाद

आदि से अन्त तक पढ़ जाइए, कहीं आपका जी न ऊबेगा। पुस्तक की रचना-शैली सुन्दर है। पात्रों के मुख से वहीं बातें निकलती हैं, जो यथावसर निकलनी चाहिए; न कम, न ज़्यादा। उपन्यास में वर्णनात्मक भाग जितना ही कम और वार्ता-भाग जितना ही अधिक होगा, उतनी ही कथा रोचक और ग्राहिका होगी। 'मानिक-मन्दिर' में इस बात का काफ़ी लिहाज़ रक्खा गया है। वर्णनात्मक भाग जितना है, उसकी भाषा भी इतनी भावपूर्ण है कि पढ़ने में आनन्द आता है। कहीं-कहीं तो आपके भाव बहुत गहरे हो गए हैं और दिल पर चोट करते हैं। चरित्रों में मेरे विचार में सोना का चित्रण बहुत ही स्वाभाविक हुआ है और देवी का सर्वाङ्ग सुन्दर। सोना अगर पतिता के मनोभावों का चित्र है, तो देवी सती के भावों की मूर्ति। पुरुषों में ओङ्कार का चरित्र बड़ा सुन्दर और सजीव है। विषय-वासना के भक्त कैसे चञ्चल, अस्थिर-चित्त और कितने मधुरभाषी होते हैं, ओङ्कार इसका जीता-जागता उदाहरण है। उसे अपनी पत्नी से प्रेम है, सोना से प्रेम है, कुमारी से प्रेम है, और चन्दा से प्रेम है। जिस वक़्त जिसे सामने देखता है, उसी के मोह में फँस जाता है। ओङ्कार ही पुस्तक की जान है। कथा में कई सीन बहुत मर्मस्पर्शी हुए हैं। 'सोना के मिट्टी' हो जाने का, और ओङ्कार के सोना के कमरे में आने का वर्णन बड़ी ही सनसनी पैदा करने वाले हैं इत्यादि।"

इसी से आप पुस्तक की उत्तमता का अनुमान लगा सकते हैं। छपाई-सफ़ाई प्रशंसनीय, पृष्ठ-संख्या लगभग ३५०, समस्त कपड़े की सुन्दर सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल २) रु० ! स्थायी-ग्राहकों से १॥) रु० !

विद्याविनोद-ग्रन्थमाला की विख्यात पुस्तकें

वनमाला

[ले० स्वर्गीय चण्डीप्रसाद जी, बी० ए० 'हृदयेश']

इस पुस्तक की उपयोगिता और सरसता को आप लेखक के नाम ही से मालूम कर सकते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'हृदयेश' जी ने अपनी लेखन-शैली द्वारा हिन्दी-संसार को चकित कर दिया है और कई बार वे स्वर्ण-पदक भी प्राप्त कर चुके हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में 'हृदयेश' जी की लिखी हुई 'चाँद' में प्रकाशित सभी गल्पों का संग्रह किया गया है। इन गल्पों द्वारा सामाजिक अत्याचारों तथा कुरीतियों का हृदय-विदारक दिग्दर्शन कराया गया है; और इस विश्व के रङ्ग-मञ्च पर होने वाले पाप और पुण्यमय कृत्यों का मधुर और सुन्दर विवेचन किया गया है। जिन सज्जनों ने 'हृदयेश' जी के उपन्यासों और गल्पों को पढ़ा है, उनसे हमारी प्रार्थना है कि इन छोटी, परन्तु सारगर्भित एवं सरल भाषायुक्त गल्पों को भी पढ़ कर अवश्य लाभ उठावें। पुस्तक के अन्त में २ छोटे-छोटे रूपक (नाटक) भी दिए गए हैं।

पुस्तक की छपाई-सफ़ाई अत्यन्त सुन्दर और पृष्ठ-संख्या लगभग २५० है। सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल ३) रुपए; स्थायी-ग्राहकों के लिए २।) रु० मात्र!